ANANTHACHARYA RESEARCH INSTITUTE SERIES

No. II
DIVYASŪRI CARITAM

General Editor:
K. K. A. VENKATACHARI, Ph.D.

ANANTHACHARYA RESEARCH INSTITUTE SERIES

No. II

DIVYASŪRI CARITAM

General Editor :

K. K. A. VENKATACHARI, Ph.D.

DIVYASŪRI CARITAM

By

GARUḌA VĀHANA PAṆḌITA

with Hindi rendering

By

PAṆḌITA MĀDHAVĀCHARYA

Edited by :

T. A. SAMPATH KUMARACHARYA, M.A.

K. K. A. VENKATACHARI, Ph.D.

ANANTHACHARYA RESEARCH INSTITUTE
G. D. Somani Memorial School Building
Cuffe Parade, Colaba
BOMBAY 400 005

PRINTED IN INDIA
AT HOE & CO., THE "PREMIER" PRESS, MADRAS-600 001

कविवैद्यपुरन्दर श्रीगरुडवाहनपण्डितेन

प्रणीतं महाकाव्यं

श्रीदिव्यसूरिचरितम्

तदिदं

पंडित माधवाचार्यकृत हिन्दीभाषान्तर सहितं

ति. अ. संपत्कुमाराचार्य

को. क. अ. वेङ्कटाचार्याभ्यां

परिष्कृतम्

अनन्ताचार्य रिसर्च इन्स्टीट्यूट

गजाधर सोमानी मिमोरियल बिल्डिंग

कफ परेड, बम्बई - ४०० ००५

PREFACE

The Divyasūri Caritam of Garuḍavāhana Paṇḍita with Hindi Translation, now presented to the public for the first time in Devanagari Script, is undoubtedly one of the most important works for the historical study of Śrī Vaiṣṇavism. The Divyasūri Caritam is a book on the life of Śrī Vaiṣṇava Aḷvār's and Ācārya's. The author closely follows the style of Raghuvamśa of Kālidāsa. The wide variety of descriptions and other important aspects of Mahākāvya are found in this work.

Jagadguru Ananthāchārya Swami planned to publish this Divyasūri Caritam with Hindi rendering written by Mādhavācārya. He printed up to 16th sarga but he was not able to complete the work in his life time, for reasons known to him. Now we are fulfilling his ambition and presenting this volume not only for Śrī Vaiṣṇavas but for the entire Śanskrit world. Though there were two editions of this work, both of them are in Telegu Script (one from Mysore in 1883 another from Kancheepuram in 1953). I hope this Devanagari edition which we are presenting to Sanskritist all over the world will be good addition to the Sanskrit literature.

The date of the Divyasūri Caritam is not certainly fixed. Traditionally it has been thought that the author was a contemporary of Rāmānuja, because the work contains a reference to Rāmānuja which suggests he is still alive. Prof. B. V. Ramanujam, however, dates the work in the late 15th or early 16th century; he bases this date on the 19th Sarga, which he considers original, contrary to the traditional view. The reader may wish to consider Prof. Ramanujam's arguments, which seem decesive to the general editor; if so, they may be found in ' History of Vaishnavism in South India upto Ramanuja. Annamalai University, Annamalainagar, Tamilnadu, India—1973, p.p. 13 to 44.

I would like to record my sincere thanks to all those who helped in printing this edition. Sri T. A. Sampat Kumaracharya, M.A. of Kancheepuram has taken the responsibility for reading and correcting the proofs.

Dr. Kanta Varadarajan provided help in the initial stages. Sri Y. S. Shastri, Senior Lecturer in the Dept. of Philosophy of the Institute prepared the index and table of contents, etc. Sri J. M. Francis of Madras supervised the actual printing. The authorities of the Government Oriental Manuscript Library, Madras, kindly allowed us to use their facilities. My sincere thanks to Mr. V. Sethuram and his staff of Messrs. Hoe & Co., for their usual fine work in printing. I gratefully thank the authorities of Ananthacharya Research Institute for generously accepting the cost of this publication.

Bombay-5 | K. K. A. VENKATACHARI
15th March, 1978. | *Founder Director*

विषयानुक्रमणिका

सर्गः	विषयः	श्लोकसंख्या
एकादशस्सर्गः	अनुग्रहया गोदायै भगवद्दत्ताङ्गुलीयकप्रदानम्	६०–६१
द्वादशस्सर्गः	श्रीगोदायाः स्वयंवरवर्णनम्	१–१२०
त्रयोदशस्सर्गः	कुरुकापुरीस्त्रीणां श्रीरंगनाथदर्शनसम्भ्रम-वर्णनम्	१–२०
,,	श्रीगोदारङ्गनाथयोः विवाहविधिवर्णनम्	२१–३५
,,	विवाहे उपस्थितानां ब्रह्मादीनां सत्काराज्ञा	३६
,,	श्रीरङ्गनाथेन गोदापितृवर्गाय कन्याशुल्करूपेण मुक्तिप्रदानम्	३७
,,	श्रीरङ्गनाथेन गोदया सह गन्धर्वपर्यङ्कशयनम्	३८
,,	प्रतस्तवनैः शठकोपमुख्यैः श्रीरङ्गनाथस्य प्राबोधनम्	३९–६३
,,	गोदया सह श्रीरङ्गनाथेन रङ्गधामगमनम्	६४–६७
,,	श्रीरङ्गनाथेन गोदां प्रति मार्गवर्णनम्	६८–८०
,,	कावेरीप्रभाववर्णनम्	८१–८६
,,	गोदायै परकालसूरिप्रभावकथनम्	८७–९०
,,	परकालेन भगवदाभरणहरणं, भगवत्स्वरूप-दर्शनं च	९१–१०९
,,	भगवत्स्वरूपदर्शनात् हृष्टेन परकालेन कृतस्तुति-ग्रन्थानां वर्णनम्	११०–१२०
,,	श्रीरङ्गनाथस्य रङ्गपुरीगमनम्	१२१–१२२
चतुर्दशस्सर्गः	श्रीवेङ्कटेशसेवनेच्छुकेन परकालेन ससैन्यं वेङ्कटाद्रिगमनम्	१–३
,,	वृद्धब्राह्मणरूपेण श्रीरङ्गनाथेन बुभुक्षापीडित-परकालसेनायाः अन्नदानम्	४–१०
,,	ब्राह्मणपरकालयोः संवादः	११–१३
,,	भगवतः अन्तर्धानं, परकालस्य तत्वज्ञानम्	१४–१६
,,	परकालेन वेङ्कटाद्रिदर्शनम्	१७–२२
,,	परकालस्य रङ्गनगरागमनं, रङ्गनाथदर्शनं च	२३–२४

श्रीः

श्रीमते भगवते हयग्रीवाय नमः ।

श्रीदिव्यसूरिचरितम्

प्रथमः सर्गः

प्रभार्काविव सम्पृक्तौ भवभीतिनिवृत्तये ।
रक्षितारौ त्रिजगतां लक्ष्मीनारायणौ भजे ॥ १ ॥

संसार के भय की निवृत्ति अर्थात् मिटाने के लिए सूर्य और प्रभा के समान परस्पर मिले हुए तीनों लोकों की रक्षा करनेवाले लक्ष्मी और नारायण दोनों को मैं भजता हूं ॥ १ ॥

क्व दिव्यसूरिचरितं क्वच मे मन्दशेमुषी ।
नियन्तुकामोऽस्मि गजं साहसाद्बिसतन्तुना ॥ २ ॥

कहां तो दिव्यसूरियों के चरित्र और कहां मेरी मन्दबुद्धि! मैं अपने साहस से कमल के तन्तुओं के द्वारा हाथी को बांध देना चाहता हूं। आशय यह कि दिव्यसूरिचरित्र कहने का मेरा साहस करना ऐसा ही है जैसा कमल के धागे से हाथी बांधने का साहस करना ॥ २ ॥

प्राचां प्रशस्तिं प्राज्ञानां प्रार्थये प्राकृताग्रणीः ।
पिपासोरगमाग्रस्थं क्षौद्रं पङ्गोस्समोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥

यद्यपि मैं साधारण अतिक्षुद्र प्राणी हूं तो भी पुरातन प्राज्ञों की प्रशंसा करने की इच्छा करता हूं, अतएव इस विषय में मैं वृक्ष की सब से ऊंची डाल पर लगे हुए मधु के प्यासे पंगु के समान हूं। तात्पर्य यह कि जैसे किसी पंगु के लिए पेड की ऊंची डाल पर लगे हुए मधु को पाने की इच्छा करना दुस्साहस है वैसे ही श्रीदिव्यसूरिचरित्र को कहने का साहस करना भी मेरे लिए दुस्साहस है ॥ ३ ॥

पूर्वाचार्यादृतं वृत्तं सूरिणामाद्रियेऽप्यहम् ।
द्युमणिद्योतिताऽपि द्यौः खद्योतेनापि भासते ।। ४ ।।

मैं भी तो पूर्वाचार्यों से आदर किये गये दिव्यसूरियों के चरित्रों का आदर करता हूं, क्योंकि सूर्य से प्रकाशित हुआ भी आकाश समयान्तर में खद्योत अर्थात् जुगनू से भी प्रकाशित होता ही है। आशय यह कि पूर्वाचार्यों ने अपने अपने समय में दिव्यसूरियों के चरित्रों पर प्रकाश डाला है, अब मैं भी उन चरित्रों पर प्रकारान्तर से प्रकाश डालता हूं ।।४।।

प्राचीनवाचां विषयं चरितं वर्णयाम्यहम् ।
गजेन प्रस्थिते मार्गे किं न याति पिपीलिका ।। ५ ।।

प्राचीनों की वाणियों के विषय चरित्र का मैं वर्णन करता हूं । क्या हाथी के चले हुए पथ पर चींटी नहीं जाती? तात्पर्य यह कि प्राचीनों की योग्यता के सामने चींटी की सी योग्यता रखनेवाला मैं भी उनके चले हुए मार्ग से उसी प्रकार चला जाऊंगा, जैसे चींटी हाथी की सडक पर आनन्द के साथ चली जाती है ।। ५ ।।

दोषाश्लिष्टाऽपि मे सूक्तिर्विद्वद्भ्यो रोचते भृशम् ।
चन्द्रिकेव चकोरेभ्यस्सर्वाशान्तरचारिणी ।। ६ ।।

दोषों से भरी हुई भी मेरी सूक्ति अर्थात् अच्छी बात विद्वानों को वैसी ही अतिशय भली मालूम होगी जैसे चकोरों को सब दिशाओं में विचरनेवाली यानी छायी हुई चांदनी प्यारी लगती है । यहां 'दोष' शब्द श्लेषार्थक है यानी इसके दो अर्थ हैं—(१) दूषण और (२) रात्रि । सूक्ति यानी बात के पक्ष में तो दूषण और चंद्रिका के पक्ष में रात्रि ।। ६ ।।

सतां भवतु मे वाणी चपलाऽपि मुदे परम् ।
शिशोरव्यक्तवचनं गुरुभ्यः किं न रोचते ।। ७ ।।

मेरी चपल वाणी भी, सज्जनों की परम प्रसन्नता के लिए ही होगी। दुधमुंह बच्चे की तोतली बोली उसके बडों के लिए क्या प्यारी नहीं होती? क्या वह उससे आनन्दित नहीं होते? तात्पर्य यह कि

सज्जन लोग मेरे इस वर्णन से उसी तरह प्रसन्न होंगे जिस तरह दुधमुँहें बच्चे की तोतली बोली से उसके माता-पिता प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥

श्रीशसङ्कल्पपात्राणां जगद्रक्षाकरात्मनाम् ।
भक्तिप्रपत्त्योरुद्रेकैस्समुद्रीकृतचेतसाम् ॥ ८ ॥

संसारसागरोत्तारयानपात्रितसद्गिराम् ।
अमन्दानन्दसन्दोहनिरन्तरितचेतसाम् ॥ ९ ॥

संसारिमृगबन्धार्थे दीपिकानां मुरद्विषः ।
रागादिदोषरिक्तनां शीलादिगुणशालिनाम् ॥ १० ॥

भगवद्ध्याननिष्ठानां शुकवच्छुद्धयोगिनाम् ।
त्रय्यन्तनिष्णातधियां वैकुण्ठनगरैषिणाम् ॥ ११ ॥

सरोमुखानां भक्तानां लक्ष्मणार्यावसायिनाम् ।
अवतारापदानादीन् वक्ष्येहं विदितं यथा ॥ १२ ॥

८ वें श्लोक से १२ वें श्लोक तक एक ही अन्वय के श्लोक हैं। इन में ८ वें से ११ वें तक उन दिव्यसूरियों के विशेषणपरक हैं जिनके अवतार चरित्र कहने की ग्रन्थकार १२ वें श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं। इसलिए यहां पहले १२ वें का अर्थ करके पीछे ८ से ११ तक के अर्थ क्रमशः किये जाते हैं—

श्रीसरोयोगी से लेकर भगवान् श्रीरामानुजार्य महाराज पर्यन्त जो भक्तजन या दिव्यसूरि हुए हैं उनके अवतारादि चरित्र जैसा मुझे विदित है, कहूंगा। ये दिव्यसूरि श्रीलक्ष्मीपति भगवान् के संकल्पपात्र थे, अर्थात् भगवान के संकल्पानुसार कार्य करनेवाले थे। जगत् की रक्षा करने में ही जिनका मन लगा रहता था और लगा रहता है एवं भक्ति और शरणागति के उद्रेकों से जिनके हृदय समुद्र की भांति उमडते रहते हैं। जिनकी सुन्दर अर्थात् दिव्यवाणी संसार सागर से पार होने के लिए नौका के समान हैं। जिनके चित्त निरन्तर अमन्द अर्थात् कभी मन्द न

होनेवाले आनन्द के आगार हैं अर्थात् उनके चित्त में सदा आनन्द की लहरें उठा करती हैं, जो संसारी जीवरूप मृगों को फंसाने के लिए मुरारि भगवान् के जाल के सदृश हैं, जो रागादि दोषों से रहित और शीलादि गुणशाली हैं, जिसकी निष्ठा भगवान् के ही ध्यान में लगी रहती है। जो श्रीशुकदेवमुनि की तरह शुद्ध योगी थे अर्थात् जन्म से ही योगी थे, किसीके उपदेश से योगी न हुए थे, जिनकी बुद्धि वेदान्तज्ञान में बडी पक्की है और जो वैकुण्ठ नगर की ही इच्छा रखनेवाले हैं ॥ ८–१२ ॥

शृण्वन्तु सात्विकोत्तंसाः सूक्तिं सूरिषु वांछया ।
पयोभिलाषात् पात्रं हि परिगृह्णन्ति सज्जनाः ॥ १३ ॥

सात्विक सज्जन लोग हमारी इस सूक्ति को दिव्यसूरियों में उनकी जो श्रद्धा है उसके कारण सुनें, क्योंकि दूध की जिन्हें इच्छा है वे दूध के पात्र को भी उसी इच्छा के कारण ग्रहण करते हैं ॥ १३ ॥

अस्ति प्रशस्तमहिमा वैकुण्ठोऽकुण्ठवैभवः ।
लोको लोकोपकारार्थो नाकौकोभिर्नमस्कृतः ॥ १४ ॥

जिसकी महिमा बडी ही प्रशंसनीय है, जिसका वैभव कभी घटता नहीं, जिसका उद्देश्य जीवों का उपकार करना है और जिसको स्वर्ग-निवासी देवता लोग भी नमस्कार करते हैं, ऐसा एक वैकुण्ठ लोक है ॥ १४ ॥

वाय्वादिभूताहङ्कारमहदव्यक्तरूपतः ।
यस्सप्तावरणीतस्तु परस्तात् प्रकृतेरपि ॥ १५ ॥

सब लोक सप्तावरण के भीतर हैं, पर यह वैकुण्ठ लोक तो पृथ्वी, पानी, तेज, वायु, आकाश तथा अहङ्कार महत्तत्व, और अव्यक्त रूप इन सातों आवरणों से एवं प्रकृति से भी परे हैं ॥ १५ ॥

यमूचुर्निगमा नित्यं परमव्योमनामकम् ।
स्वयम्भुशम्भुमुख्यानामवाङ्मनसगोचरम् ॥ १६ ॥

इस वैकुण्ठ लोक को वेद नित्य कहते हैं तथा परम व्योम नाम से इसका निर्देश करते हैं। ब्रह्मा और महादेव आदि के लिए तो यह मन और वाणी से परे हैं ॥ १६ ॥

मुकुन्दवाच्यत्वमगाद्यन देवश्चिरन्तनः ।
विलुप्तपुनरावृत्तिमार्गः पादत्रयात्मकः ॥ १७ ॥

यदन्ते दिव्यतटिनी विरजा नाम विश्रुता ।
संसारदावदग्धानां जीवानां तापहारिणी ॥ १८ ॥

जिस वैकुण्ठ के कारण ही पुराणपुरुषोत्तम भगवान का नाम मुकुन्द पडा है, इस वैकुण्ठ लोक का ऐसा मार्ग है जिससे चलकर फिर लौटना नहीं होता जो संसार मंडल से (लीलाविभूति से) तीनगुन बडा है और जिस वैकुण्ठ के पास ही संसाररूपी दावाग्नि से दग्ध यानी संतप्त जीवों के ताप को हरनेवाली विरजा नाम से विश्रुत अर्थात् प्रसिद्ध दिव्य नदी है ॥ १७,१८ ॥

करुणैव द्रवीभूय कमलाक्षस्य केवलम् ।
विरजापरसंज्ञा या वासनापांसुहारिणी ॥ १९ ॥

कमलनयन नारायण भगवान की करुणा ने ही पिघलकर दूसरा विरजा नाम धारण कर लिया है जो अपने में स्नान करनेवाले पुरुषों के वासनारूप रज को धो देनेवाली है ॥ १९ ॥

मुक्ताश्रितातिशिशिरा हंसैश्च परमैर्वृता ।
सज्जीवना ससत्वा या मूर्त्तेव मुरजिद्दया ॥ २० ॥

जो विरजा नदी मुरारि भगवान की मूर्तिमती दया की भांति मुक्ताश्रिता, अत्यन्त शीतल, परमहंसों से आवृत (घिरी हुई) सज्जीवन और ससत्व है। इस श्लोक में व्यवहृत मुक्ता, हंस, सज्जीवन और सत्व ये द्व्यर्थक शब्द हैं जिनके अर्थ भगवान की दया और नदी दोनों पक्षों में लगेंगे। जैसे नदी के आश्रित मुक्ताएं (मोतियां) रहती हैं, वैसे ही यहां भगवद्दयारूपी विरजा नदी के आश्रित मुक्तपुरुष रहते हैं। जैसे नदी को हंसपक्षी घेरे रहते हैं, वैसे ही श्रीमुकुन्द भगवान की

दया की मूर्ति विरजा नदी को परमहंस योगी सन्त घेरे रहते हैं। जैसे नदी सज्जीवन यानी जलवाली होती है वैसे ही यह भी सत्पुरुषों को जीवनदान देनेवाली है। जैसे नदी में जीवजन्तु रहते हैं, वैसे ही इसमें भी सत्वगुणवाले लोग रहते हैं ॥ २० ॥

यातनातनुमह्नाय चेतनानां निमज्जताम् ।
हृत्वा सवासनां दत्ते पञ्चोपनिषदाकृतिम् ॥ २१ ॥

यह विरजा नदी स्नान करनेवाले जीवों की वासना के साथ यातनादेह छुडाकर उन्हें पञ्चोपनिषन्मय आकार दे देती है ॥ २१ ॥

आवर्तनाभिसुभगा कोकस्तनविराजिता ।
मृणालहारा पद्माक्षी मुक्तिश्रीरिव भाति या ॥ २२ ॥

जो विरजा नदी मोक्षलक्ष्मी की भांति चमक रही है, जिसके भँवर नाभि के सदृश सुन्दर मालूम पडते हैं, जिसमें उत्पन्न कमल के मुकुल (कलियां) स्तनस्वरूप शोभ रहे हैं और कमल की नाल ही जिसके हारस्थानीय हैं, कमल पुष्प ही नेत्र हैं ॥ २२ ॥

यत्रारामेषु भगवत्प्रीतये तरुरूपिणः ।
छायापुष्पफलैर्मुक्तानुपकुर्वन्ति सूरयः ॥ २३ ॥

जहां अर्थात् जिस वैकुण्ठ के उपवनों में, तरुरूप धारण किये हुए सूरिलोग, पुरुषोत्तम भगवान की प्रसन्नता के लिए अपनी छाया, पुष्प औंर फलों से मुक्तजीवों की सेवा करते हैं ॥ २३ ॥

दिव्यमैरम्मदीयाख्यं सरो राजत्यनुत्तमम् ।
यत्र काञ्चनकल्हारकमलोत्पलमण्डितम् ॥ २४ ॥

जहां ऐरम्मद नाम का दिव्य उत्तम सर शोभ रहा है जिसकी शोभा काञ्चनमय कल्हार, कमल और नीलोत्पल बढा रहे हैं ॥ २४ ॥

यत्तीरेऽश्वत्थतल्पीयां छायामाश्रित्य शीतलाम् ।
रमन्तेऽप्सरसः पञ्चशतान्यद्भुतविग्रहाः ॥ २५ ॥

जिस सर के किनारे अद्भुतरूपवाली पांच सौ अप्सराएं, किनारे के अश्वत्थ की शीतल छाया का आश्रय लेकर निर्द्वन्द विहार करती हैं ॥२५॥

भूषाचूर्णाञ्जनक्षौममालाभिर्विलसत्कराः ।
लब्धदिव्याकृतीन्मुक्तानलङ्कुर्वन्ति यत्र ताः ॥ २६ ॥

(जहां सौ सौ के वृत्त वांधे हुए) :भूषण, सुगन्धि - चूर्ण, अंजन, पट्टवस्त्र और माला से सुशोभित हाथोंवाली ये अप्सराएं (अपने अपने टोल के क्रम से अपने उक्त पांचों पदार्थों से) जहाँ दिव्याकारवाले मुक्तों को अलंकृत करने लग जाती हैं। (इनमें पहिले सौंओं का टोल एक द्रव्य से तो दूसरा दूसरे द्रव्य से अलंकृत करता है।) ॥ २६ ॥

अर्चिरादिभिरध्वानमतिवाह्यातिवाहिकैः ।
यत्र वास्तव्यतां यान्ति भक्तवर्गाः परश्शतम् ॥ २७ ॥

आर्चिरादि अतिवाहिकों द्वारा मार्ग को पार करके सैकडों भक्तसमुदाय जिस वैकुण्ठ में वस गये हैं ॥ २७ ॥

अमानवकरस्पर्शविमानितभवार्तयः ।
मुक्ता यत्रावलम्बन्ते दिव्यमङ्गलविग्रहान् ॥ २८ ॥

अमानव पुरुष के हाथ के स्पर्शमात्र से ही मुक्तजीव भव के दुःखों से छूटकर जहां पर दिव्यमङ्गलमय देह पा जाते हैं ॥ २८ ॥

यत्रोद्यानेषु दिव्येषु सूरिभिश्शुककोकिलैः ।
उद्घुष्यते परं ब्रह्म प्राप्यं नान्यत्सतामिति ॥ २९ ॥

जहां के दिव्य बगीचों में तोता और कोयल बने हुए सूरिजनपक्षियों की सी ध्वनि में ऊंचे स्वर से घोषणा कर रहे हैं कि सज्जनों को परब्रह्म को छोड दूसरा कोई प्राप्य नहीं है अर्थात् परब्रह्म ही प्राप्य पदार्थ है, अन्य नहीं ॥ २९ ॥

यत्राचरन्ति मन्दारमञ्जरीरसपायिनः ।
षट्पदास्सत्पदारूढाः षट्पदावृत्तिझंक्रियाः ॥ ३० ॥

जहां मन्दार वृक्ष की मञ्जरी के रस को पीनेवाले सूरि पद को पाये हुए जीव, भौरा बनकर छ:पदोंवाले मन्त्र का जपरूप झङ्कार करते हैं ।। ३० ।।

माकन्दवनवाटीषु गोविन्दगुणघोषितैः ।
शारिकाः श्रवणातिथ्यं मुक्तानां यत्र तन्वते ।। ३१ ।।

जहां मैनाएं अत्यन्त मीठे आमों की वनवाटिकाओं में गोविन्द भगवान् के गुणगान की ध्वनि से, मुक्तों के कानों का आतिथ्यसत्कार कर रही हैं ।। ३१ ।।

तत्र तेजोमयी काचिन्नगरी शाश्वताकृतिः ।
शंसन्ति सन्तस्सार्थां यामयोध्यामपराजिताम् ।। ३२ ।।

वहाँ सनातन आकारवाली तेजोमयी एक नगरी है, सन्त लोग इस पुरी को इसके अन्वर्थक नाम से अयोध्या कहते हैं, क्योंकि इसे कोई जीत नहीं सकता, अर्थात् साधनान्तरों से कोई भी इसको प्राप्त नहीं कर सकता ।। ३२ ।।

भक्तिप्रतिभुवं सन्तः प्रपत्तिप्रतिगेहिनीम् ।
व्यक्तिप्रदायिनीं बुद्धेर्मुक्तिक्षेत्रं प्रचक्षते ।। ३३ ।।

इस पुरी को सन्त लोग भक्ति की प्रतिफल, प्रपत्ति की प्रतिगेहिनी अर्थात् पास की घरवाली, बुद्धि को विकसित करनेवाली एवं मुक्तिक्षेत्र कहते हैं ।। ३३ ।।

नानामणिगणैः क्लृप्तैस्सहस्रावरणैश्शुभैः ।
संवीता भाति नगरी सेवायातैरिवाब्धिभिः ।। ३४ ।।

अनेक प्रकार के बहुतेरे मणियों से जडे हुए सुन्दर असंख्य परकोटों से घिरी हुई अयोध्यापुरी ऐसी शोभायमान हो रही हैं, मानो बहुत से रत्नाकरों ने एक साथ सेवा में उपस्थित हो इसे चारों ओर से घेर लिया हो ।। ३४ ।।

या दीव्यद्गोपुरोद्वद्धैर्ध्वजैश्चञ्चत्पटाञ्चलैः ।
हस्तैरिवापरान् लोकान् धिक्करोतीव नश्वरान् ॥ ३५ ॥

जिस अपराजिता अयोध्या नगरी के ऊंचे सुन्दर प्रमुख द्वारों के ऊपर बडी ऊंची ध्वजाएं लगी हुई हैं जिनके कपडों के अञ्चल, वायु के झोंकों के लगने से फरफर उड रहे हैं। इससे अपराजिता पुरी ऐसी शोभायमान होती है मानो अपने हाथों से दूसरे स्वर्गादि नश्वर लोकों को धिक्कार दे रही हो ॥ ३५ ॥

रत्नतोरणभाभिर्या तनोतीन्द्रायुधश्रियम् ।
इन्द्रनीलप्रभाजालैर्यमुनां चोर्ध्वगामिनीम् ॥ ३६ ॥

जिसके द्वारों पर लगे हुए रत्नों के तोरणों की ज्योति आकाश में चमकनेवाले इन्द्रधनुष की भांति शोभायमान हो रही है। तथा इन्द्रनीलमणियों के प्रकाश का समूह आकाश-यमुना की तरह छटा दे रहा है ॥ ३६ ॥

पद्रथ्या स्फटिकाकाराः सौधरत्नार्चिरावृताः ।
अनुयान्ति फणारत्नप्रभोज्ज्वलमहीश्वरम् ॥ ३७ ॥

जिसकी वडी सडकें स्फटिक मणियों की सी हैं, बडे बडे राजप्रासाद मणिप्रभाओं से ढके हुए हैं, ये स्फटिक मणियों की सफेद सडकें ऐसी हैं जिनमें आनन्द के साथ रथादि चले जायें और चले आवें। रत्नों की चमक के प्रतिविम्ब से या आभा पडने से ऐसी चमकती मालूम होती हैं जैसा फणों के मणियों की प्रभा पड जाने से शेष भगवान का श्वेत अङ्ग रंगा हुआ सा चमकता हो ॥ ३७ ॥

प्रासादमालासङ्कीर्णा कासारशतसंकुला ।
व्यासादिमुनिभिर्ध्येया या साधारणमुक्तिभूः ॥ ३८ ॥

इसमें प्रासादों की लगातार पांतियां हैं जिससे यह सङ्कीर्ण दीख रही हैं। इसमें सैकडों कृत्रिम पुष्करिणियां हैं। यह असाधारण मोक्षभूमि है, इसका ही ध्यान व्यासादि मुनि लोग करते हैं ॥ ३८ ॥

या दिव्यवनमालाढ्या श्रीमती मणिभासुरा ।
मुक्तावलीवृता भाति यथा विष्णोरुरस्थली ॥ ३९ ॥

दिव्य वनमाला से युक्त (वनों की पांतियों से युक्त) श्रीमती (शोभावाली) मणिभासुरा (मणियों से शोभायमान) मुक्तावलीवृत्त (मुक्तपुरुषों की पांतियों से आवृत) यह मोक्षभूमि दिव्यवनमालाढ्य (वनमाला नामक माला से युक्त) श्रीमती (लक्ष्मी का वासस्थान) मणिभासुरा (कौस्तुभमणि से प्रकाशित) मुक्तावलीवृत्ता (मोतियों के हार से आवृत) श्रीविष्णुभगवान् की वक्षस्थली जैसी शोभती है। इस श्लोक में इस अपराजिता अयोध्यापुरी को उपमा भगवान् के वक्षस्थल से दी गयी है ॥ ३९ ॥

नानामणिमयैस्तुङ्गैर्नारायणरमाप्रियैः ।
क्रीडाशिखरिभिः पूर्णा चूडारूढामरद्रुभिः ॥ ४० ॥

यह पुरी नाना प्रकार के मणियों के बने क्रीडापर्वतों से पूर्ण है जिनकी ऊंची चोटियों के ऊंचे अग्र भाग में कल्पवृक्ष उगे हुए हैं। ये समस्त वस्तुएँ श्रीलक्ष्मीजी एवं भगवान को प्रिय हैं ॥ ४० ॥

तत्र दिव्यं महद्धाम वैकुण्ठाभिधमुज्ज्वलम् ।
अवर्णनीयं वचसां सुवर्णमणितोरणम् ॥ ४१ ॥

यहां (इस अयोध्या में) एक देदीप्यमान दिव्य वैकुण्ठ नामक बडा ही उज्ज्वल स्थान है, इस स्थान की प्रशंसा वाणी नहीं कर सकती। इसमें मणि जडे हुए सोने के बन्दनवार लगे हुए हैं ॥ ४१ ॥

तत्र स्तम्भसहस्राढ्ये दिव्ये श्रीमणिमण्डपे ।
सान्द्रानन्दसुधालिप्ते सहस्रार्कसमप्रभे ॥ ४२ ॥
सिंहासनेऽतिरुचिरे विभूतिद्वयचित्रिते ।
दिव्यपुष्पभरास्तीर्णे भव्यरोचिर्वितानिते ॥ ४३ ॥

धर्मादिसूरिपादस्थे नानामणिगणावृते ।
सहस्रदलपद्मस्य कर्णिकान्तेऽतिविस्तरे ॥ ४४ ॥

शब्दतन्त्रधुरीणस्य लुप्तस्वातन्त्र्यकर्मणः ।
शेषस्य मृदुले भोगे फणामणिरुचास्तृते ॥ ४५ ॥

निषण्णो निर्भरानन्दो निरङ्कुशमहोदयः ।
समस्तशेषी भगवान् लक्ष्म्या भूम्या च नीलया ॥ ४६ ॥

इस स्थान में एक हजार खम्भोंवाला दिव्यमणिमण्डप नाम का श्रीमणियों का मण्डप है, इसमें एक सिंहासन है, यह घने आनन्दरूप अमृत से सना हुआ है। इसकी प्रभा सहस्र सूर्यों के समान है ॥ ४२ ॥

उस मण्डप में एक अत्यन्त सुन्दर सिंहासन है जिसपर दोनों विभूतियां चित्रित हैं अर्थात् दोनों विभूतियों के चित्र खिंचे हुए हैं। इसपर बहुत से दिव्य पुष्प बिछे हुए हैं और इसमें मनोहर वितान तने हुए हैं ॥ ४३ ॥

जिस सिंहासन के पाये में धर्मादि सूरि विराजमान हैं, जिसमें नानामणी लगे हुए हैं और उस सिंहासन पर एक सहस्रदल कमल है, उस कमल की अतिविस्तृत कर्णिका के ऊपर शब्दतन्त्रधुरीण अर्थात् शब्द-शास्त्र में पारङ्गत और अपने स्वातन्त्र्यकर्म को लुप्त कर देनेवाले अर्थात् मिटा देनेवाले श्रीशेषभगवान के कोमल भोग पर जो फणों में लगे हुए मणियों के प्रकाश से जगमगा रहा है निर्भरानन्द, निरंकुश, महोदय और सबके शेषी भगवान् श्रीदेवी, भूदेवी और लीलादेवी के साथ आसीन हैं अर्थात् बैठे हुए हैं ॥ ४४,४५,४६ ॥

प्रफुल्लपद्मसुषुमापरिभाविपदद्वयः ।
काहलीगर्वसर्वस्वहारिजंघायुगोज्ज्वलः ॥ ४७ ॥

भगवान के दोनों पदारविन्द खिले हुए कमल की परम शोभा को भी पराजित करनेवाले हैं, उज्ज्वल अर्थात् देदीप्यमान दोनों जंघाएं, अपनी बनावट में काहली को* भी मात कर गये हैं ॥ ४७ ॥

सौन्दर्यसागरोन्मग्नजानुमैनाकशृङ्गकः ।
यौवनारामकदलीकाण्डोरुयुगलाञ्चितः ॥४८॥

सौन्दर्य के समुद्र में उपलाते हुए मैनाकपर्वत की चोटियों की तरह भगवान के दोनों घुटने हैं। यौवनरूप बगीचे के केले के खम्भ की तरह भगवान की दोनों जंघाएं सुशोभित हो रही हैं ॥४८॥

रशनारत्नरुग्विद्धपीताम्बरकटीतटः ।
सन्ध्यातपक्षमामृष्टधाराधरसमप्रभः ॥४९॥

भगवान कमर में करधनी पहने हुए हैं, जिसमें अमूल्यरत्न जडे हैं, जिनकी प्रभा कमर में पहने हुए पीताम्बर पर फैली हुई है जिससे भगवान ऐसे शोभायमान होते हैं, जैसे सन्ध्या के समय सूर्य की प्रभा से मेघ शोभित होते हैं ॥४९॥

विरिञ्चोत्पत्तिकमललसन्नाभीपुटोज्ज्वलः ।
उदरस्थत्रिजगतीसीमाकल्पवलित्रयः ॥५०॥

जिस कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी, उस कमल से, भगवान् की नाभि का स्वच्छ पुट अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। पेट पर तीन वली (रेखाएं) पड़ रही है, वे भी ऐसी शोभायमान होती हैं मानो उदर में रहनेवाले तीनों लोकों की सीमाएं बना दी गयी हों ॥५०॥

लक्ष्मीविलासादर्शेन कौस्तुभेनात्मरूपिणा ।
श्रीवत्सेन प्रधानेन विलसत्सुभुजान्तरः ॥५१॥

जीवात्मतत्व कौस्तुभ मणि के रूप में वक्षस्थल पर शोभित हो रहा है मानों लक्ष्मीजी की क्रीडा का दर्पण बना हुआ है। इससे तथा प्रधान तत्व श्रीवत्स से भगवान का वक्षस्थल परम सुशोभित हो रहा है।

---

*काहली तुरही से मिलता-जुलता एक प्रकार का बाजा है जो दाक्षिणात्य प्रदेश में व्यवहृत होता है जिसका आकार गायदुम यानी ऊपर मोटा और नीचे पतला होता है।

तात्पर्य यह कि दोनों भुजाओं के वीच का स्थल (वक्षस्थल) श्रीलक्ष्मीजी के विलास के दर्पण स्वरूप और 'जीवात्मा के' रूप कौस्तुभमणि एवं प्रधान रूप श्रीवत्सचिह्न से सुशोभित है ॥ ५१ ॥

मालया वैजयन्त्या च महाभूतस्वरूपया ।
पर्यायडोलया लक्ष्म्या भासमानभुजान्तरः ॥ ५२ ॥

पञ्चमहाभूतों की स्वरूप वैजयन्ती नामक माला दोनों भुजाओं के बीच ऐसी शोभा दे रही है मानों वह (वक्षस्थल में विराजमान) श्रीलक्ष्मीजी के झूलने का झूला बनी हो ॥ ५२ ॥

हारैरनेकैरमलैर्हारिवक्षस्थलोज्ज्वलः ।
लावण्यदुग्धसिन्धूद्यत्तरङ्गैरिव संगतैः ॥ ५३ ॥

भगवान् अपने उज्ज्वल वक्षस्थल में सुन्दर अनेकों स्वच्छ हार पहने हुए हैं वे हार आपस में एक के ऊपर एक दूसरे से मिले हुए हैं। इनसे भगवान् ऐसे मालूम होते हैं मानों लावण्य का दुग्धसमुद्र अपनी उछलती हुई तरङ्गों की सङ्गति से शोभायमान हो रहा हो ॥ ५३ ॥

अहंकृतिमनोरूपे पाञ्चजन्यसुदर्शने ।
वहन् कराभ्यामार्तार्थे कालक्षेपासहो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

अहङ्कार और मन के प्रतिरूप पाञ्चजन्य शंख और सुदर्शनचक्र हैं, उन्हें सदा दोनों हाथों में धारण किये हुए हैं, मानो इसलिए कि आर्त भक्त जब ही स्मरण करें तब ही उनकी रक्षा के लिए शंख-चक्र लेकर चल पड़ें। क्योंकि आर्त की पुकार सुनते ही फिर शंख-चक्र उठाने में समय बिताना उन्हें सह्य नहीं है, इसीलिए सदा हाथों में उन्हें लिये रहते ही विराजते हैं ॥ ५४ ॥

फणिपर्यङ्कविन्यस्तसव्यबाहुसमुज्ज्वलः ।
लीलाप्रसार्यमाणान्यपाणिसंसक्तजानुकः ॥ ५५ ॥

बायां हाथ शेषशय्या पर पडा हुआ है, दायां हाथ लीलावश नीच की ओर लटकाये हुए पैर के घुटने पर रखा हुआ है, जिससे आप अत्यन्त शोभायमान हो रहे हैं ।। ५५ ।।

रत्नकङ्कणकेयूररमणीयचतुर्भुजः ।
कस्तूरिकापङ्कदिग्धकण्ठकम्बुमनोहरः ।। ५६ ।।

रत्नजटित कङ्कण और केयूर आदि चारों सुन्दर भुजाओं में पहने हुए हैं। शंख के समान उतार-चढाववाले सुन्दर कण्ठ में कस्तूरी का लेप लगा हुआ है, जिससे कण्ठ शोभायमान हो रहा है ।। ५६ ।।

सौन्दर्यनित्यसाम्राज्यसिंहासनमुखाम्बुजः ।
अरुणाधरविस्फूर्जदव्याजहसितोदयः ।। ५७ ।।

श्रीभगवान का मुखारविन्द सौन्दर्य के नित्यसाम्रज्य का सिंहासन है आपका स्वाभाविक मन्द हास लाल अधरों के बीच से फूट कर निकल रहा है ।। ५७ ।।

नयनाब्ध्योर्मिथस्सीमासेतुभूतसुनासिकः ।
विशालदीर्घसुस्निग्धव्यक्तवर्णत्रयाम्बकः ।। ५८ ।।

वडी बडी दोनों आंखों के बीच में सुन्दर नासिका ऐसी शोभायमान हो रही है मानो दो बडे समुद्रों के बीच में उनकी सीमा निर्धारण करने के लिए बांध दे दिया गया हो । और उसमें तीन वर्ण हैं यानी यह स्वभाव से श्वेत हैं, लाल डोरे पडे हुए हैं और पुतली काली है ।। ५८ ।।

करुणावरुणावासैः कटाक्षैः पालयन् जगत् ।
संप्राप्तशार्ङ्गकोदण्डविभ्रमभ्रूलतोज्ज्वलः ।। ५९ ।।

भगवान् के कटाक्ष करुणा के समुद्र हैं, आप उनसे विश्व का पालन करते हैं। समीपस्थ शार्ङ्गधनुष की भांति भ्रकुटि शोभित हो रही है ।। ५९ ।।

आनीलकुञ्चितस्निग्धदीर्घकुन्तलमन्थरः ।
त्रैलोक्यरक्षापारीणमहार्घमुकुटाञ्चितः ॥ ६० ॥

काले-काले घूंघरवाले चिकने-चिकने बडे वाल हैं जिनसे भगवान् की शोभा और भी बढ गयी है। तीनों लोकों की रक्षा करने में पारङ्गत वहुमूल्य मुकुट से देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ ६० ॥

करुणाधीनसङ्कल्पः सङ्कल्पाधीनरक्षणः ।
रक्षणाधीनसद्भक्तो भक्ताधीनात्मवैभवः ॥ ६१ ॥

भगवान् का सङ्कल्प करुणा के अधीन है, सङ्कल्प के अधीन रक्षण है और रक्षण के अधीन सद्भक्त हैं और भक्तों के अधीन भगवान् के सब वैभव हैं। तात्पर्य यह कि केवल करुणा के वशीभूत होकर ही भगवान् रक्षा का सङ्कल्प करते हैं, इस जगत् का रक्षण भगवान् के सङ्कल्प के ही अधीन है अन्य किसीके नहीं है, भगवान् के भक्त भगवान् के रक्षण के ही भरोसे हैं और भगवान् का सव वैभव भक्तों के लिए ही है ॥ ६१ ॥

समस्त कल्याणगुणः प्रशस्तात्मा परात्परः ।
अवाप्ताखिलकामार्थो निरस्ताशेषकल्मषः ॥ ६२ ॥

आप समस्त कल्याणगुणोंवाले हैं, आपका स्वभाव उदार है, आप 'पर' कहलानेवाले सव पदार्थों से परे हैं, आपको समस्त काम और अर्थ स्वतः ही प्राप्त हैं और आप सम्पूर्ण दोषों से रहित हैं ॥ ६२ ॥

त्रिकालज्ञस्त्रिवर्णार्थस्त्रिधामा त्रिगुणातिगः ।
त्रिवर्गदस्त्रितापघ्नस्त्रिलोकेशस्त्रिविक्रमः ॥ ६३ ॥

आप तीनों कालों के जाननेवाले हैं, तीन वर्णोंवाला ॐकारवाच्य आप ही हैं। हृदय, सूर्यमण्डल तथा दाईं आंख की पुतली इन तीन स्थलों में आपका ध्यान किया जाता है अथवा परवैकुण्ठ, श्वेतद्वीप और क्षीराब्धि इन तीनों धामों में आप विराजते हैं। सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से आप परे हैं, अर्थ, धर्म और काम के देनेवाले आप ही हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों के हरनेवाले

आप ही हैं। तीनों लोकों के स्वामी हैं, वामन अवतार में तीन डग भरनेवाले भी आप ही हैं ॥ ६३ ॥

छत्रपीठासनोपानत्तल्पदीपांशुकादिना ।
शेषेण भूषितोपान्ते दिव्यवेषेण भोगिना ॥ ६४ ॥

जो शेषभगवान् आवश्यकता के अनुसार छत्र, पीठ, सिंहासन, पादुका, शय्या, दीप और वस्त्र बनकर भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं वे दिव्यवेष में भगवान् के पास विराजमान हैं जिससे एक निराली छटा हो रही है ॥ ६४ ॥

वितानदासव्यजनमित्रकेतुरथादिना ।
वैनतेयेन पुरतः सेवितः श्रुतिरूपिणा ॥ ६५ ॥

जो श्रुतिरूपी गरुड आवश्यकता के अनुसार चांदनी, दास, व्यजन यानी पंखा, मित्र, ध्वजा और रथ आदि होकर भगवान् की सेवा करते हैं वह हाथ जोडे भगवान् के सामने सेवा में खडे हैं ॥ ६५ ॥

विद्यावेत्रलताधीनविभूतियुगवृद्धिना ।
विष्वक्सेनेन सैन्यानामीश्वरेण निषेवितः ॥ ६६ ॥

भगवान् की सेनाओं के सेनापति विष्वक्सेन भगवान्, हाथ में विद्यारूपी लतावेत्र लिये हुए खडे खडे भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं, जिनकी वेत्रलता के अधीन, नित्यविभूति तथा लीलाविभूति की वृद्धि है। वैकुण्ठ की विभूति को नित्य विभूति तथा शेष संसार आदि को लीलाविभूति कहते हैं ॥ ६६ ॥

अनन्तभक्तिनिलयैस्सनन्दसनकादिभिः ।
चिरन्तनवचस्स्तोत्रैर्निरन्तरमभिष्टुतः ॥ ६७ ॥

जिसकी कोई थाह ही नहीं, ऐसी भक्ति के स्थान जो सनन्द और सनकादिक हैं, वे वैदिक स्तोत्रों से भगवान् की निरन्तर स्तुति कर रहे हैं ॥ ६७ ॥

नगरावरणद्वारगोपुरावनकर्मठैः ।
चण्डाद्यैः कुमुदाद्यैश्च गजवक्त्रादिभिर्वृतः ॥ ६८ ॥

भगवान् ने पुरी की रक्षा का काम चण्डादिकों के अधीन कर रखा है तथा नगर के परकोटे की रक्षा का काम गजवक्त्रादिकों के सुपुर्द कर रखा है। ये सब भगवान् के पास ही खडे हैं ॥ ६८ ॥

जयशब्दमुखैर्दिव्यैर्दैतेयप्राणपारणैः ।
हेतिभिश्चेतनैः पार्श्वे पञ्चभिः पर्युपासितः ॥ ६९ ॥

दैत्यों के प्राणों की पारणा करनेवाले, भगवान् के पांचों आयुध शरीरधारी होकर भगवान् के ही पार्श्व में खडे जयजयकार करते हुए भगवान् की उपासना कर रहे हैं ॥ ६९ ॥

नित्यानवद्यया देव्या निष्कारणदयायुजा ।
जनन्या सर्वजगतामनन्यावनसक्तया ॥ ७० ॥

त्रैलोक्यरक्षासाम्राज्यमहिष्या मञ्जुहासया ।
इति पृष्टोऽभवल्लक्ष्म्या भगवान् स्निग्धया गिरा ॥ ७१ ॥

नित्य और निर्दोष, निष्कारण दया करनेवाली, सव लोकों की जननी तथा अनन्य जनों की रक्षा करने में लगी हुई त्रिलोकी के एकातपत्र सम्राट् की राजमहिषी श्रीमहालक्ष्मीजी ने प्रेमभरी कोमल वाणी से श्रीभगवान् से पूछा कि ॥ ७०, ७१ ॥

सृष्टिस्थित्यन्तकर्माणि त्वदायत्तानि सर्वदा ।
आद्यन्तकर्मणी प्रादात् स्वयम्भूहरयोः पुरा ॥ ७२ ॥

सर्वदा ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपके अधीन हैं, परन्तु आपने पहले ही रचना का कार्य ब्रह्मा के अधिकार में तथा प्रलय का कार्य शिव के अधिकार में कर दिया है ॥ ७२ ॥

अवशिष्टं भवानेव भगवान् करुणानिधे ।
करोति विष्णुरूपेण विशेषाद्विश्वरक्षणम् ॥ ७३ ॥

हे करुणा के सागर! विष्णुरूप से बाकी जो विश्व का रक्षण है उसे आप ही विशेष रूप से करते हैं ।। ७३ ।।

वेदाननन्तानसृजः कर्मब्रह्मप्रकाशकान् ।
निजया दयया साकं शास्त्रैस्तदुपबृंहकैः ।। ७४ ।।

आपने अपनी दया से कर्म और ब्रह्म के प्रकाशक अनन्त वेदों की सृष्टि की है, और साथ ही उनके अर्थों को विस्तार करनेवाले शास्त्रों को भी प्रकाशित किया है ।। ७४ ।।

अनादिवासनादोषदूषितात्मीयदृष्टयः ।
अवमत्य जनस्तान् यद् अपथे स्वैरगामिनः ।। ७५ ।।

अनादिकाल की वासनाओं के दोषों से आत्मविषयक दूषित दृष्टिवाले जीव, अपने ही दोषों के कारण वेदों का अनादर करके कुमार्ग पर मनमाने चलते हैं ।। ७५ ।।

तत्त्वमाज्ञातिगान् जेतुं भूपास्स्वयमिवैत्य तान् ।
रामकृष्णादिभिश्शश्वदवतारैर्भुवङ्गतः ।। ७६ ।।

राजा लोग जिस तरह अपने शासन को न माननेवाले लोगों को अन्त में अपने आप ही जाकर जीतते हैं और अपने वश में करते हैं इसी तरह आप भी अपने शासन न माननेवालों को जीतने के लिए राम, कृष्ण आदि अवतार लेकर भूमि पर अवतीर्ण हुए ।। ७६ ।।

गृहीष्यामीति गत्वा त्वमगृहीत्वागतोऽत्र किम् ।
इति पृष्टः कमलया सस्मितः पुरुषोत्तमः ।। ७७ ।।

व्याजहार रमामेवं संप्रबुद्धोऽस्म्यहं त्वया ।
शृणु मे वचनं देवि त्वदुक्तिप्रतिभाषणम् ।। ७८ ।।

आप भूमि पर अवतीर्ण तो इसलिए हुए थे कि अपने शासन न माननेवालों को जीतूंगा, पकड लाऊंगा, परन्तु आप विना पकडे ही क्यों चले आये। श्रीलक्ष्मी के इस पूछने पर पुरुषोत्तम भगवान् मन्दहासपूर्वक

लक्ष्मीजो से कहने लगे कि तुमने मुझे अच्छी याद दिलायी। तुम्हारे कथन का जो मैं उत्तर देता हूं उसे ध्यान के साथ सुनो ॥ ७७, ७८ ॥

नानावतारं प्राप्तं मामवधीर्यं नरा भुवि ।
आसुरप्रकृतित्वाच्च बलात् पूर्वाघसन्ततेः ॥ ७९ ॥

वासनावशतो मूढाश्शासनानर्हतांगताः ।
घटीयन्त्रघटन्यायान्निरयस्वर्गगामिनः ॥ ८० ॥

भूमि में अनेक अवतारों में अवतीर्ण हुए मुझको पाकर भी, आसुरी प्रकृति के कारण अथवा पहले पापों के कारण मेरा अनादर करके और वासनाओं के वश होकर मेरे शासन के भीतर आने के अयोग्य हो गये, उनकी इस समय की दशा यह है कि कभी वे स्वर्ग जाते हैं तो कभी नरक में पडे तडपते हैं। जैसे पानी देने के घर के घट कभी ऊपर आते हैं तो कभी झट खाली होकर नीचे चले जाते हैं, यही दशा आज जीवों की भी हो रही है ॥ ७९, ८० ॥

करणैस्ते मया दत्तैर्विषयानुपभुञ्जते ।
समिच्छेदार्थशस्त्रेण गोपुच्छच्छेदनीतितः ॥ ८१ ॥

हे लक्ष्मी! इस समय उनकी नीयत ऐसी है जैसे किसी आदमी को कुल्हाडी दी गयी थी तो अग्निहोत्र के लिए समिध काटने को, पर उस दुष्ट ने समिध तो न काटी, किन्तु वह बेचारी गउओं की पूछों को काटने लगा, ऐसे ही इनको इन्द्रियां दी गयी थीं तो शुभ कार्य करने के लिए, पर ये मेरी दी हुई इन्द्रियों से विषयों का उपभोग कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

तानिदानीं समुद्धर्तुं सङ्कल्पं कल्पयाम्यहम् ।
उपायो निरपायो मे रोचते सर्वसंग्रहात् ॥ ८२ ॥

उनके उद्धार करने के लिए एक उपाय करने का विचार करता हूं। मेरा यह उपाय सर्वथा अपायशून्य (और अतएव सफल) होगा। यही मुझे भी अच्छा लगता है ॥ ८२ ॥

परत्वव्यूहविभवैरपर्याप्तिश्च संग्रहः ।
अन्तर्यामी तदद्याहमर्चारूपेण तं लभे ॥ ८३ ॥

पर स्वरूपों से तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आदि स्वरूपो से तथा अवतारों से जो जीवों का संग्रह नहीं हो सका था उसे अब सर्वान्तिर्यामी मैं अर्चारूप से सिद्ध करूंगा ॥ ८३ ॥

इतोऽहं दिव्यदेशेषु श्रीरंगादिषु कल्पये ।
अर्चावतारसान्निध्यं त्वया भूम्या च नीलया ॥ ८४ ॥

यहां से अव मैं श्रीरङ्ग आदिक दिव्य देशों में तुम्हारे साथ भूदेवी तथा नीलादेवी के साथ अर्चावतार धारण करके रहूंगा ॥ ८४ ॥

शेषशेषाशनाद्याश्च सूरयो भूरिबुद्धयः ।
नानावर्णसमुत्पन्ना नानादेशेषु वासिनः ॥ ८५ ॥

शेष तथा शेषाशन विष्वक्सेन आदि तथा और जो कृतप्रज्ञ सूरि हैं, वे अनेक वर्णों में उत्पन्न होंगे तथा अनेक देशों में बसेंगे ॥ ८५ ॥

नानाप्रबन्धनिर्माणैर्नानाकैङ्कर्यवृत्तिभिः ।
आम्नायान्तविवर्तैश्च सर्ववर्णोचितक्रमैः ॥ ८६ ॥

सद्गुणाशंसिभिस्तोत्रैर्द्रामिडैर्गेयमाश्रितैः ।
शब्दादिविषयासक्तान् दुर्दर्शनपरायणान् ॥ ८७ ॥

बाह्यराद्धान्तदुर्ध्वान्तनिरन्तरविमोहितान् ।
संसारवनसम्भ्रान्तकरिकल्पान् शनैर्नरान् ॥ ८८ ॥

प्रापय्य भक्तेः पदवीं प्रपत्तेश्च ततो मम ।
उपनेष्यन्ति संकाशे महालाने गजानिव ॥ ८९ ॥

नाना प्रबन्धों की रचनाओं द्वारा, नाना कैङ्कर्यवृत्तियों के द्वारा एवं सव वर्णों के उपयुक्त क्रमों का अवलम्बन कर के वेदान्तशास्त्र के अनुवाद के द्वारा मेरे गुणों को प्रकाशित करनेवाले, द्राविडभाषामय, गानरूपी स्तोत्रों से शब्द आदिक विषयों में फंसे हुए कुशास्त्रों में लगे हुए, वेद से बाहर के सिद्धान्तरूपी बुरे अन्धकार में पडने के कारण हतबुद्धि हुए

तथा संसाररूपी वन में भूले हुए हाथी के समान मनुष्यों को धीरे धीरे भक्ति का मार्ग तथा शरणागति की पदवी प्राप्त करा कर मेरे पास लायेंगे जैसे हाथियों को गुलरा कर बंधवाने का कार्य हाथी ही किया करते हैं, दूसरे से नहीं होता ॥ ८६, ८७, ८८, ८९ ॥

अङ्गीकृत्य ततोऽहं तान् सूरिभिस्सदृशानिह ।
सदानुभविता तेषां कैंकर्येज्यामिति प्रिये ॥ ९० ॥

इसके वाद सूरियों के सदृश उन्हें मैं स्वीकार करके यहां उनके कैङ्कर्य यानी और इज्या का सदा अनुभव करूंगा ॥ ९० ॥

नित्यसूरींश्च मुक्तांश्च हेतींश्च कमलां भुवम् ।
संप्रेष्य स यथास्थानमवताराय भूतले ॥ ९१ ॥
स्वयं चकार भगवान् श्रीरङ्गादिषु धामसु ।
सान्निध्यमर्चारूपेण सर्वभूतानुकम्पया ॥ ९२ ॥

लक्ष्मीजी से यह कहकर भूतल के यथायोग्य स्थानों में अवतार लेने के लिए नित्यसूरी मुक्त आयुध लक्ष्मी और भूदेवी को भेजकर अपने आप भी श्री रङ्गादिक धामों में अर्चारूप से अवतीर्ण हुए। प्राणीमात्र पर दया करने के लिए ही यह अर्चावतार ग्रहण किया था। इसके सिवा दूसरा प्रयोजन नहीं था ॥ ९१, ९२ ॥

निर्दिष्टा मधुरिपुणा दयाकरेण
श्रीरङ्गादिषु बहुधामसु क्षमायाम् ।
मुक्तास्ते पुनरपि सूरयोऽवतीर्णाः
संसारे न गुरुवचो हि लङ्घनीयम् ॥ ९३ ॥

सबपर निर्हेतु की दया करनेवाले भगवान् ने वैकुण्ठवासी नित्यसूरी आदि को आज्ञा दे ही दी थी कि जाओ भूमि पर अवतीर्ण हो, नित्यसूरी आदि ने भी उसी समय भगवान् की आज्ञा का पालन किया। क्यों कि गुरु वचन उल्लंघनीय नहीं होते। इस कारण नित्यसूरी आदि श्रीरङ्गादिक धामों में अवतीर्ण हुए ॥ ९३ ॥

यन्नाथः फणिराजभोगिशयनो रङ्गेश्वरो यत्पिता
सौम्यश्रीसखमङ्गलाधिपविभुः सर्वज्ञचूडामणिः ।
यन्माता भुवनाधिपा विहगराड्वाहाभिधश्रीसदः
काव्ये दीव्यति दिव्यसूरिचरिते सर्गोयमादिर्गतः* ।। ९४ ।।

जिनके स्वामी शेषशायी भगवान् रङ्गनाथ हैं, जिनके पिता सुन्दर लक्ष्मीपति श्रीरङ्गनाथ की आरोग्यशाला के अधिपति स्वामी सर्वज्ञचूडामणि हैं, और जिनकी माता का नाम भुवनाधिपा है, उस गरुडवाहन श्रीनिवास के वनाये दिव्यसूरिचरित काव्य में यह पहला सर्ग समाप्त हुआ ।। ९४ ।।

प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

---

*मदरास गवर्नमेंट हस्तलिखित पुस्तकभाण्डारस्थ पुस्तक में प्रथम सर्ग की समाप्ति में यह श्लोक है, आन्ध्र लिपि में छपी हुई पुस्तक में प्रथम सर्ग का अन्तिम श्लोक कुछ भिन्न प्रकार का है। छपी हुई पुस्तकवाले श्लोक में पिता का नाम वरद वताया गया है, और गोत्र उनका वाधूल है, पिता के सिवाय गुरु का भी उल्लेख है, जिनका नाम वरवराधीश है। गवर्नमेंट भाण्डार की पुस्तक के श्लोक में पिता का नाम अस्पष्ट है, और गुरु का उल्लेख नहीं है। अन्य अंशों में इन दोनों में शब्दभेद के सिवाय कोई अर्थभेद नहीं है।

मैसूर विद्यातरङ्गिणी प्रेस में आन्ध्र लिपि में छपी पुस्तक में प्रथम सर्ग का अन्तिम श्लोक यह है।

स्वामी रङ्गपतिर्गुरुर्वरवराधीशश्च यस्यातुलो
वाधूलो वरदः पिता वरवरक्षेमेशलक्ष्मीसखः ।
लोकेशा जननी तु तस्य गरुडश्रीवाहनश्रीसदः
काव्ये दीव्यति दिव्यसूरिचरिते सर्गोयमादिर्गतः ।।

जिनके स्वामी अतुलनीय श्रीरङ्गनाथ हैं, गुरु हैं वरवराधीश, पिता हैं श्रीरङ्गनाथ के आरोग्यशाला के अधिपति होने का सौभाग्यप्राप्त वाधूलवरद, और माता है लोकेश्वरी, उस गरुडवाहन श्रीनिवास के बनाये उज्वल दिव्यसूरिचरित काव्य में यह पहला सर्ग समाप्त हुआ।

द्वितीयः सर्गः

श्रीकाञ्चीपुरी का वर्णन

अस्ति प्रशस्ता भुवनेषु काञ्ची पुरी विरिञ्चोत्तरवेदिकाढ्या ।
गण्याऽभवन्मुक्तिकरीषु पूर्वं धन्याकृतिस्सप्तसु या पुरीषु ॥ १ ॥

भुवन भर में परम प्रसिद्ध प्रशंसनीय एक काञ्ची नाम की पुरी है। ब्रह्माजी ने अश्वमेवयज्ञ करते समय यहां अश्वमेधयज्ञ की उत्तरवेदी वनायी थी, यह मोक्ष देनेवाली सात पुरियों में गिनी जाती है तथा उन सवसे अधिक सुन्दर है ॥ १ ॥

उत्फुल्लकल्हारसरोजवत्या कूलङ्कषोत्तुङ्गतरङ्गवत्या
समावृता या सरिता महत्या स्वच्छाम्वुवत्या भुवि वेगवत्या ॥ २ ॥

कल्हार और कमल जिसमें खिले हुए हैं, जिसकी वडी वडी तरंगें किनारों को काटा ही करती हैं, जिसका पानी अत्यन्त ही निर्मल रहता है, जो वडे वेग के साथ वहती है, ऐसी वेगवती नामक नदी से यह काञ्ची घिरी हुई है ॥ २ ॥

यत्रोन्नतानां मणिगोपुराणामंशुप्रवाहैररुणाम्वुपूराम् ।
यत्नेन जानन्त्यमरस्रवन्तीं सुरांगनाः काञ्चनपुण्डरीकैः ॥ ३ ॥

इस काञ्ची में गगनचुम्वी मणिमय नगरद्वार वने हुए हैं, जिसकी किरणें आकाशगङ्गा में पडती हैं, जिससे आकाशगङ्गा का प्रवाह लाल लाल हुआ रहता है । जव देवाङ्गनाएं आकाशगङ्गा में स्नान करने आती हैं तव आकाशगङ्गा का पता नहीं चलता । पीछे वडे प्रयत्न के साथ अन्वेषण करने पर सोने के कमलों से आकाशगङ्गा को पहचानती हैं ॥ ३ ॥

आकर्ण्य यस्यां वरदोत्सवोद्यन्मृदंगभेरीनिनदं गभीरम् ।
कुर्वन्ति केकाश्शिखिनस्सलीलं कालं विनाऽकालवलाहकानाम् ॥४॥

जहां वरदराज भगवान् के उत्सव में बजते हुए मृदङ्ग, नगाडों तथा ढोलकों के गभीर शब्दों को सुनकर, मोर विना बरसात तथा बादलों के गर्जनों के भी 'केका' शब्द करते हैं ॥ ४ ॥

यत्सौधपंक्तिर्गगनस्रवन्त्या स्वश्रृङ्गभाजा कलया सुधांशोः ।
भोगिव्रजेनापि विडम्बयन्ती शंभुं किलैकाम्रपतिं समीपे ॥ ५ ॥

कांची के राजमहलों की पांतियां अपनी चोटी के ऊपर आयी हुई आकाशगङ्गा, चांद की कला और भोगियों के समुदाय से समीप में रहते हुए एकाम्रपति शिव का अनुकरण कर रही हैं। शिव के शिर में गंगा, माथे पर चन्द्रमा की कला और गले में सांप रहते हैं। कांची के बडे-बडे राजमहलों की चोटियां आकाशगंङ्गा से लगी हुई हैं, चांद की कला उनसे आकर लग जाती है और बीच में भोगी लोग बस रहे हैं, यही उपकरण एकाम्रपति शिव के अनुकरण का है । भोगी विलासी और सांप दोनों को कहते हैं ॥ ५ ॥

यत्राग्रहाराध्वरधूमलेखां कादम्बिनीं नूनमवेक्ष्य मोदात् ।
तन्वन्त्यकालेऽपि च ताण्डवानि शिखावलालोलकलापभाराः ॥ ६ ॥

जहां ब्राह्मणों की वस्ती में होते हुए यज्ञ की धूमलेखा अर्थात् धूएं की उठान को मेघमाला जान कर हिलती हुई पूंछ के भारवाले मोर आनन्द के मारे असमय में भी थिरकने लगते हैं ॥ ६ ॥

यदन्तरेऽनन्तसरस्तदन्ते दन्त्यद्रिश्रृङ्गान्तरपुण्यकोटयाम् ।
श्रीमान् जगद्रक्षणजागरूकः श्रीदेवराजः कुरुते निवासम् ॥ ७ ॥

इस काँची के बीच में एक अनन्तसर है, उसके समीप हस्तिगिरि है, उसके श्रृङ्गों के बीच एक पुण्यकोटि नामक विमान है, उसपर संसार की रक्षा में सावधान श्रीदेवराज भगवान् निवास करते हैं ॥ ७ ॥

वेधोऽश्वमेधोदितदिव्यमूर्ति राधोरणी भक्तमनोगजानाम् ।
बाधोपघाती नमतां जनानां बोधोदधिर्यत्र स सन्निधत्ते ॥ ८ ॥

जिनकी दिव्यमूर्ति ब्रह्माजी के अश्वमेध के अग्निकुण्ड से उदय हुई थी, जो भक्तों के मनरूपी हाथी के अंकुशवाले हाथीवान हैं, जैसे हाथी को हाथी का महावत वश में रखता है, इसी तरह वह भी भक्तों के मन को अपने वश में रखनेवाले हैं, नमस्कार करनेवाले जनों की सब बाधाओं को मिटानेवाले हैं, बोध के अगाध समुद्र हैं, ऐसे वरदराज भगवान्, काञ्चीपुर में विराजते हैं ॥ ८॥

आधारभूतो जगतां त्रयाणां साधारणो निर्जरदानवानाम् ।
तापत्रयप्लोषजुषां जनानामापत्सखो यत्र चकास्ति देवः ॥ ९ ॥

जो तीनों लोकों के आधार हैं तथा देव और दानव दोनों के लिए एक से हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से दुःखी जीवों के दुःख के समय में मित्र होते हैं, ऐसे वरदराज भगवान् इस काञ्ची में विराजते हैं ॥ ९ ॥

श्रीकासार सूरि का अवतार

हेमाब्जिनी हेमसरोजगर्भात् श्रीपाञ्चजन्योऽजनि तत्र योगी ।
तारे हरेराश्वयुजाख्यमासे समस्तजीवावनकर्महेतोः ॥ १० ॥

वहां यानी उस श्रीकाञ्चीपुर में हेमाब्जिनी नाम के सर के स्वर्णकमल से श्रीपाञ्चजन्य भगवान् ने कासार योगी के रूप में अवतार लिया। इस अवतार का उद्देश्य समस्त जीवों की रक्षा करना ही था। जिस दिन अवतार लिया था उस दिन श्रवण नक्षत्र तथा आश्विन मास था ॥ १० ॥

सज्जीवनत्वाद्बहुसत्वयोगात् संसारदावाग्निविनाशकत्वात् ।
शैत्योदयात् सूक्त्यमृतप्रदानात् सरोऽभिधानं यमुदाहरन्ति ॥ ११ ॥

कासार या सर आदि जलाशयों के नाम से इन्हें क्यों पुकारते हैं—इसमें कुछ कवि अपनी विचारशक्ति दौडाते हैं, जैसे सर या तडाग जीवन यानी पानी से पूर्ण तथा बहुत से सत्वों यानी जीवों से युक्त

तथा अग्नि का शामक यानी शान्त करनेवाला ठण्डा और पानी देनेवाला होता है ; इसी तरह वे भी सज्जीवक यानी सज्जनों के जिलानेवाले, बहुत से सत्व या सतोगुण से युक्त तथा संसाररूपी दावाग्नि के विनाशक थे एवं शान्तवृत्ति तथा सूक्तिरूप अमृत देनेवाले थे । (सर के और इनके एक से गुण होने के कारण ये पांचजन्य के अवतार योगीजी सरोयोगी के नाम से पुकारे जाते हैं) ।। ११ ।।

श्रीभूतसूरिजी का अवतार

मासेऽथ तस्मिन् वसुभेऽजनिष्ट पारे समुद्रं पुरि मल्लनाम्न्याम् ।
नीलोत्पलान्ताद्भुवि भूतनामा कौमोदकीशक्तिमयो मुनीन्द्रः ।। १२ ।।

उसी महीने में धनिष्ठा नक्षत्र में समुद्र के किनारे मल्लनामक पुरी में नीले कमल के भीतर से भूत नामक योगी ने अवतार लिया । ये भगवान् के कौमोदकी गदा के अवतार थे । इन श्रीभूतसूरिजी का अवतार पांचजन्य के अवतारदिन से दूसरे दिन हुआ था ।। १२ ।।

श्रीमहदाह्वय सूरिजी का अवतार

तन्मास एवाविरभूद्विपश्चित् प्राचेतसर्क्षेऽथ मयूरपुर्याम् ।
महाभिधानो लतिकाह्रदान्ताच्छ्रीनन्दकात्माजनि कैरवान्तात् ।।१३।।

उसी मास के शतभिषा नक्षत्र में, मयूरपुरी में भगवान् के खड्ग नन्दक के अवतार श्रीमहदाह्वय योगी ने लतिकाह्रद के बीच सफेद कमल से जन्म लिया ।। १३ ।।

इन तीनों सूरियों के वैभव

लक्ष्मीपतेः पूर्णकटाक्षलब्ध ज्ञानातिरेकोर्जितसद्गुणौघाः ।
अयोनिजाताः प्रथमास्त्रयस्ते विचेरुरुर्व्यां विदिताखिलार्थाः ।। १४ ।।

ये तीनों सरोयोगी, भूतयोगी और महायोगी सब आल्वारों में प्रथम थे, ये योनि से उत्पन्न न हुए थे, इससे अलौकिक तो थे ही, इस पर भगवान् लक्ष्मीपति के पूर्ण कृपाकटाक्ष से ज्ञान के अतिरिक्त अन्य सद्गुणों का भी समुदाय इनमें हो गया था। ये तीनों समस्त अर्थों के वेत्ता बनकर पृथ्वी पर सर्वत्र विचरने लगे ॥ १४ ॥

आरभ्य बाल्यादरविन्दनाभमाधारमन्तःकरणैरवाप्य ।
रामं पुरा लक्ष्मणवत्त्रयस्ते मिथो न सम्पर्कजुषो बभूवुः ॥ १५ ॥

जैसे लक्ष्मणजी महाराज का जन्म से लेकर ही भगवान् राम में अतुल स्नेह था उसी तरह इन तीनों के भी बचपन से ही भगवान् ही अन्तःकरण की धारणा के स्थान थे। ये भगवान् के ही ध्यान में मग्न रहा करते थे। पर तीनों परस्पर अलग-अलग रहते थे; एक का दूसरे से सम्पर्क न था ॥ १५ ॥

नारायणन्यस्तभरा धरण्यां वयं यथाऽन्ये न भवन्ति वेति ।
कुत्राप्यसक्ता न मिथोऽपि यत्र सायंगृहास्ते व्यचरंस्त्रयोऽपि ॥ १६ ॥

नारायण के अधीन अपना समस्तभार सौंपकर ये इस विचार से अलग अलग विचारने लगे थे कि जैसे हम हैं वैसे दूसरे हैं वा नहीं। ये किसीमें भी आसक्त नहीं थे, न परस्पर में ही इनकी कुछ आसक्ति थी। जहां कहीं सायङ्काल हो जाता था वहीं ये ठहर जाते थे ॥ १६ ॥

एवं यथेच्छं विहरत्सु तेषु नारायणो भक्तिपराङ्मुखानाम् ।
शब्दादिभोगप्रवणेन्द्रियाणां अज्ञानिनां मोहमपाकरिष्यन् ॥ १७ ॥

श्रीवामनक्षेत्रपुरे कदाचित्संयोज्य शौरिर्भगवानकस्मात् ।
अनभ्रवृष्टिं निशि कल्पयित्वा प्रावेशयत्संकटदेहलीं तान् ॥ १८ ॥

इस प्रकार ये तीनों योगी पृथ्वी पर विचर रहे थे। तब भगवान् नारायण श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भक्ति से विमुख और शब्दादि विषयों में आसक्त इन्द्रियवाले लोगों के मोह को मिटाना चाहते हुए तदर्थ, एक बार अकस्मात्

रात को वामनक्षेत्र में बिना बादल के मूसलधार वर्षा का संयोग जुटाकर उन तीनों को एक किसी मकान की संकरी ड्यौढी में प्रविष्ट कराया। तात्पर्य यह कि एकाएक ये तीनों योगी संयोगवश उस तंग ड्यौढी में इकट्ठे हुए ॥ १७, १८ ॥

अपीडयत्सादरमम्बुजाक्षः तानिक्षुखण्डानिव तत्र गत्वा।
रसोत्तरैस्सूक्त्यमृतैश्च तेषां सञ्जीवयिष्यन् भवतप्तमर्त्यान् ॥ १९ ॥

जैसे कोलू में ईख के टुकडे पेरे जाते हैं इसी तरह इन तीनों के बीच में भगवान् प्रकट होकर इन्हें मसलने लगे। भगवान् का बीच में निकलने का प्रयोजन यह था कि इनको कष्ट देने से स्तोत्ररूपी रसामृत निकले जिससे भव से सन्तप्त मनुष्यों का संजीवन हो ॥ १९ ॥

परस्परं तत्र निपीड्यमानाः सरोमुखाः कोऽस्त्यपरोऽस्मदन्यः।
इति प्रदीपान् परवस्तुरूपप्रकाशकांस्ते पृथगेव चक्रुः ॥ २० ॥

सरोमुखादिक तीनों आपस में पिसते हुए कहने लगे कि हम तीनों से भिन्न चौथा कौन कहां से आ गया। इसी विचार में इन तीनों ने परवस्तु के रूप के प्रकाशक अपने अपने भिन्न भिन्न प्रदीप लगा लिये, जिनसे वे चौथे को देख लें जो अचानक ही प्रकट होकर इन्हें पेल रहा था ॥ २० ॥

भास्वत्प्रदीपं प्रथमोऽपरोऽपि ज्ञानप्रदीपं चरमोऽनुभूतिम्।
वितेनिरे ते भगवान् स तावत्स्वविश्वरूपं प्रकटीचकार ॥ २१ ॥

एक ने सूर्य को अपना दीपक बनाकर देखा, दूसरे ने ज्ञानदीप से देखा और तीसरे ने अनुभूति को ही अपना दीपक बनाकर अपने से चौथे को देखा। इतने में भगवान् ने अपना विश्वरूप प्रकट कर दिया ॥ २१ ॥

निर्वर्ण्य तं ते परमानुभूतिप्रतारितान्तःकरणाः प्रबन्धान्।
कृत्वा पृथक् सर्वजनावनाय योगं समास्थाय पुनर्विचेरुः ॥ २२ ॥

उन्हों ने विश्वरूप भगवान् के निरन्तर दर्शन लिया, भगवान् के परमानुभव से अन्तःकरण उनके ठगाये गये। (इससे उनके अनुभव पहले से भी बहुत अधिक बढ गये) जिससे उन्होंने सर्व साधारण जीवों के कल्याण के लिए भिन्न-भिन्न स्तोत्र रचे। और पीछे वे तीनों योग करते हुए विचरने लगे ॥ २२ ॥

श्रीभक्तिसार सूरि का अवतार

अथास्ति काञ्चीपुरपूर्वभागे पयोनिधेः पश्चिमपारसीम्नि ।
भूमोदयामोदित जीवलोको ग्रामो महीसार इति प्रतीतः ॥ २३ ॥

श्रीकाञ्चीपुरी के पूर्व तथा समुद्रतट के पश्चिम महीसार नामक एक ग्राम है, जहां के प्राणी भूमा के उदय से आनन्दित हैं। (भूमा निरतिशय आनन्द को कहते हैं, इसका उदय योगियों तथा विरक्तों के हृदय में ही होता है। महीसारपुर के निवासी सब ही इस आनन्द का भोग करते थे, यह कवि का कथन है।) ॥ २३ ॥

चिरन्तनानां शिखरेषु वाचां निरन्तरं कन्दलितापदानः ।
त्राणाय यस्मिन् जगतां त्रयाणां नारायणोऽर्चाकृतिराविरासीत् ॥२४॥

वेदान्तों में जिनके महत्वपूर्वक चरित्र या गुण निरन्तर गाये जाते हैं, वह नारायण भगवान् तीनों लोकों की रक्षा के लिए जहां अर्चावतार लेकर आविर्भूत हैं ॥ २४ ॥

पदं प्रपित्सुः परमं महर्षिः तत्तादृशानां तपसां प्रभावात् ।
तदन्तिके भार्गवनामधेयः तपोवनं पावनमाससाद ॥ २५ ॥

उसके समीप भार्गवनाम के एक महर्षि जो भगवान् को मिलनेवाले तप कर रहे थे, एवं उन्हीं तपस्याओं के प्रभाव से परमपद की प्राप्ती की इच्छा रखते थे, वे स्वतः पवित्र तथा दूसरों को पवित्र करनेवाले तपोवन में आ गये ॥ २५ ॥

शिखावलाः कुण्डलिभिर्मृगेन्द्राः मदावलैर्व्याघ्रगणाः कुरङ्गैः ।
विहाय सर्वेऽपि मिथो विरोधं शरारवो यत्र चरन्ति सत्वाः ।। २६ ।।

इस तपोवन में भार्गव के तप के प्रभाव से मयूर सर्पों के साथ तथा सिंह हाथियों के साथ एवं वाघ मृगों के साथ विरोध छोडकर रहते थे तथा और भी जो हिंसक जीव हैं वे सब आपस के स्वाभाविक वैरभाव को छोडकर स्वच्छन्द विचरते थे ।। २६ ।।

तपोनिधौ भार्गवनाम्नि तत्र तपोविशेषाचरणप्रवीणे ।
विशङ्कमानस्स्वपदव्यपायं विवृद्धमन्युश्शतमन्युरासीत् ।। २७ ।।

भार्गव के तप विशेष के उच्च आचरणों से इन्द्रदेवता को यह शङ्का हुई कि कहीं मुझे ये मेरे पद से च्युत करके मेरा पद न ले लें, इसीसे (सौ यज्ञ करनेवाले) एवं सैकडों दैत्यों पर क्रोध रखनेवाले इन्द्र का क्रोध तपोनिधि भार्गव पर बढ गया ।। २७ ।।

तपोविघातं तरसा विधातुं तपोनिधेस्तत्र सहस्रनेत्रः ।
विशारदां योगिसमाधिभङ्गे सुराङ्गनां काञ्चन सन्दिदेश ।। २८ ।।

इन्द्र ने तपोनिधि भार्गव के तप को शीघ्र ही नष्ट करने के लिए किसी देवाङ्गना को आज्ञा दी, जो योगियों की समाधि भङ्ग करने में बडी ही चतुर थी ।। २८ ।।

अज्ञापिता गोत्रभिदाऽऽप्सरस्त्री तपोवनं प्राप्तवती तदीयम् ।
आलोकनेन ह्रियमाकुलानां आपादयन्ती हरिणीकुलानाम् ।। २९ ।।

इन्द्र ने जिस अप्सरा को आज्ञा दी थी वह भार्गव के तपोवन में पहुंच गयी । वहां प्रवेश करते ही अपनी आखों की पैनी तथा सुन्दर चितवन से हिरणियों के झुंड को भी घबरा दिया । तात्पर्य यह है कि कवि आंखों को मृग के नेत्रों की उपमा दिया करते हैं, पर उसके सामने मृगों के वे नेत्र भी मात थे । यह कवि का आशय है ।। २९ ।।

पत्युस्सुराणां प्रमदं विधित्सुः तपोधनस्याग्रभुवं समेत्य ।
मनो विकर्तुं महिला तदीयं व्यरीरचद्विभ्रमचेष्टितानि ॥ ३० ॥

देवताओं के राजा इन्द्र को सन्तुष्ट करने की इच्छावाली वह अप्सरा तपोधन भार्गव के सामने के (मैदान में आकर) उनके मन को विकृत करने के लिए यानी मोहने के लिए विलास यानी भावभङ्गी चेष्टाएं रचने लगी ॥ ३० ॥

सा स्रस्तधम्मिल्लनिबन्धनेन सविभ्रमभ्रू समुदञ्चनानि ।
विलासहासेन सह व्यतानीत् विलोचनद्वन्द्वविवर्तनानि ॥ ३१ ॥

वह अप्सरा बिखरे हुए केशपाश को बांधती जाती थी तथा प्यारे के समीप जाने पर जैसे स्त्रियां देखा करती हैं वैसे ही देखते हुए हंसती भी जाती थी। उत्कट प्रेम के कारण हुई जो चित्त की चञ्चलता उसको दिखाती हुई भोंहें ताने हुई थी। भार्गव की ओर दोनों चञ्चल नेत्रों को फिरा रही थी। ३१ ॥

विलासभङ्गीविवृतोत्तरीयपटान्तरालक्ष्य पयोधरश्रीः ।
योगान्तरे तस्य मनस्सुरस्त्री जहार बृन्देन सहेन्द्रियाणाम् ॥ ३२ ॥

जिस ओढनी को वह छाती के ऊपर ओढे हुए थी वह इसके इधर उधर के विलासों से जब कुछ हट जाता था, तब उसके स्तनभार की शोभा दिखाई देने लगती थी, तो भी पयोधरों की पूर्ण शोभा अलक्ष्य ही रहती थी। इस तरह उस सुरस्त्री ने समाधि के उतार के समय भार्गव का मन इन्द्रियगण के साथ ही हर लिया ॥ ३२ ॥

अवेक्ष्यमाणस्य मुनेः पुरस्तादमर्त्ययोषावपुराभिरूप्यम् ।
अभूत्तदान्तःकरणेऽनुरागः शरारुपञ्चेषु कृतावतारे ॥ ३३ ॥

उस समय सामने उपस्थित इस सुराङ्गना के शरीर की सुन्दरता देखनेवाले भार्गवमुनि के अन्तःकरण में पैने तीर चलानेवाले कामदेव का उदय होने पर अनुराग उत्पन्न हुआ ॥ ३३ ॥

विहाय योगान् विषमेषुविद्धं मनो मुनेस्तस्य मरुत्तरुण्याम् ।
आसक्तिमापद्यत कौशिकस्य मनोहरायामिव मेनकायाम् ।। ३४ ।।

जिस तरह विश्वामित्र का मन योग को छोडकर मनोहर मेनका में आसक्त हो गया था, उसी तरह काम के तीरों से बिंधा हुआ भार्गव का मन भी योग को छोडकर इस देवाङ्गना में आसक्त हो गया ।। ३४ ।।

सा गर्भमाधत्त मुनेस्सुरस्त्री सुदर्शनांशेन तदानुविष्टम् ।
पपात गर्भो भुवि तैष्यमासे मखाभिधाने महनीयतारे ।। ३५ ।।

उस देवाङ्गना ने भार्गव से गर्भधारण किया । तब उस गर्भ में सुदर्शन भगवान् का ही अंश प्रविष्ट हुआ था। वह गर्भ पौष महीने के मखा नक्षत्र में भूमि पर गिरा ।। ३५ ।।

निक्षिप्य तस्यान्तिकवेत्रगर्ते गर्भं तमुल्बावृतमुल्बणाभम् ।
यथागतं दिव्यवधूर्जगाम मुनिश्च तीर्थाभिनिषेवणाय ।। ३६ ।।

वह अप्सरा देपीप्यमान एवं जेर से ढके हुए उस गर्भ को भार्गव के इस स्थान के समीप के बेत के गड्ढे में फेंक डाला और जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी और भार्गव मुनि भी तीर्थाटन के लिए चल दिये ।। ३६ ।।

गर्भस्स कालेन विभिद्य पेशीं गर्ते गरुत्मानिव डिम्बरूपः ।
स्तन्याभिलाषेण ततः क्षुधार्तः स्वैरं व्यरोदीद्विजने प्रदेशे ।। ३७ ।।

वह समय आने पर पेशी फोड कर बाहर निकल आया जैसे बालक गरुड अपने समय पर पेशी को फोड कर वाहर निकल आये थे । जन्मते वच्चे को भूख बडी लगती है इसे भी भूख लगी जिससे उसी बेत के गड्ढे में पडा पडा रोने लगा । इस निर्जन स्थान में रोने से रोकने-वाला तो कोई था ही नहीं, इससे इसके रोने में कोई अडचन भी न पडी, स्वच्छन्द रोता रहा ।। ३७ ।।

नाथो महीसारपुरस्य विष्णुर्बालं रुदन्तं तमुपेत्य तत्र ।
कटाक्षपातैः करुणामृतार्द्रैः आप्याय्य सद्योऽन्तरधात्स भूयः ।। ३८ ।।

महीसारपुर के नाथ विष्णुभगवान् रोते हुए उस बालक के पास आ गये, करुणा के अमृत से भीगे हुए अपने कटाक्षपात उस बालक पर करके शीघ्र ही अन्तर्धान हो गये। जिससे उसकी भूख मिट गयी और उसका रोना वन्द हो गया ॥ ३८ ॥

स्तनन्धयस्तद्विरहासहिष्णुः भूयोऽप्यरोदीत्स यथाऽञ्जनेयः।
तत्रागता वेत्रविलावहेतोः तज्जीविनश्शुश्रुवुरार्त्तनादम् ॥ ३९ ॥

यह वालक भगवान् के विरह को न सह सका, हनुमान्जी की तरह फिर भी रोने लगा। वहां कुछ वेंत की डाली आदि बनानेवाले और उसीके द्वारा अपना जीविका-निर्वाह करनेवाले लोग आ गये और उस वच्चे का करुण रोदन सुनने लगे ॥ ३९ ॥

बैडालमाशङ्क्य रवं तदीयं स्वभाषया पाक इति ब्रुवाणाः ॥
ते गर्तमागत्य शिशुं विलोक्य संगृह्य पाकाह्वयमेव चक्रुः ॥ ४० ॥

वे इस वालक की आवाज को बिल्ली की आवाज समझ कर अपनी भाषा में 'पाक' यह कहते हुए उस वेत्र के गर्त में आये तो वहां उन्होंने वच्चे को देखते ही गोद में उठाकर 'पाक' नाम रख दिया ॥ ४० ॥

नीत्वा गृहं भार्गवमाशु तं ते प्रादुर्वधूभ्यः परिपोषणाय।
अवर्धयन्नानकदुन्दुभिं ताः गोप्यः पुरा नन्दकुले यथैताः ॥ ४१ ॥

उन्होंने उस भार्गवीय को शीघ्र ही घर लाकर लालन-पालन करने के लिए अपनी वहुओं को दे दिया। पहले जैसे नन्दकुल में गोपियों ने भगवान् को पाल-पोसकर सयाना किया था, उसी तरह ये सव इस भार्गवीय को भी लालन-पालन करके वडा करने लगी ॥ ४१ ॥

उवास तत्रैव जनार्दनस्य दयासुधास्वादनवर्धमानः।
स्तन्यादिभोज्येषु निराश एव न वाचमूचे न रुरोद वालः ॥ ४२ ॥

ये स्तन का दूध तथा और कुछ भी नहीं पीते थे तथा न कुछ खाते ही थे एवं न बोलते और रोते थे। वेत्रगर्त्त में सब से पहले रोती वार

जो भगवान से कृपाकटाक्ष का पान किया था, उसी समय के पीये हुए कृपाकटाक्षरूपी अमृत से ये बढते थे और वहीं रहने लगे ॥ ४२ ॥

सुपर्वकान्तोदरलब्धजन्मा यथैव मैत्रावरुणिस्स बालः ।
ज्ञानोदयप्राप्तसमस्तकामः भस्मावृतो वह्निरिवास्त तत्र ॥ ४३ ॥

जैसे उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले वसिष्ठजी जन्म से ही पूर्ण ज्ञानी होने के कारण सबसे निस्पृह थे, उसी तरह वह बालक भी ज्ञान के उदय से समस्त इच्छित पदार्थों को प्राप्त था और जैसे राख में अग्नि ढकी हुई हो उसी तरह वहां ढका हुआ था ॥ ४३ ॥

ततो महीसारपुराधिवासो प्राज्ञो महान् कश्चन शूद्रवृद्धः ।
श्रुत्वाऽद्भुतं तस्य शिशोरुदन्तं द्रष्टुं तमायात्तनयेन रिक्तः ॥ ४४ ॥

इसके बाद महीसारपुर का रहनेवाला परम बुद्धिमान् और वृद्ध शूद्र व्यक्ति उस बच्चे का अद्भुत वृत्तान्त सुन कर देखने के लिए चला आया । इस शूद्र के कोई लडका नहीं था ॥ ४४ ॥

प्राप्यालयं शूर्पकृतस्स बालसनाथितं क्षीरमयोपहारः ।
दृष्ट्वा शिशुं तत्र चतुर्थवंश्यो विसिस्मये दिव्यमहोनिधानम् ॥ ४५ ॥

जिस सूर्प बनानेवाले के घर को यह अद्भुत बालक शोभित कर रहा था उसी घर को दूध की भेंट हाथ में लिये हुए वह वृद्ध शूद्र भी पहुंच गया । वह शूद्र बालक को देखकर बडा विस्मित हुआ । यह बालक अलौकिक तेज का निधान था ॥ ४५ ॥

पयः पिबेत्यात्मसमर्पितं तमयाचताङ्घ्र्योः प्रणमन् स भक्त्या ।
स पूरयिष्यन्नभिलाषमस्य पीत्वा पयस्तं विससर्ज भूयः ॥ ४६ ॥

उसने जाते ही भार्गवीय के चरणों में भक्ति के साथ प्रणाम करके 'मेरे लाये हुए दूध पीओ' यह कह कर प्रार्थना की । भार्गवीय ने उस शूद्र की इच्छा को पूरा करने के लिए उसका दूध पीकर छोड दिया ॥ ४६ ॥

एवं स वृद्धः कतिचिद्दिनानि पयःप्रदानात् परितोष्य सम्यक् ।
अभ्येत्य तं वृद्धवधूसमेतः कदाचिदस्मै प्रददौ पयस्तत् ॥ ४७ ॥

इसी प्रकार उस वृद्ध शूद्र ने कुछ दिनों तक बालक भार्गवीय को दूध पिला-पिला भले प्रकार सन्तुष्ट करके एक दिन अपनी स्त्री के साथ आकर दूध का कटोरा उसे दिया ॥ ४७ ॥

पुत्रार्थिनौ तौ मनसा विदित्वा ताभ्यां ददौ पीतपयोऽवशेषम् ।
पीत्वा पयस्तत्तरुणावभूतां तौ दम्पती गर्भमधाच्च शूद्री ॥ ४८ ॥

भार्गवीय ने अपने मन से पुत्रार्थी समझकर उनके लाये हुए दूध को थोडा पीकर शेष उन दोनों को दे दिया जिसे पीकर दोनों ही युवा हो गये, पीछे शूद्रा ने गर्भ धारण कर लिया ॥ ४८ ॥

काले गते सा हरिभक्तिभाजं प्रासूत शूद्री सुधियं कुमारम् ।
तेजस्विना तेन रराज शूद्रा यथा हि माता विदुरेण पूर्वम् ॥ ४९ ॥

उस शूद्री ने गर्भ का समय पूरा हो जाने पर अच्छी वुद्धिवाले परम भागवत कुमार को उत्पन्न किया। वह शूद्रा इस तेजस्वी पुत्र से इस तरह शोभायमान हुई जैसे पहले विदुर की माता विदुर से सुशोभित हुई थी ४९

चकार नाम्ना कणिकृष्णमेनं अशिक्षयत्सर्वकलाश्च तातः ।
सोऽप्याचरन् भार्गवपादसेवां मुकुन्दभक्तिप्रवणो बभूव ॥ ५० ॥

शूद्र के जो पुत्र उत्पन्न हुआ इसका नाम कणिकृष्ण रखा गया। इसके पिता ने इसे अपनी सव विद्याएं सिखायीं। यह भी भार्गवीय के चरणों की सेवा में लग गया और भगवान् की भक्ति के रसास्वादन में तत्पर हो गया ॥ ५० ॥

स भार्गवीयो भगवत्कटाक्षदयासुधास्वादनतृप्तचेताः ।
समुज्झिताहारपयोऽभिलाषः कुले मुदावर्धत वैत्रिकाणाम् ॥ ५१ ॥

भगवान् ने बेंत के गड्ढे में रोते हुए भार्गवीय पर जो कृपाकटाक्ष पात किया था उससे तृप्त मनवाले भार्गवीयने अब दूध पीना भी छोड दिया और वह वेत्राजीवियों के घर में आनन्द के साथ बढने लगे ॥

विचक्षणो विश्वविमोहहेतोः कुलोचिताचारकलानुषक्तः ।
पुण्ये महीसारपुरे विधाय विक्रीय शूर्पं विचचार योगी ॥ ५२ ॥

कोई अनधिकारी विना आधिकारी बने मुझे न जान ले इस विचार से बुद्धिमान् भार्गवीय योगी शूर्पकारों के कुल के उचित आचार की कला में अनुषक्त होकर पवित्र महीसारपुर में ही सूर्प बनाते और बेचते हुए विचर ने लगे। क्योंकि योगियों के लिए शास्त्र की आज्ञा है कि वे अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाये रहें ॥ ५२ ॥

मलीमसे वेश्मनि वैत्रिकाणां कृताधिवासोऽपि स भार्गवीयः ।
स्वतेजसा विश्वविबोधकेन दिवीव देवो दिनकृद्दिदीपे ॥ ५३ ॥

वह भार्गवीय बालक बेंत की टोकरी, सूर्प आदि बना कर जीविका करनेवाले शूद्रों के अत्यन्त मलिन घर में रहते हुए भी विश्व को बोध देनेवाले अपने तेज से इस तरह देदीप्यमान हुए जिस तरह आकाश में दिन के करनेवाले सूर्यदेव विश्व को बोध देनेवाले अपने दिव्य तेज से देदीप्यमान होते हैं ॥ ५३ ॥

क्वचिद्वने क्लृप्तगुहाधिवासः साष्टाङ्गयोगोषितचित्तवृत्तिः ।
स निर्भरज्ञानरविप्रकाशैः अपाचकारान्तरमन्धकारम् ॥ ५४ ॥

कहीं वनगुफा में निवास करते हुए अष्टाङ्गयोग में चित्त की वृत्तियां लगा कर पूर्णज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाशों से हृदय के भीतर के अन्धकार को दूर कर दिया ॥ ५४ ॥

निरुध्य मार्गान्मरुतां निसर्गात् निरर्गलं प्राप्तसमाधियोगः ।
निजां परब्रह्मणि चित्तवृत्तिं निवेशयामास निरन्तरायम् ॥ ५५ ॥

भार्गवीय ने विना किसी परिश्रम के अपने आप प्राणादि वायुओं के आने जाने के मार्ग को रोक कर समाधिदशा को प्राप्त हो चित्तवृत्ति को विना किसी विघ्न के परब्रह्म में लगा दिया ॥ ५५ ॥

इत्थं समास्थाय तपोऽभिवृद्ध्यै स्थानानि सप्त क्रमशस्स योगी ।
पृथक् पृथक् तत्र गुहानिविष्टो मुदा शरत्सप्तशतीमनैषीत् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार योग करते हुए योगी भार्गवीय ने तप की वृद्धि के लिए भिन्न भिन्न सात स्थानों की भिन्न भिन्न गुफाओं में सौ सौ वर्ष के क्रम से सात सौ वर्ष व्यतीत कर दिये ॥ ५६ ॥

ततस्स शैवार्हतबौद्धमुख्यान् बाह्यान् तपस्वी समयान् विगाह्य ।
तदीयभावानुगतश्चिरेण विवेद तत्तन्मततत्वसारम् ॥ ५७ ॥

इसके बाद वह तपस्वी भार्गवीय शैव, जैन, बौद्ध आदि वेदबाह्य दर्शनों का भली भांति अवगाहन करके उन दर्शनों के भावों के अनुगत हो कर बहुत से समय में उन सब मतों के तत्व का सार जान गये ॥ ५७ ॥

वैयासिकं कापिलमाक्षपादं काणादपातञ्जलजैमिनीयम् ।
विज्ञाय शास्त्रं तदनुप्रविष्टः कुदृष्टिसिद्धान्तमपि व्यबोधि ॥ ५८ ॥

व्यासकृत उत्तरमीमांसा, अक्षपाद (गौतम) का न्यायदर्शन, कणाद का वैशेषिक दर्शन, कपिल का सांख्यदर्शन, पतञ्जलि का योगदर्शन तथा जैमिनीय दर्शन यानी पूर्वमीमांसा इन शास्त्रों को जान कर इनमें प्रवेश किया और कुदृष्टियों के* सिद्धान्तों को भी जाना ॥ ५८ ॥

एकैकसिद्धान्तरहस्यमुद्रानिरूपणक्रीडनलम्पटेन ।
महौजसा भार्गवनन्दनेन शतं समग्रं शरदामनायि ॥ ५९ ॥

एक एक सिद्धान्त के गूढ रहस्यों की मुद्रा के निरूपणरूप खेल के व्यसनी परम तेजस्वी भार्गवनन्दन ने सौ सौ वर्ष एक एक मत में बिताये अर्थात् हर एक मत के जानने तथा निरूपण करने एवं उसकी खोज में सौ सौ वर्ष इस भार्गवीय ने लगाये थे ॥ ५९ ॥

शैवादिसिद्धान्तसमर्थितानि समीक्ष्य सर्वाण्यपि दैवतानि ।
विनश्वराणीति विहाय तानि सद्वैष्णवं दर्शनमाससाद ॥ ६० ॥

---

* वेद के यथार्थ अर्थ न कर के मनमाने अर्थों से परिकल्पित मतों को वैदिक कह कर प्रचार करनेवाले 'कुदृष्टि' कहलाते हैं ।

शैव आदि दर्शनों के सिद्धान्त जिन देवताओं का समर्थन करते हैं उन सब देवताओं को इन्होंने विनश्वर समझा, इस कारण उन दर्शनों को छोडकर सद्वैष्णव दर्शन को प्राप्त हुए ॥ ६० ॥

स वैष्णवं वेदशिरोरहस्यनिदर्शनं दर्शनमीक्ष्य साक्षात् ।
तन्मन्यमानः परतत्वमुद्राप्रकाशकं तत्प्रवणो बभूव ॥ ६१ ॥

यह भार्गवीय वैष्णव दर्शन को साक्षात् वेदान्त रहस्यों को अच्छी तरह दिखानेवाला समझकर और उसे परतत्व का प्रकाशक मानकर उसीमें पूर्ण रूप से लग गये ॥ ६१ ॥

तपोनिधिस्तत्र समस्तलोकनिदानमालोक्य पतिं रमायाः ।
निवेशयामास विशेषभक्तिं परस्य तस्याङ्घ्रिसरोजयुग्मे ॥ ६२ ॥

वहां तपोनिधि भार्गवीय ने सब लोकों के आदि कारण रमापति भगवान् को जान कर उसी परब्रह्म परमात्मा के युगल चरणकमलों में अत्यन्त भक्ति की ॥ ६२ ॥

साष्टाङ्गयोगं सहसा प्रपद्य सनातनं योगवतां वतंसः ।
तमेव हेतुं जगतां त्रयाणां विभावयामास स भार्गवीयः ॥ ६३ ॥

योगवालों के भूषण भार्गवीय ने अष्टाङ्गयोग को प्राप्त कर सनातन तीनों लोकों के कारण विष्णु भगवान् को ही ध्यान किया ॥ ६३ ॥

नारायणो भार्गवनन्दनस्य तदीयचेतोनलिनद्विरेफः ।
तदा दयालुस्सविभूतिकं स्वं सन्दर्शयामास स विश्वरूपम् ॥ ६४ ॥

उसी समय उसके हृदयकमल के भौंरा बने हुए दयालु नारायण भगवान् ने भार्गवनन्दन को अपना विभूति सहित विश्वरूप दिखा दिया ॥ ६४ ॥

अवेक्ष्य भक्तिं परमां तदीयां यदा दयालुर्भगवानमुष्मै ।
अदर्शयत् श्रीपतिरात्मरूपं तदा स नाम्नाऽजनि भक्तिसारः ॥ ६५ ॥

जब भार्गवीय की परम भक्ति देखकर दयालु लक्ष्मीपति भगवान् ने इन्हें अपना आत्मरूप दिखाया, तब से ही इन भार्गवीय का 'भक्तिसार' नाम पड गया ॥ ६५ ॥

स भक्तिसारो जगतां शरण्यं आनन्दसंदर्शितविश्वरूपम् ।
आलोक्य साक्षादरविन्दनेत्रं अभूत्तदानन्दपयोधिमग्नः ॥ ६६ ॥

वे भक्तिसार, संसार को शरण देनेवाले, आनन्द से विश्वरूप दिखानेवाले और कमलनयन भगवान् को साक्षात् देखकर आनन्द के समुद्र में निमग्न हो गये ॥ ६६ ॥

स एवमूचे हरिसन्निधाने शाक्यार्हताद्यास्समयाः प्रविष्टाः ।
सर्वाणि शास्त्राणि मयेक्षितानि भाग्येन विष्णुं परतत्वमापम् ॥ ६७ ॥

भगवान् के समीप में भार्गवीय ने कहा कि मैं ने बौद्ध, जैन आदि सब के सिद्धान्तों में प्रवेश किया है तथा सब शास्त्र मैं ने देखा हैं, पर भाग्य से परतत्व विष्णु की प्राप्ति हुई है ॥ ६७ ॥

निर्गत्य तस्मात् सहसा प्रदेशात्तपोवनं पावनमन्यदेत्य ।
तपश्चरन्तं गिरिजागिरीशौ अपश्यतां तौ वृषभाधिरूढौ ॥ ६८ ॥

इसके बाद सहसा उस प्रदेश से निकल कर दूसरे किसी पवित्र तपोवन में जाकर तप करने लगे। एक दिन बैल पर चढे हुए श्रीशिव और श्रीपार्वती ने तप करते हुए भक्तिसार को देखा ॥ ६८ ॥

अपृच्छदद्रेस्तनया महेशं अस्मिन् वनान्ते निभृताक्षवृत्तिः ।
कोऽयं तपस्याकुशलस्समास्ते ज्ञात्वैनमेष्याव इतो यथेच्छम् ॥ ६९ ॥

श्रीपार्वतीजी श्रीमहादेवजी से पूछने लगी कि, इस वन के बीच तपस्या में ऐसा कुशल यह कौन हे? जिसने सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोक रखा है और यह कौन योग में निर्द्वन्द बैठा है। इसे जानकर फिर यहां से जहां इच्छा होगी, वहां चलेंगे ॥ ६९ ॥

इति प्रियाया वचनं निशम्य तमाह योगीश्वरमिन्दुमौलिः ।
समागतोऽहं भगवन् महेशो मत्तो वरं प्रार्थय वाञ्छितं त्वम् ॥ ७० ॥

प्यारी पत्नी के ऐसे वचन सुनकर श्रीमहादेवीजी महाराज पार्वती के साथ योगीराज भक्तिसार के पास आकर कहने लगे कि मैं भगवान् महेश आपके पास आया हूं जो चाहो सो मुझसे वर मांग लो ॥ ७० ॥

श्रुत्वा वचस्तस्य स भक्तिसारो विहस्य वव्रे वरमेकमीशम् ।
सूत्रं यथा गच्छति सूचिकायाः मार्गे तथा त्वं कुरु मे प्रसादम् ॥ ७१ ॥

महायोगी भक्तिसार ने श्रीमहादेवजी के वचन सुनकर हंसकर यह एक वरदान मांगा कि सुई के मार्ग से धागा भी निकलता जाय यही मुझे वर दीजिये ॥ ७१ ॥

इति ब्रुवाणं कुपितस्य शंभोः अनंगतां योगिवरं निनीषोः ।
ललाटनेत्रात् प्रससार सद्यो ज्वालाजटालोज्ज्वलनप्ररोहः ॥ ७२ ॥

ऐसे कहते हुए भक्तिसार योगी को अनङ्गता प्राप्त कराने की इच्छा-वाले यानी शरीर रहित करने की या कामदेव की तरह जलाने की इच्छा-वाले श्रीमहादेव भगवान् तीसरे नेत्र से शीघ्र ही ऐसी आग की लपट निकाली जिससे ज्वाला की जटाएं निकलने लगीं ॥ ७२ ॥

समीक्ष्य तं शाम्भवलोचनाग्निं प्रसारयामास पदाम्बुजे सः ।
ज्वलत्कृशानून्यकृशान्यभूवन् तयोस्तदा तादृशलोचनानि ॥ ७३ ॥

भार्गवीय ने श्रीमहादेव के नेत्र से निकली हुई आग को देख कर अपने चरणकमल के अंगूठे पर एक नेत्र उत्पन्न करके उससे अग्नि उत्पन्न की। तब इन दोनों के नेत्रों में बडी प्रचण्ड अग्नि जलने लगी ॥ ७३ ॥

अत्यर्कवैश्वानरमस्य पादचक्षुर्महस्सोढुमशक्नुवानः ।
तच्छान्तिहेतोस्तरुणेन्दुमौलिः स पुष्कलावर्तकमादिदेश ॥ ७४ ॥

भार्गवीय के चरणकमल के अंगूठे के नेत्र से निकली हुई अग्निका तेज सूर्य और अग्नि के तेज से कहीं बढकर था, श्रीशिवजी इसको न सह सके। तब चन्द्रमौली भगवान् ने उस आग को बुझाने के लिए 'पुष्कला वर्तक' नामक मेघ को आज्ञा दी ॥ ७४ ॥

धारालधाराधरजृम्भणेन नारायणासक्तमनःप्रवृत्तिः ।
स भक्तिसारो न चचाल योगी काले यथा प्रावृषि भूधरेन्द्रः ॥ ७५ ॥

यद्यपि वडी वडी मोटी धारावाले मेह वडी वडी मोटी धाराओं से निरन्तर वरस रहे थे, पर तो भी भक्तिसार योगी के मन की प्रवृत्ति नारायण भगवान् में ऐसी लगी हुई थी कि वह अणुमात्र भी विचलित न हुए जैसे वर्षाऋतु की वर्षा से पर्वतराज विचलित नहीं होता ॥ ७५ ॥

विलोक्य तं विस्मयमानचेता हरो भवानीमिति वाचमूचे ।
सुदुर्जया भागवता मया हि रुषाऽम्बरीषस्य जितोऽत्रिपुत्रः ॥ ७६ ॥

महादेव उसको देख चित्त में अचम्भा करके पार्वतीजी से बोले कि भागवत लोग मेरे लिए वडें दुर्जय हैं मैं किसी प्रकार भी उन्हें नहीं जीत सकता। अम्बरीष के क्रोधमात्र से ही दुर्वासा पराजित हो गये थे ॥ ७६ ॥

अथ विषमशरारिर्भक्तिसारस्य तेजः
प्रसरमपरिभाव्यं श्लाघमानो निकामम् ।
सह गिरिवरपुत्र्या शाक्करेन्द्राधिरूढो
निजवसतिमयासीन्निर्जरैर्वन्द्यमानः ॥ ७७ ॥

इसके उपरान्त कामदेव के वैरी श्रीशिव भगवान् जिसका कोई तिरस्कार नहीं कर सकता ऐसे वडे, भक्तिसार के तेज की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए पार्वतीजी के साथ अपने नन्दी नामक वैल पर चढकर देवताओं से वन्द्यमान हो, अपने स्थान को प्रस्थान किया ॥ ७७ ॥

स्वामी रङ्गपतिर्गुरुर्वरवराधीशश्च यस्यातुलो
वाधूलो वरदः पिता वरवरक्षेमेशलक्ष्मीसखः ।
लोकेशा जननी तु तस्य गरुडश्रीवाहन श्रीसखः
काव्ये दीव्यति दिव्यसूरिचरिते सर्गो द्वितीयो गतः ॥

जिनके स्वामी अतुलनीय श्रीरङ्गनाथ हैं, गुरु हैं वरवराधीश, पिता हैं श्रीरङ्गनाथ की आरोग्यशाला के अधिपति होने का सौभाग्यप्राप्त वाधूलवरद, और माता हैं लोकेश्वरी, उस गरुडवाहन श्रीनिवास के बनाये उज्वल दिव्यसूरिचरित काव्य में यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

तृतीयस्सर्गः

श्रीभक्तिसारचरित्र

अथैकदा ब्रह्मणि रूढमानसे पटच्चरं सीव्यति भार्गवात्मजे ।
यदृच्छयागत्य तरक्षुवाहनः समाययौ व्योमपथेन कोङ्कणः ।। १ ।।

एक दिन महायोगी भार्गवीय पुरुषोत्तम भगवान् में मन लगाकर पुराने चिथडं को सी रहे थे कि इतने में कोङ्कण नामक एक योगी सिंह पर सवार आकाश मार्ग से इनके ऊपर अचानक आ पहुंचे ।। १ ।।

स भार्गवीयस्य तपःप्रभावतः तदा तरक्षुर्विनिगन्तुमक्षमः ।
स्थितोऽभवत्तं समवेक्ष्य कोङ्कणः किमेतदित्याकलयत् सविस्मयः ।।२।।

जिस समय वह शेर भार्गवीय के शिर पर पहुंचा उसी समय भार्गवीय के तप के प्रभाव से वह वहां का वहीं खडा रह गया, आगे न चल सका । यह देखकर कोङ्कण को विस्मय हुआ और वह विचारने लगा कि यह क्या हुआ ।। २ ।।

ममाद्य वाहस्य गतेर्निरोधको न कश्चिदभ्रे भुवि के नु योगिनः ।
वसन्त्यधस्तादिति चारयन् दृशौ स भार्गवीयं समलोकयन्मुनिम् ।।

इस समय मेरे शेर की चाल को रोकनेवाला आकाश में तो कोई है नहीं, क्या भूमि में ऐसे कोई योगी हैं ? इस विचार से नीचे की ओर दृष्टि डालकर देखा तो उन्होंने भार्गवीय मुनि को देखा ।। ३ ।।

तदा तरक्षोरवरुह्य स क्षणात् तमन्तरिक्षादभिगम्य भार्गवम् ।
जगाद जीर्णांशुकमद्य सीव्यसि त्यजैतदन्यद्गृज मत्प्रसादतः ।। ४ ।।

तब वह अपने वाहन शेर से उतर कर आकाश से भूमितल पर आ गया, और भार्गव के पास आकर कहने लगा कि अब तुम पुराने कपडे को क्यों सीते हो, इसे छोड दो, मेरे अनुग्रह से दूसरा ले लो ।।४।।

इति ब्रुवन् दिव्यपटेन निर्मितं स वारवाणं मुनये ददौ मुदा ।
अदर्शयत् सोऽपि निजाङ्गनं मणिस्वरूपं द्युमणिप्रभोपमम् ॥ ५ ॥

इस तरह कहते हुए उसने आनन्द के साथ दिव्य वस्त्र से निर्मित एक अङ्गरेखा मुनि को देते हुए कहा, यह लो । यह देख भार्गव ने भी अपने शरीर से लगी हुई सूर्य की प्रभा के समान देदीप्यमान एक मणि उसे दिखायी ॥ ५ ॥

स कोङ्कणः कोटचयसो विभेदिनीं मणिप्रमाणां गुलिकां ददौ पुनः ।
स भक्तिसारश्च निरस्य तां हसन् स्वकर्णविड्भिर्गुलिकां तथाऽकरोत् ॥

उस कोङ्कण योगी ने एक कोटि भार लोहे को सोना वनानेवाली एक मणि जैसी गोली दी । भक्तिसार ने उसे दूर करके अपने कान के मैल से हंसी के साथ गोली वना डाली ॥ ६ ॥

इयं हि कोटचाधिककोटिभेदिनी प्रगृह्यतां मे गुलिकेति शंसिनः ।
स भार्गवीयस्य विनम्य पादयोः ययौ दिवि व्याघ्रगतो मुनीश्वरः ७

और कोंकण से कहा—"यह लो, यह गोली कोटि से भी अधिक लोहे के भारों के सोना वना सकती है लो, इस मेरी गोली को लो।" यह सुनकर शेर पर चलनेवाला मुनीश्वर भार्गवीय के चरणों में प्रणाम कर आकाश मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान को चला गया ॥ ७ ॥

स भक्तिसारोऽपि चिरं गुहान्तरे विहारिभिः प्रत्यर्टवि द्युतिच्छलात् ।
वसन् सरोभूतपिशाचनामभिः सुदूरतो दिव्यदृशा व्यदृश्यत ॥ ८ ॥

जिसके आगे अघोरी कोङ्कण का सिद्धिमद चूरचूर हो गया था वह भक्त भार्गवीय भी अपनी गुफा में घुसकर भगवान का ध्यान करने लग गये । वन वन विहारी सरोयोगी, भूतयोगी और महद्योगी इन तीन योगियों ने दूर से ही भार्गवीय को दिव्य दृष्टि से देखा, तो इन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि यहां कोई दिव्यजोति जगमगा रही है ॥ ८ ॥

महः किमेतन्महनीयमुज्ज्वलं महात्मनः कस्यचिदेधतेऽग्रतः ।
इति ब्रुवन्तौ चरमौ यथागतं गतौ महस्तत्सरसीभवोऽभ्यगात् ॥ ९ ॥

भूतयोगी और महदाह्वय योगी यह कहते हुए कि किसी महात्मा का उज्ज्वल एवं पूजनीय तेज है, जहां जा रहे थे वहां ही चले गये और सरोयोगी वहीं पहुंच गये जहां भार्गवीय बैठे हुए थे ॥ ९ ॥

गुहान्तिकं प्राप्य स दिव्यचक्षुषा समीक्ष्य किं भार्गव वर्तसे सुखम् ।
स भार्गवीयः किमु पद्मसम्भव त्वमागतोसीति मिथस्समूचतुः ॥१०॥

श्रीसरोयोगी गुहा के समीप भार्गवीय को पा अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर बोले कि भार्गवीय सुख से हो न। वह भार्गवीय भी अपनी दिव्य दृष्टि से देख कर बोले कि कमल से उत्पन्न होनेवाले कासार योगीजी, आप आ गये ॥ १० ॥

परस्परं तावभिवन्द्य सङ्गतौ मुदा समालिङ्ग्य सबाष्पलोचनौ ।
उभौ सुखप्रश्नविधेरनन्तरं न्यषीदतां ब्रह्मणि विष्टमानसौ ॥ ११ ॥

इन दोनों योगियों ने आपस में एक दूसरे की वन्दना की। आनन्द के अश्रु जिनके नेत्रों में वह रहे हैं ऐसे ये दोनों परमानन्द से एक दूसरे के साथ हृदय मिला मिला कर आलिङ्गन करके एक दूसरे के सुख की बात पूछकर वैठ गये। इन दोनों का मन हर समय ब्रह्म में लगा हुआ था ॥ ११ ॥

यथा पयोभिः पयसां समागमः यथा मधूनां मधुभिश्च सङ्गमः ।
तथैकरस्यात्प्रणयस्तयोरभून्मुकुन्दचिन्तारसमुह्यदात्मनोः ॥ १२ ॥

जैसे दूध दूध के साथ मिलकर एक हो जाता है। जैसे मधु मधु के साथ मिलकर अभिन्न और एकरस हो जाता है, वैसे ही एकरस होने के कारण इन दोंनों का प्रेम भी ऐसा ही हो गया। क्योंकि इन दोनों के मन भगवान् के ध्यान के रस में सब कुछ खोये हुए थे। यही दोनों का एक स्वभाव था जिससे ये दोनों आपस में मिलकर एक हो गये ॥ १२ ॥

ततः प्रहृष्टौ चरमेतराम्वुधेः तपोधनौ पश्चिमतीरसीमनि ।
मयूरनाम्नो नगरस्य मण्डनं तमोपहं कैरवतीर्थमापतुः ॥ १३ ॥

इसके पीछे दोनों तपोधन योगी परम प्रसन्न हो, पूर्वसमुद्र के पश्चिमी किनारे पर के मयूर नामक नगर के भूषण तथा अज्ञान नष्ट करने वाले कैरव नाम के तीर्थ पर पहुंचे ॥ १३ ॥

तदीयतीराभरणस्य केसरद्रुमस्य मूले कलितास्पदावुभौ ।
समाधिभेदं सरहस्यमास्थितौ समन्वभूतां समयेऽधिकं सुखम् ॥ १४ ॥

इस कैरव तीर्थ के किनारे पर इसके किनारे की शोभा वढानेवाला एक केसर का वृक्ष था, उसीके नीचे इन दोनों ने आसन लगा दिया। उसी जगह फिर दोनों असाधारण समाधि करने लग गये तथा उस समय इन्होंने अधिक सुख का अनुभव किया ॥ १४ ॥

समाधिभेदान् स निशम्य भार्गवः सरोमुखात्तत्प्रमुदस्य दित्सया ।
समाह्वयत्साष्टशतालयाधिपान् रमापतींस्तत्र वृषाद्रिपादिमान् ॥१५॥

भार्गव ने सरोयोगी से समाधि के भेदों को सुनकर इन्हें आनन्द देने की इच्छा से वेङ्कटाचल के अधिप से लेकर एक सौ आठ दिव्यदेशों के विष्णु भगवानों को उसी स्थान पर वुलाया ॥ १५ ॥

बहूनुषित्वा दिवसान् यदृच्छया गते सरोजन्मनि भार्गवात्मजः ।
निजोर्ध्वपुण्ड्राचरणाय निर्मलां अखिद्यतोच्चैरनवाप्य मृत्तिकाम् ॥१६॥

इस प्रकार वहुत दिन तक रह कर स्वेच्छा से सरोयोगी चले गये। पीछे भार्गवीय अपने ऊर्ध्वपुण्ड्र करने के लिए निर्मल मृत्तिका न पाकर, वडे दुःखी हुए ॥ १६ ॥

समागतात्स्वप्नमुखेन विष्टपत्रयीपरित्राणधुरीणवीक्षणात् ।
अवाप योगी निशि वेङ्कटेश्वरात्स मृत्तिकाकुण्डमकुण्ठवैभवः ॥ १७ ॥

तीनों लोकों की रक्षा में परम चतुर कटाक्षवाले वेङ्कटेश्वर भगवान् से रात को स्वप्न में ये पवित्र मिट्टी के कुण्ड का पता पा गये। क्यों कि यह परम भागवत भगवान् की कृपा से अप्रतिहत ऐश्वर्य थे ॥ १७ ॥

ततस्समानीय तपोनिधिश्च तां अनन्यलभ्यामवदातमृत्तिकाम् ।
यथास्थलं केशवपूर्वनामभिः समार्पयद् द्वादशपुण्ड्रकानि सः ।। १८ ।।

इसके उपरान्त तपोनिधि भार्गव ने उस मिट्टी के कुण्ड से अनन्यलभ्य यानी और जगह न मिल ने योग्य श्वेत मृत्तिका ले कर भगवान के नामों के साथ यथास्थान बारह तिलक लगाये ।। १८ ।।

ततो विनिर्गत्य स भार्गवो मुनिः जगाम काञ्चीनगरं मनोहरम् ।
सरस्वतीसिन्धुनिरोधसेतुवच्छयानमासेवत तत्र माधवम् ।। १९ ।।

वह भार्गव मुनि वहां से चलकर मनोहर काञ्ची नगर में पहुंचे। वहां नदी बनकर बहनेवाली सरस्वती को रोकने के लिए बांध की तरह शयनकरते हुए विष्णु भगवान् का दर्शन किया और उनकी सेवा में लगे ।।

निषेव्य तं पन्नगभोगशायिनं गिरा स तुष्टाव कृपाकरं हरिम् ।
तदन्तिकोदारगुहाकृतास्पदो निनाय कालं कणिकृष्णसङ्गतः ।। २० ।।

भगवान् का दर्शन करके उन पूर्वोक्त शेषशय्या पर शयन करनेवाले और कृपा करनेवाले हरिको स्तुति वाणी से करने लगे। पीछे उनके ही समीप बडी गुहा में रहकर कणिकृष्ण के साथ समय व्यतीत करने लगे ।।

विशोध्य काचिज्जरठा गुहामुखं तपस्विनो गोमयवारिसेचनैः ।
सुजातगन्धैः सुमनोभिरक्षतैः अलंचकारानुदिनं समाहिता ।। २१ ।।

कोई बूढो स्त्री तपस्वी भार्गवीय की गुफा के मुंह को झाड बुहार उसे गोबर पानी छिडक लीप देती थी। फिर सुगन्धित फूलों और अक्षतों से सावद्वार को सुशोभित कर दिया करती थी। यह वह काम नित्य वडी धानी के साथ किया करती थी ।। २१ ।।

समाधिमुक्तस्स कदाचिदन्तिके समीक्ष्य वृद्धामभिवृद्धवैभवः ।
जगाद योगी वद किं तवेप्सितं मुदा ददामीति तमाह सा पुनः ।। २ ।।

किसी दिन भार्गवीय ने समाधि के उतार के समय में अपने पास उस वृद्धा को देखा। उसे देखते ही उसकी सब दशा जान गये। इनके

यहां किसी वात की कमी तो थी ही नहीं, सव कुछ समर्थ थे । उस वृद्धा से बोले कि वता तू क्या चाहती है । जो तू चाहती है वह वस्तु मैं तुझे प्रसन्नता के साथ दे दूंगा । इस वाक्य को सुनकर वह वृद्धा बोली ।। २२ ।।

अपास्य वृद्धत्वमपाङ्गवीक्षणात् अनुग्रहो मय्यनवग्रहो यदि ।
प्रदीयतां यौवनसम्पदुज्ज्वला त्वयाऽद्य मह्यं दयमानचेतसा ।। २३ ।।

यदि आपकी मुझपर पूर्ण कृपा हो तो अपने कृपाकटाक्ष से मेरे इस बुढापे को दूर करके मुझे देदीप्यमान यौवनरूपी सम्पत्ति दे दीजिये ।। २३ ।।

वरं वृणानामिति वामलोचनां चकार योगी युवतीं कटाक्षतः ।
विदिद्युते सापि विलासपेशलामवाप्य शोभामतिनिर्जराङ्गनाम् ।।२४।।

वृद्धा इस प्रकार वर मांग ही रही थी कि श्रीभार्गवीय ने अपने कृपाकटाक्ष से उसे उसी समय कटीले नेत्रोंवाली युवती वना दिया।। २४।।

समीक्ष्य तद्राज्यपतिस्तदाकृतिं मनोहरो मन्मथबाणबाधितः ।
ततस्स्वभार्यामकरोद्विलासिनीं न वस्तु रम्यं हरते कथं मनः ।। २५।।

वहां का राजा इस स्त्री का मनोहर शरीर देखकर कामदेव के बाणों से व्यथित हो गया। इसके पीछे उसने इस विलासिनो को अपनी पत्नी वना लिया। क्योंकि सुन्दर वस्तु कैसे मन नहीं हरती ? ।। २५ ।।

अनेहसा भूमिपतिर्महीयसा जगाद देवीं जरसाकुलेन्द्रियः ।
न मानुषीष्वीदृशमस्ति यौवनं कुतो भवत्या ध्रियते समार्जितम् ।।२६।।

वह राजा वहुत दिनों के पीछे बुढापे से असमर्थ होकर अपनी स्त्री से कहने लगा कि तुम्हारे जैसा यौवन मानुषीयों में तो नहीं है । आपने यह यौवन कहां से प्राप्त कर लिया ? ।। २६ ।।

इतीरयन्तं पतिमाह सा मुनेः अवेक्षणात् कस्यचिदात्तयौवना ।
तदीयशिष्यं कणिकृष्णसत्कविं समेत्य सद्यो भविता भवान्युवा ।।२७।।

पति के ऐसा कहने पर वह पति से कहने लगी कि किसी मुनि के कृपाकटाक्ष से मुझे यह यौवन मिला है। उनका शिष्य कणिकृष्ण है जो अच्छा कवि है। उनसे मिलकर आप भी शीघ्र ही युवा बन सकेंगे ॥ २७ ॥

निशम्य तस्या वचनं महीपतिः कवीश्वरं तं कणिकृष्णमाह्वयत् ।
गुरुं तव द्रष्टुमहं समुत्सहे समानयस्वाद्य तमित्युवाच सः ॥ २८ ॥
त्वमद्य पद्यं निरवद्यमादरात् कवीन्द्र किञ्चित्कथयस्व मत्कृते ।
इतीरयन्तं कणिकृष्णसत्कविः जगाद रोषादरुणीकृतेक्षणः ॥ २९ ॥

उस राजा ने उस स्त्री के वचन सुनकरके कवीश्वर कणिकृष्ण को बुलवाया, उसके आने पर राजा ने निवेदन किया कि मैं आपके गुरु को देखना चाहता हूं, उन्हें ले आओ। आप मेरे लिए कोई मेरे विषय की अच्छी कविता सुनावें। राजा के ऐसा कहने पर कणिकृष्ण क्रोध से लाल लाल आखें करके कहने लगे ॥ २८, २९ ॥

विना हरिं स्तोतुमिहान्यमीहते न मानुषं वा न च देवतान्तरम् ।
मदीयवाणीनियमो महानयं गुरुश्च मे नान्यगृहान् समेष्यति ॥ ३० ॥

मेरी वाणी विना हरिभगवान् के दूसरे की स्तुति करने की चेष्टा भी नहीं करती। न वह किसी मनुष्य की कभी स्तुति ही कर सकती है, और न किसी दूसरे देवता की ही स्तुति कर सकती है। मेरी कविता का यह एक बडा भारी नियम है तथा मेरे गुरु भी किसीके मकान पर नहीं जाते आते ॥ ३० ॥

तदीयमाकर्ण्य वचो नराधिपः समाबभाषे परुषं रुषा ततः ।
मदीयराज्यादविलम्बितं भवान् प्रयातु साकं गुरुणापि साम्प्रतम् ।३१।

राजा कणिकृष्ण के ऐसे वचन सुनकर क्रोध के मारे कठोर वचन बोला कि इसी समय शीघ्र ही आप मेरे राज्य से अपने गुरु को भी साथ लेते हुए निकल जायें ॥ ३१ ॥

इति क्षितीशेन समीरितस्स्वयं स भक्तिसारं प्रणिपत्य योगिनम् ।
निवेद्य वृत्तान्तमिमं प्रचक्रमे ततः प्रयातुं कणिकृष्णकोविदः ।। ३२ ।।

जब राजा ने उससे ऐसा कह दिया तो फिर अपने स्थान में आ भक्तप्रवर योगिराज भक्तिसार के चरणों में पडकर सब वृत्तान्त कह सुनाया। पीछे विद्वान् कणिकृष्ण चलने की तैयारी करने लगे ।। ३२ ।।

स गन्तुकामं कणिकृष्णमब्रवीत् तवानुयास्याम्ययनं जवादहम् ।
अथाच्युतो मामनुयास्यति ध्रुवं ततोऽनुयास्यन्ति तमेव देवताः ।।३३।।

जाने की इच्छावाले कणिकृष्ण से श्रीभार्गवीय ने कहा कि मैं भी वेग के साथ तेरे पीछे पीछे चलता हूं। यह निश्चय है कि मेरे पीछे यहां के रहनेवाले भगवान् भी आवेंगे। इसके वाद उनके पीछे पीछे सब देवता आ जायंगे, इसमें कोई सन्देह न समझना ।। ३३ ।।

इतीरयित्वा सहसा समुत्थितः स भक्तिसारो भगवन्तमच्युतम् ।
जगाद काञ्चीनगरस्य नायकं भुजङ्गमाधीश्वरभोगशायितम् ।। ३४ ।।
प्रयाति रोषात्कणिकृष्णकोविदः तमन्वगेमि त्वमिहास्पदं त्यजन् ।
फणीन्द्रतल्पं परिगृह्य मामनुव्रजेति पद्यं स विधाय निर्ययौ ।। ३५ ।।

भक्तिसार योगी कणिकृष्ण से ऐसा कह कर झट उठे और शेष भगवान् के शरीर पर शयन करनेवाले काञ्ची नगरी के नायक अच्युत भगवान् से कहने लगे कि—'हे भगवन्! विद्वान् कणिकृष्ण, क्रोध से जा रहा है। मैं भी उसके साथ साथ जाऊंगा, आप भी इस स्थान को छोड कर अपनी शेषशय्या को साथ लेकर मेरे साथ चलो।" इस आशय का पद्य सुनाकर योगीराज भार्गवीय चल दिये ।। ३४, ३५ ।।

तदाऽनुयाते तमशेषदैवतैः सहापरं ग्राममहीन्द्रशायिनि ।
तमोमयं विश्वमवेक्ष्य सव्यथः स्वदोषतो भूपतिरप्यथान्वगात् ।। ३६ ।।

भक्तवत्सल को साथ चलने में देर क्या थी। झट चल दिये। जब संपूर्ण देवताओं को साथ में ले शेषशायी भगवान् दूसरे ग्राम जा रहे थे। उस राजा के राज्य में सब जगह अन्धकार ही अन्धकार हो गया। जिसे देख-

कर इसे बडा दुःख हुआ । उसने इस सब बखेडे का कारण अपने ही दोष को समझा, इसके बाद यह भी उनके पीछे पीछे हो गया ।। ३६ ।।

स भक्तिसारं कणिकृष्णमानमन् क्षमस्व मद्दोषमिति प्रसादयन् ।
महीपतिस्तौ मुदितौ न्यवर्तयत्समस्तदेवैश्च सहाहिशायिनम् ।। ३७ ।।

राजा ने भक्तिसार और कणिकृष्ण को अच्छी तरह प्रणाम करके कहा कि मेरे अपराध को क्षमा करो। भक्तराज तो दयालु थे ही, दोनों गुरु-चेले काञ्ची को लोट चले। सब देवताओं के साथ शेषशायी भगवान् भी अपने भक्तों के पीछे पीछे चले आये। इस प्रकार उस राजा ने सभी लोगों को लौटा लाया ।। ३७ ।।

पुनर्निवृत्तः कणिकृष्णकोविदः स भार्गवः काञ्च्यधिनाथमाधवः ।
इह त्वमास्तीर्य भुजङ्गसंस्तरं कुरुष्व निद्रामिति पद्यमातनोत् ।।३८।।

प्राज्ञ कणिकृष्ण फिर काञ्ची को लौट आये तो श्रीभार्गवीय भी काञ्ची चले आये। एवं काञ्ची के नाथ भगवान् भी पहुंच गये। काञ्ची में आकर भार्गवीय ने काञ्चीनाथ से पद्य बना कर कहा कि यहीं, आप शेषनाग का बिस्तर लगाकर नींद लें ।। ३८ ।।

तथेति गत्यागतिसूचनादधः स्वसव्यबाहुं परिधाय माधवः ।
यतोऽधिशिश्ये भुजगेन्द्रसंस्तरं तदुक्तकारी स इतीर्यते जनैः ।। ३९ ।।

शेषशायी भगवान् अपने आने-जाने की सूचना देने को अपना बायां हाथ शिर के नीचे दबाकर भार्गवीय के कथनानुसार शेषशय्या पर सो गये। इस कारण उस दिन से इन्हें लोग यथोक्तकारी भगवान् के नाम से पुकारने लगे ।। ३९ ।।

स भक्तिसारो निजमानसाद्बहिर्विनिस्सृतां भक्तिमिवात्तविग्रहाम् ।
कृतिं त्रिलोकोपकृतेः कृते तदा मुरद्विषो द्राविडभाषयाऽकृत ।। ४० ।।

उन श्रीभक्तिसार ने तीनों लोकों के उपकारी श्रीमुरारी भगवान् के विषय में द्राविड भाषा में कविता की जो भक्तिरस से इतनी सनी हुई थी

मानो भक्तिसार के हृदय से निकलकर भक्ति ने ही कविता का कलेवर धारण कर लिया है ॥ ४० ॥

स तत्र नीत्वा तपसा महीयसा समुज्ज्वलस्सप्तशतीमनेहसाम् ।
विधाय भक्त्या हृदि निर्ययौ स्थितं शयानमासीनमपीन्दिरापतिम् ॥

इन्होंने वहां ही महान् तप करके सात सौ वर्ष बिताये। पीछे अपनी भक्ति की शक्ति से स्थित सोते और बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान को हृदय में बिठाकर चल दिये ॥ ४१ ॥

विगाह्य चोलेन्द्रभुवं तपोधनो मधुद्विषद्भक्तिमनोज्ञमानसः ।
कवेरजातीरविशेषभूषणं स कुम्भघोणं मुदितस्समासदत् ॥ ४२ ॥

प्रणम्य भक्त्या परया स भार्गवः चिरादतृप्तामृतनामसंज्ञकम् ।
त्रिविष्टपत्राणचणं व्यजिज्ञपत्फणीन्द्रपर्यङ्कशयं श्रियःपतिम् ॥ ४३ ॥

विभो किमर्थं वद कुण्डलीशितुः तनोषि निद्रामधुनातनौ तनौ ।
किमु त्रिलोकोद्धरणक्रमक्लमात् किमादिदेवद्विषदाहतिक्लमात् ॥४४॥

किमम्बुराशेर्मथनक्रियार्तितः किमु क्षमोद्धारणखेदसंक्रमात् ।
त्रिलोकमानश्रमतो नु दण्डकावनान्तसञ्चारपरिश्रमेण वा ॥ ४५ ॥

मुदा समुत्थाय फणीन्द्रसंस्तरात् जगत्प्रभो नः कथयस्व कारणम् ।
इति ब्रुवाणं मुनिमैक्षताच्युतः शिरस्समुद्धृत्य स भक्तवत्सलः ॥४६॥

तपोधन और मधुसूदन भगवान की भक्ति से मनोहर मनवाले वह भक्तिसार योगी, कावेरी तट के विशेष भूषण कुम्भघोणनामक स्थान में प्रसन्नता के साथ आ विराजे। वहां तीनों लोकों के त्राण में परम प्रवीण और शेषशय्या पर शयन करनेवाले 'अतृप्तामृत' नामवाले लक्ष्मीपति भगवान को उस भार्गव भक्तिसार योगी ने परा भक्ति से प्रणाम कर के उनसे विज्ञापन किया कि—हे स्वामिन्! बताइये तो सही किस लिए सर्पराज शेष के विस्तृत शरीर पर आप नींद ले रहे हैं? तीनों लोकों के उद्धार करने अथवा नापने से जो श्रम हुआ है उसकी श्रान्ति मिटाने को सो रहे हैं या आदिदेव के वैरियों को मारने में जो क्लान्ति हुई है, उसे

दूर करने को सो रहे हैं। क्या समुद्रमंथन क्रिया के कारण जो परिश्रम हुआ उससे थक कर सो रहे हैं या वराहावतार में पृथ्वी का उद्धार करने की क्लान्ति से नींद ले रहे हैं या त्रिविक्रमावतार में धरती नापने की थकावट से सो रहे हैं, या रामावतार में दण्डकवन में पांव-पयादे चलने से थक गये हैं जिससे सोकर थकावट मिटा रहे हैं? हे जगत के स्वामी! शेषशय्या से आनन्द के साथ उठकर हमें कारण तो बताइये, ऐसे कहते हुए मननशील भार्गवीय को भक्तवत्सल अच्युत भगवान् ने सिर उठाकर देखा ॥ ४२, ४३, ४४, ४५, ४६ ॥

निजस्वरूपं सविभूतिकं हरौ विशृङ्खलोद्यत्करुणे विवृण्वति ।
अनन्तवेदान्तविवर्तमातनोत्स्तवाङ्गिरा शार्ङ्गधरस्य भार्गवः ॥ ४७ ॥

जिनकी करुणा विशृंखल होकर उदय होती है वे भगवान् विभूतियों सहित अपने स्वरूप को श्रीभार्गव के लिए दिखलाने लग गये। श्रीभार्गव भी शार्ङ्गधनुष को धारण करनेवाले भगवान् की ऐसी स्तुति करने लगे जो अनन्त वेदान्तों के विवर्त का (रूपान्तर का) विस्तार है ॥ ४७ ॥

मयूरपुर्यामधिकाञ्चि यो मया व्यलोकि देवो भुजगेन्द्रविष्टरे ।
स कुम्भघोणेऽप्यपरोक्षतां गतः तपःफलात् तामरसेक्षणोऽद्य मे ॥४८॥

मयूरपुरी में मैंने जो भगवान् देखे थे, जो मैंने काञ्ची में शेषासन पर देखे थे वही कमलनयन भगवान् तप के फल से इस समय मुझे कुम्भघोण में भी प्रत्यक्ष हो गये ॥ ४८ ॥

इतीरयन् भार्गवनन्दनो मुनिः निनाय तस्मिन् निभृताक्षविभ्रमः ।
अनेहसां सप्तशतद्वयं ततः ययौ महाव्याघ्रपुरं यदृच्छया ॥ ४९ ॥

इस प्रकार भगवान् के सामने कहते हुए सदा की भांति जितेन्द्रियत्व के साथ उसी जगह चौदह सौ वर्ष भगवान् के भजन-ध्यान में व्यतीत किये। पीछे अपनी इच्छा से महाव्याघ्रपुर चले गये ॥ ४९ ॥

तमापतन्तं प्रतिवीधि योगिनं विचिन्त्य शूद्रं कृतशूर्पविक्रयम् ।
विहाय वेदाध्ययनक्रियादरं द्विजातिबाला दधतिस्म मौनिताम् ॥५०॥

गली-गली विचरनेवाले एवं सूप वेचनेवाले योगी भार्गवीय को (साधारण मनुष्य क्या समझ सकते थे। ये तो वडों बडों के लिए रहस्य बने हुए थे।) शूद्र मानकर वेदपाठ करते हुए द्विजाति के बालकों ने वेद पढना छोडकर मौन ग्रहण कर लिया, सोचा कि जब यह शूद्र यहां से आगे निकल जाय, तव पाठ करेंगे ॥ ५० ॥

विमाननाद्योगिवरस्य ते श्रुतेः विमुक्तशेषप्रतिभाविवर्जिताः ।
तमन्वयुस्तत्प्रतिबोधसिद्धये स कृष्णशालिं नखदारितं व्यधात् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार वेदाध्ययन वन्द करके जो भार्गवीय का अपमान किया था उससे उन्हें यह याद न रहा कि कहां से पढना छोडा है। यह जानने के लिए वह फिर योगिराज के पीछे दौडे तो योगिराज ने उन्हें याद दिलाने के लिए काले शालियों की एक वाल नखों से तोडकर उनकी तरफ फेंक दी और आगे चल दिये। भार्गवीय के ऐसा करने से लडकों को अपने पाठ की याद आ गयी कि "कृष्णानां व्रीहीनाम्" तक पाठ छोडा है। तब वे फिर पाठ करने लगे ॥ ५१ ॥

वितन्वति ग्रामपतेस्तदार्हणां हरेर्द्विजेन्द्रे हरिपादनामनि ।
स यत्र योगी विचचार तत्र तं ददर्श वक्त्रं परिवृत्य माधवः ॥५२॥

जिस समय हरिपाद नामक ब्राह्मण व्याघ्रपुर के अधीश्वर भगवान् की पूजा कर रहे थे उसी समय योगीराज भार्गवीय मन्दिर के सामने होकर निकले जिधर वह गये थे उधर को ही भगवान् गर्दन फेरकर देखने लग गये ॥ ५२ ॥

सविस्मयस्तं परिवृत्तकन्धरं विलोक्य विष्णुं हरिपादकोविदः ।
सभक्तयः केऽपि चरन्ति योगिनः सलीलमत्रेति बहिर्विनिर्गतः ।।५३।।

विद्वान् हरिपाद ने गर्दन फेरे हुए विष्णु भगवान् को देखकर बडा अश्चर्य माना और गर्दन फेरने पर विचार किया कि यहां कोई भक्त योगी विचर रहे हैं। उन्ही योगी को ढूंढने के लिए झट मन्दिर से बाहर निकल गये ।। ५३ ।।

सविष्णुपादस्तमवेक्ष्य योगिनं वितीर्णचक्षुस्सकलासु दिक्ष्वपि ।
उदग्ररोमाञ्चघनां तनुं वहन् उवाच वाचं प्रणिपत्य पादयोः ।। ५४ ।।

भवत्प्रभावं परिवृत्तकन्धरो ममाधुनाऽदर्शयदत्र माधवः ।
मखं प्रवृत्तं प्रतिपद्य मामकं त्वयाऽग्रपूजा प्रतिगृह्यतां मुने ।। ५५ ।।

चारों ओर देखने पर वह योगिराज दिखाई पडे जिन्हें देखते ही इसके शरीर में रोमांच हो गये। ऐसे ही शरीर से इन्होंने महात्मा के चरणों में पडकर कहा कि गर्दन फिरे हुए भगवान् ने आप के प्रभाव को मुझे यहीं दिखा दिया है, यानी आप भगवान् के सामने होकर जिधर गये उधर ही भगवान् ने गर्दन फिराकर देखा। इससे मुझे आप के प्रभाव का पता चल गया। हे मुनिराज! मेरा यज्ञ हो रहा है, आप यज्ञ में पधारकर अग्रपूजा ग्रहण करें ।। ५४, ५५ ।।

इति ब्रुवाणेन स भार्गवः क्रतुं समेत्य सत्रा हरिपादसूरिणा ।
तदर्पितार्घ्यप्रमुखार्हणो बृसीं मनोहरां प्राविशदृत्विजां पुरः ।। ५६ ।।

ऐसे कहते हुए हरिपादसूरि के साथ योगिराज भार्गव उनकी यज्ञभूमि को आये, वहां हरिपादसूरि ने अर्घ्यपाद्य से श्रीभार्गवीय का पूजन किया। पीछे सब ऋत्विजों के आगे कुशासन बिछा दिया, जिसपर यह भक्तराज विराजमान हो गये ।। ५६ ।।

यथाग्रतश्चेदिपमुख्यभूभुजां यदुप्रधानाय ददौ युधिष्ठिरः ।
तथाग्रपूजां हरिपादकोविदो मखे मुनीन्द्राय स ऋत्विजां पुरः ॥५७॥

जैसे युधिष्ठिर महाराज ने शिशुपाल आदि अनेक राजाओं के होते हुए भी यदुवंशियों के प्रधान भगवान् कृष्ण को अग्रपूजा दी थी, उसी तरह विद्वान् हरिपाद ने यज्ञ में सब ऋत्विजों के सामने मुनीश्वर भार्गव को अग्रपूजा दी ॥ ५७ ॥

तथाग्रपूजाकरणेन योगिनः प्रदुद्रुवुस्ते परुषोक्तयो रुषा ।
विहाय वेगेन वितानमृत्विजः विनन्दियन्तो हरिपादकोविदम् ॥५८॥

(जैसे युधिष्ठिरजी के यज्ञ में अग्रपूजा के समय शिशुपाल ने विघ्न किया था वैसे ही) भार्गवीय योगी की अग्रपूजा करने के कारण हरिपाद के यज्ञ के सब ऋत्विज कोप के वश हो उसकी निन्दा करते हुए यज्ञभूमि छोड झट चल दिये ॥ ५८ ॥

अशक्नुवानो मुनिरित्युदीरितां विडम्बनां सोढुमुदारवैभवः ।
प्रकाशयिष्यन् महिमानमात्मनः हरेः स्वपद्यं निरवद्यमातनोत् ॥५९॥

इस कही हुई अपनी विडम्वना को न सहन कर सकनेवाले और उज्ज्वल विभववाले भार्गवीय ने अपनी महिमा को दिखाने के लिए श्रीभगवान् के कुछ निर्दोष पद्य कहे ॥ ५९ ॥

रथाङ्गपाणे भगवन् रमापते सहेलमृत्विग्वचनापनुत्तये ।
मनोरविन्दादिह मामकाद्बहिः प्रकाशयेथास्सविभूतिकं वपुः ॥ ६० ॥

हे चक्र हाथ में रखनेवाले लक्ष्मीपति भगवन्! अनादर के साथ जो ऋत्विजों ने मुझे कटू वचन कहे हैं, उनको दूर करने के लिए मेरे हृदय कमल से निकल कर बाहर इन्हें विभूतिसहित अपने स्वरूप को दिखा दें ॥ ६० ॥

तदा पुनस्तद्भणितेरनन्तरं समाविरासीत्सरसीरुहेक्षणः ।
गदाधनुश्शंखरथाङ्गनन्दकैस्फुरद्भुजश्शेषशयो रमासखः ॥ ६१ ॥

भार्गवीय के कहने पर उसी समय ही कमलनेत्र लक्ष्मीपति शेषशायी भगवान् प्रकट हुए । भगवान् के हाथ गदा, धनुष, शंख, चक्र और नन्दक खड्ग से देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ६१ ॥

विधाय यज्ञं सफलं गदाधरे गते सह ब्रह्मपुरस्सरैस्सुरैः ।
स भक्तिसारोऽपि निषेवितुं हरिं मतिं दधे रङ्गमुखेषु धामसु ॥ ६२ ॥

भगवान् के प्रकट हो जाने पर फिर यज्ञ में क्या कसर थी, वह सानन्द उसी समय पूरा हो गया । पीछे भगवान् ब्रह्मादि देवताओं के साथ अन्तर्धान हो गये । श्रीभक्तिसार ने भी भगवान् की सेवा करने के लिए श्रीरङ्ग आदि धामों को जाने का विचार किया ॥ ६२ ॥

अथ हृदयतः प्रादुर्भूते समस्तजगत्पतौ
परमपुरुषे भक्तिप्रह्वस्य भार्गवयोगिनः ।
विगतकलुषा होतारस्ते प्रणेमुरमुं क्षणात्
अधिगतमतिः को वा न स्याद् गुणेषु कुतूहली ॥ ६३ ॥

भगवान् परमपुरुष की भक्ति से भार्गव योगी के हृदय से समस्त जगत के स्वामी श्रीपुरुषोत्तम के प्रकट होने पर ऋत्विजों का कालुष्य दूर हो गया और झट वे भक्ति से भार्गव योगी के चरणों पर पड गये । जिसे कुछ ईश्वर ने बुद्धि दी है वह ऐसा कौनसा प्राणी होगा जिसे गुणों के विषय में श्रद्धा न उत्पन्न हो ॥ ६३ ॥

तृतीयःसर्गः समाप्तः ।

चतुर्थस्सर्गः

श्रीभगवान् शठकोपसूरिजी का वैभव

अस्ति पूर्वपयोराशेः क्वापि पश्चिमरोधसि ।
मण्डले पाण्ड्यभूपस्य नगरी कुरुकाह्वया ॥ १ ॥

पूर्व समुद्र के पश्चिमी किनारे पर पाण्ड्यराजा के मण्डल में कोई कुरुका नाम की नगरी है ॥ १ ॥

कौरवेण नरेन्द्रेण द्वापरे परिपालिता ।
तदाख्यया या विख्याता ताम्रपर्णीसरित्तटे ॥ २ ॥

द्वापर में इसका परिपालन कौरव राजा ने किया था, इसी कारण यह उनके नाम से प्रसिद्ध है । यह ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर बसी हुई है ॥ २ ॥

ताम्रपर्णी नदी यस्यास्तरलोर्मिकरोद्धृतैः ।
मुक्ताफलैर्वितनुते मुदा पुष्पाञ्जलिश्रियम् ॥ ३ ॥

(ताम्रपर्णी नदी के मुक्ताओं के टुकडे चञ्चल तरङ्गों से बहकर पुरी की ओर आ जाते हैं, जिनसे कुरुकापुरी ऐसी शोभायमान होती है, मानों) ताम्रपर्णी नदी चञ्चल तरङ्गरूपी हाथों से आनन्द के साथ मुक्ताफलों की पुष्पांजलि कुरुकापुरी को भेंट कर रही है ॥ ३ ॥

वेद्यो वेदशिखाविद्भिः श्रीद्योतितभुजान्तरः ।
आद्यो यत्र प्रपन्नार्तिवैद्यो विष्णुः पुरोदभूत् ॥ ४ ॥

वेदान्त के वेत्ता ही जिन्हें जान सकते हैं जिनका वक्षस्थल श्रीमहालक्ष्मीजी से देदीप्यमान रहता है जो इस संसार के सब से आदि कारण है, अपने शरणागतों के दुःख हरने के लिए वैद्य हैं वे विष्णुभगवान् जहां पहले आविर्भूत हुए थे ॥ ४ ॥

मन्दाकिनीविलोलोर्मिमन्दानिलकिशोरकैः ।
आन्दोलिता विराजन्ते यत्र प्रासादकेतवः ।। ५ ।।

इस कुरुकापुरी में बडे-बडे प्रासादों की ध्वजाएं, मन्दाकिनी गंगा की चञ्चल तरङ्गों की मन्द मन्द वायु के छोटे छोटे झोंकों से फहराती हुई विराजमान हो रही हैं ।। ५ ।।

हरिन्मणिमयोत्तुङ्गहर्म्यशृङ्गानुषङ्गतः ।
अकारि भीरुभिर्यस्यामभ्रभ्रान्ततडिद्भ्रमः ।। ६ ।।

जिसमें पन्ने के सघन जडाऊ ऊंचे ऊंचे राजप्रासादों की चोटियां देखकर भयसहित लोग बादल में चमकती हुई बिजली का भ्रम करने लग जाते थे ।। ६ ।।

तत्तत्तपः प्रभावेन प्रत्यक्षितमुरारयः ।
श्रोत्रिया यत्र तिष्ठन्ति द्विजा श्रुत्यन्तवेदिनः ।। ७ ।।

वेदान्त के जाननेवाले आपके अपने अपने तप के प्रभाव से मुरारि भगवान् को प्रत्यक्ष करलेनेवाले वेदान्त के ज्ञाता श्रोत्रिय ब्राह्मण इस कुरुकापुरी में रहते हैं ।। ७ ।।

भगवत्पादयुगलीभक्तिद्योतितचेतसः ।
चातुर्वण्यभवा नित्यं प्रपन्ना यत्र जाग्रति ।। ८ ।।

भगवान् के दोनों चरणकमलों की भक्ति से प्रकाशित हो गये हैं अन्तःकरण जिनके, ऐसे चारों वर्णों के प्रपन्न लोग सदा अपने कार्यं में जागरूक रहते हैं ।। ८ ।।

विशेषात्पादजा यत्र विष्णुभक्तिपरायणाः ।
युगस्वभावतो धर्मसंपदार्जनलम्पटाः ।। ९ ।।

विशेष करके इस पुरी में चतुर्थ वर्ण के लोग चरण से उत्पन्न होने के कारण भगवान् की भक्ति में तत्पर हैं, कलियुग के स्वभाव के कारण ये धर्मरूपी सम्पत्ति के उपार्जन करने में ही अपनी लगन दिखा रहे हैं ।। ९ ।।

तत्रासीत्पादजातेषु कश्चिद्भागवताग्रणीः ।
श्रीमद्वळुदिनाडेन्द्रः सीमातीतगुणोल्बणः ॥ १० ॥

इस पुरी में एक वळुदिनाडेन्द्र नामक एक परम भागवत थे जिसके पवित्र गुणों की कोई सीमा ही नहीं थी । यह उसी चतुर्थवर्ण में पैदा हुए थे ॥ १० ॥

तस्य धर्मधरो नाम तनयस्समजायत ।
सार्थः कलिबलोत्सन्नधर्मोद्धरणकर्मणा ॥ ११ ॥

उनके धर्मधर नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिनका कलि के बल से गिरे हुए धर्म का उद्धार करने के कारण यह नाम वास्तव में सार्थक था ॥ ११ ॥

चक्रपाणिस्ततो जातश्चक्रपाणिपरायणः ।
तत्पात्रसात्कृतस्वीयसमस्तधनसञ्चयः ॥ १२ ॥

धर्मधर को चक्रपाणि नामक पुत्र हुए । वह चक्रपाणि भगवान् के ध्यान में तत्पर थे । उन्होंने अपना इकट्ठा किया हुआ सब धन सत्पात्रों को ही दान में दे दिया ॥ १२ ॥

अजायत सुतस्तस्मात्प्रजानन्दनतत्परः ।
नाम यः प्राप दुर्दामा रत्नधामेति भूतले ॥ १३ ॥

चक्रपाणि के पुत्र रत्नधाम हुए जो सब संसार को आनन्द देनेवाले थे जिनका कोई दमन नहीं कर सकता था ॥ १३ ॥

सुमतिं सुषुवे सोऽपि सुतं पाटललोचनम् ।
सुकुमारयशस्सम्पत्सुरभीकृतदिङ्मुखम् ॥ १४ ॥

जिसने अपने निर्मल यश की सम्पत्ति से दिशाओं के मुख को सुगन्धित कर दिया था, ऐसा सुन्दर मतिवाला पाटललोचन नाम का पुत्र चक्रपाणिजी के हुआ ॥ १४ ॥

पुत्रं प्रासूत पोर्कारिं पुण्यैः पाटललोचनः ।
पुरुषोत्तमपद्पद्मस्फुरच्चित्तमधुव्रतम् ॥ १५ ॥

पाटललोचन के पुण्यों के प्रभाव से उनके पोर्कारि नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो पुरुषोत्तम भागवान् के चरणकमलों का प्रसन्न चित्तवाला भौंरा था ॥ १५ ॥

कारीति तनुजो जातः कारीतिरहितस्ततः ।
दूरीकृतकलिर्भावादूरीकृतजनार्दनः ॥ १६ ॥

उसका पुत्र कारि हुआ । इसमें कोई बुरी रीति नहीं थी। इसने कलियुग को तो दूर किया था, पर जनार्दन भगवान् इससे दूर नहीं थे ॥ १६ ॥

कन्यामुदवहद्धन्यां कमलैधितवक्षसः ।
नवीनयौवनः कारी नामतो नाथनायिकाम् ॥ १७ ॥

युवा होने पर लक्ष्मीनिवासवक्ष की एक श्रेष्ठ कन्या के साथ विवाह किया जिसका नाम नाथनायिका था ॥ १७ ॥

भर्तृशुश्रूषणपरा भगवद्भक्तिभासुरा ।
श्यामावामालका पुत्रकामा सा समजायत ॥ १८ ॥

नाथनायिका पति की सेवा में तत्पर रहती थी। भगवान् की भक्ति से देदीप्यमान थी, बडी ही सुन्दर थी, घुंघराले बाल थे, पूर्ण युवावस्था प्राप्त थी, इसे पुत्र की इच्छा हुई ॥ १८ ॥

सा कदाचित्पितृग्रामादायान्ती पतिमन्दिरम् ॥
प्रणिपत्य कुरङ्गेशं पथि पुत्रमयाचत ॥ १९ ॥

नाथनायिका किसी दिन पिता के ग्राम से पति के घर को आती हुई रास्ते में ही कुरङ्गेश भगवान् को प्रणाम करके पुत्र की याचना की ॥१९॥

सर्वज्ञस्स कुरङ्गेशस्तस्यै प्रादान्मतं वरम् ।
पुत्रस्तव भविष्यामि पुत्रि गच्छेति चाब्रवीत् ॥ २० ॥

सब कुछ जाननेवाले कुरङ्गेश भगवान् ने उसको अभीष्ट वर दे कर कहा कि हे पुत्री तू जा, मैं स्वयं तेरा पुत्र होऊंगा ॥ २० ॥

प्रपेदे भवनं पत्युः प्रहृष्टा नाथनायिका ।
आदिदेश कुरङ्गेशः सेनान्यं तत्र जन्मने ॥ २१ ॥

नाथनायिका अपने अभीष्ट वर की प्राप्ति से परम प्रसन्न होकर पति के घर चली आयी । कुरङ्गेश भगवान् ने विष्वक्सेन को आज्ञा दी कि तुम नाथनायिका के यहां जन्म लो ॥ २१ ॥

गर्भमाधत्त कालेन साऽचिरेण तलोदरी ।
पतङ्गमिव दिक् प्राची देवकीव यदूद्वहम् ॥ २२ ॥

कृशोदरी नाथनायिका ने थोडे समय में ही गर्भधारण किया जैसे सूर्य को गर्भ में धारण किये हुए पूर्वदिशा सुन्दर मालूम होती है । देवकी ने भगवान् कृष्ण को गर्भ में धारण करके शोभायमान हुई थी, उसी तरह नाथनायिका भी विष्वक्सेन भगवान् को गर्भ में धारण करके शोभायमान हुई ॥ २२ ॥

आपाण्डुगण्डफलकमानीलकुचचूचुकम् ।
आलोललोचनाम्भोजमस्या वपुरलक्ष्यत ॥ २३ ॥

उस समय उसके शरीर की वही दशा हुई जो गर्भिणी की हुआ करती है, यानी कपोल गौर वर्ण के हो गये थे, कुचों के अग्रभाग काले हो गये थे और कमल जैसे वडे-वडे नयनों में चञ्चलता आगयी थी ॥ २३ ॥

उद्गता रोमरेखाऽङ्गनादुत्पलाक्ष्यास्समुज्ज्वला ।
विष्वक्सेनकरोदस्तविद्यावेत्रलतोपमा ॥ २४ ॥

कमलनयिनी नाथनायिका की नाभि के कुछ नीचे से एक छोटे छोटे बालों की सीधी रोमरेखा हृदय तक चली गयी थी । वह ऐसी शोभायमान होती थी, मानों गर्भस्थित विष्वक्सेन भगवान् ने अपने विद्यारूपी वेत्र को ऊपर की ओर कर रखा हो ॥ २४ ॥

भ्रश्यद्वलित्रयाभोगा श्यामरोमलतोद्गमा ।
दृष्टिगोचरतां प्रापन्मध्ययष्टिर्मृगीदृशः ।। २५ ।।

उदर पर त्रिवली पडा करती थी, वह इस समय नहीं रही। वहां केवल एक छोटे छोटे काले बालों की पूर्वोक्त रेखा ही रह गयी थी। एवं कटिदेश जो पहले दिखाई नहीं देता था, अब दिखाई देने लगा ।। २५ ।।

असद्वादैरुपहितं ब्रह्म यस्सत्करिष्यति ।
असदित्युदितं मध्यं तस्या गर्भस्तदातनोत् ।। २६ ।।

उस गर्भ ने (अर्थात् गर्भ में आये हुए महात्मा ने) जो असद्वाद से छिपे हुए ब्रह्म को सत् सिद्ध करनेवाले हैं, उसके असत् यानी क्षीण मध्य भाग यानी कटि को बडा कर दिया अर्थात् मोटा बना दिया जिससे वह दीखने लग गया ।। २६ ।।

प्रायः पयोधरौ तस्याः काष्र्ण्यमावहतां मुखे ।
गर्हयन्तौ कुमारो न पयः पास्यति नाविति ।। २७ ।।

कुमार हमारा दूध न पीयेगा यह शोच नाथनायिका के स्तन आप ही अपनी निन्दा करते हुए मारे शोक के अपने मुंह पर अधिक कालिमा ले आये हैं। गर्भिणी के स्तनों के अग्रभाग काले होते ही हैं उस विषय की यह कवि की मनोरञ्जक उत्प्रेक्षा है। इससे यह सूचना हो रही है कि उत्पन्न होनेवाला कुमार स्तन-पान न करेगा ।। २७ ।।

भूपयोऽर्चिर्मरुद्व्योम्नां तदा वृद्धिरभूत्क्रमात् ।
जिह्वाकुचवपुर्नासाऽवलग्नेषु मृगीदृशः ।। २८ ।।

उस समय उसकी जीभ, कुच, शरीर, नासिका और शरीर के मध्य भाग में क्रम से भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश की वृद्धि हुई अर्थात् जीभ में स्वाद, कुच में दूध, शरीर में तेज, नासिका में दीर्घ श्वास तथा मध्य भाग कटि में अवकाश की वृद्धि हुई ।। २८ ।।

दददर्श दयिताकारैर्गजाननमुखैर्गणैः ।
सूत्रवत्याऽपि च स्वप्ने स्वमात्मानं निषेवितम् ॥ २९ ॥

नाथनायिका ने स्वप्न में देखा कि सुन्दर आकारवाले गजमुख से लेकर जितने गण हैं वे सव मेरी सेवा कर रहे हैं तथा विष्वक्सेन की पत्नी सूत्रवती भी मेरी सेवा कर रही है ॥ २९ ॥

राधे कलिदिने लाभे वैशाखे काव्यवासरे ।
लग्ने कर्कटकेऽसूत तनयं नाथनायिका ॥ ३० ॥

कलि प्रारम्भ के ४३ वें दिन वैशाखमास के विशाखा नक्षत्र शुक्रवार के दिन कर्कट लग्न में नाथनायिका के एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ ॥ ३० ॥

प्रहृष्टं विदुषां चित्तं प्रसन्नास्सकला दिशः ।
अमन्दसौरभोदारास्सुखा गन्धवहा ववुः ॥ ३१ ॥

उस समय सत्पुरुषों का चित्त परम प्रसन्न हो रहा था, सव दिशाएं परम प्रसन्न थीं, एवं मन्द मन्द और वडी ही सुगंध लिये हुए पवन चल रहा था ॥ ३१ ॥

वृन्दारकाणां बृन्दानि सेन्द्राणि गगनान्तरे ।
मन्दारसुमनोवृष्टिं मन्दरां मुमुचुस्तदा ॥ ३२ ॥

उस समय इन्द्रादिक देवता अपने अपने आकाशयानों में बैठ कर नाथनायिका के ग्राम पर मन्दार के फूलों की सुहावनी सघन वर्षा करने लगे ॥ ३२ ॥

गृहेषु यायजूकानां कृशानुस्साप्ततन्तवः ।
प्रदक्षिणशिखाजालैर्जज्वाल स्वयमुज्ज्वलः ॥ ३३ ॥

सावधानी के साथ यज्ञ में लगे रहनेवाले कर्मकाण्डी अग्निहोत्रियों के घरों में रहनेवाला परम पवित्र जो यज्ञ का अग्निदेव है वह प्रदक्षिण के

तौर पर घूमती हुई लटाओं के साथ जल रहा था या देदीप्यमान हो रहा था ।। ३३ ।।

सूतिकागृहमासाद्य तस्मै ज्ञानमधोक्षजः ।
वाराहमूर्त्तिर्भगवान् जायमानाय संददौ ।। ३४ ।।

जितेन्द्रियों को प्रत्यक्ष होनेवाले श्रीवाराहमूर्ति भगवान् ने प्रसूतिका के घर में आकर पैदा होने के समय ही उसे दिव्यज्ञान दे दिया ।। ३४ ।।

असौष्ट तनयं यस्मिन्मुहूर्ते नाथनायिका ।
निर्निद्रतिन्त्रिणीरूपश्शेषस्तन्नगरेऽभवत् ।। ३५ ।।

जिस मुहूर्त में नाथनायिका ने इस बालक का जन्म दिया था, उसी मुहूर्त में शेषभगवान् एक इमली के वृक्ष के रूप में उसी नगर में आ उत्पन्न हुए । इस वृक्ष में तत्वबोधक यह विशेष चिन्ह है कि यह नींद कभी नहीं लेता है ।। ३५ ।।

कृपया श्रीपतेर्लब्धज्ञानो नाङ्गीचकार सः ।
जनन्या अपि च स्तन्यं नौदनं न च रोदनम् ।। ३६ ।।

भगवान् की कृपा से इस बालक को ज्ञान मिल ही गया था, इस कारण इसने न तो माता का स्तनपान किया और न अन्न ही ग्रहण किया, न रोया ।। ३६ ।।

स्तन्यादिहेयवस्तूनां संन्यासात्पितरौ शिशोः ।
मारनित्यभिधामुक्त्या द्रामिड्या चक्रतुस्तदा ।। ३७ ।।

उस समय स्तनपान आदि हेय वस्तुओं के छोड देने के कारण माता-पिताओं ने द्राविडी (तमिळ) भाषा में लडके का नाम "मारन्" (माने विलक्षण) रख दिया ।। ३७ ।।

मौनी स भगवज्ज्ञानपूर्णात्मा कारिनन्दनः ।
सद्यः प्ररूढसंवृद्धचिञ्चामूलमथाभजत् ।। ३८ ।।

भगवान् के ज्ञान से परिपूर्ण वह मौनी कारिपुत्र उस इमली के पेड के नीचे चला आया जिसे कि हम पहले कह चुके हैं। यह पेड भी जिस समय उत्पन्न हुआ था उसी समय बढ गया था ॥ ३८ ॥

अदृष्ट्वा सदृशज्ञानं कञ्चित्पुरुषमग्रतः ।
स किङ्कर्तव्यतां ध्यायन् तत्र वाचंयमोऽभवत् ॥ ३९ ॥

उसने देखा कि मेरे सामने कोई मेरे समान ज्ञानी तो है ही नहीं, अब मुझे क्या करना चाहिये। इस चिन्ता में उसी पेड के नीचे वाणी को नियमित करके मौनी हो गया ॥ ३९ ॥

ततः प्रादुरभूत्तत्र जिज्ञासुस्तदुपक्रमम् ।
भगवान् परमव्योम्नः ताक्ष्यारूढो रमासखः ॥ ४० ॥

इसके पीछे उसके कार्यक्रम को जानने की इच्छा से लक्ष्मीजी के साथ भगवान् गरुड पर चढ कर वैकुण्ठ से आकर वहां प्रकट हुए ॥ ४० ॥

स दृष्टिगोचरे विष्णौ श्रुतीनामप्यगोचरे ।
सानन्दबाष्पनयनस्सरोमाञ्चवपुर्बभौ ॥ ४१ ॥

जो विष्णुभगवान् श्रुतियों के भी विषय नहीं हैं उन विष्णुभगवान् को अपने नेत्रों के सामने देखकर आनन्द के मारे आंखों में आंसू आ गये, शरीर में रोमांच हो गया, इससे वह अत्यन्त शोभायमान होने लगे ॥ ४१ ॥

चिकीर्षुश्चतुरो वेदांस्तन्मुखेन परःपुमान् ।
द्रामिडोक्त्या जगत्त्राणात् कारिसूनुमलोकयत् ॥ ४२ ॥

पुरुषोत्तम की इच्छा थी कि इसके मुख से चारों वेदों को द्रामिड भाषा में करा दूं जिससे संसार की रक्षा होगी। इसीसे भगवान् ने कारि के पुत्र को कृपादृष्टि से देखा ॥ ४२ ॥

5

अवाप्यानुग्रहाद्विष्णोस्सतत्वज्ञानसम्पदम्
आसीदशेषशास्त्रज्ञस्सकलाम्नायपारगः ॥ ४३ ॥

कारिकुमार विष्णुभगवान् की कृपा से तत्वज्ञानरूपी सम्पत्ति को पाकर संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता तथा पूर्णरूप से संपूर्ण वेदों का ज्ञाता हो गया ॥ ४३ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते विष्णौ परमानन्दविह्वलः ।
आशोडशाब्दात्तत्रास्त मौनी स निभृतेन्द्रियः ॥४४ ॥

श्रीशठकोपसूरि उस विष्णुभगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर दर्शन के परम आनन्द से व्याकुल होकर वहीं सोलह बरस तक समाधि में मौनी हो कर बैठे रहे ॥ ४४ ॥

प्रावहत्परमानन्दः पूर्णे षोडशवत्सरे ।
पूर्णादिव हृदात्पूरः तस्य वाङ्मयरूपतः ॥ ४५ ॥

सोलह वर्ष पूरे हो जाने पर श्रीशठकोपसूरि का परम आनन्द हृदय में न समाने के कारण काव्य के रूप में वहने लगा जैसे मुंह तक परिपूर्ण तालाब से अपने आप पानी निकलता है ॥ ४५ ॥

भगवद्गुणहृद्यानि कृत्वा पद्यानि कानिचित् ।
तद्रसार्णवमग्नोऽभून्मुह्यन् भूयः प्रसेदिवान् ॥ ४६ ॥

भगवान् के गुणानुवाद से सनी हुई कुछ एक पद्य बनाकर पीछे उनके रसरूप अगाध समुद्र में निमग्न हो कभी मुग्ध और कभी सचेत हो जाते थे ॥ ४६ ॥

कृष्णस्य गव्यचौर्येण क्षमायामवतारतः ।
सौन्दर्येण च संमुह्यन् मासानष्टादश त्रिधा ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्णभगवान् के माखन की चोरी से पृथ्वी पर उनके अवतार लेने से और उनकी सुन्दरता से सम्मोह में डूबते हुए अठारह महीने तीन भागों में विताये । आशय यह है कि जब उनके बनाये हुए प्रबन्धों में

ये कथाएं आयीं कि, पूर्णकाम भगवान् ने केवल सौलभ्य और वात्सल्य से ही प्रेरित हो मक्खन की चोरी की, भूमि पर अवतार लिया, और वे सौंदर्य के धाम भक्त के हृदय में विराजते हैं, तो ६ मास इसी ध्यान में मोह को प्राप्त हुए कि पूर्ण काम में कैसा सौलभ्य और वात्सल्य है।

जव अवतार की कथाएं आयीं कि जिसके भृकुटिविलास से विश्व का प्रलय होता है वह भगवान् अवतार क्यों ले? केवल सौलभ्य और वात्सल्य से ही अवतार लेते हैं, भगवान् में कितना सौलभ्य और वात्सल्य है इसी चिन्तन में ६ महीने मोह को प्राप्त हुए।

इसी तरह ६ मास भगवान् की अलौकिक आभा के चिन्तन के मोह में वीते। इस तरह श्रीशठकोपावतार के १८ महीने मोह में ही वीते ॥ ४७ ॥

श्रीमधुरकवि का वैभव

श्रीमत्कोलूरिति स्थानं पाण्डचमण्डलमण्डनम् ।
श्रीसखश्शेषपर्यङ्के शेते यत्र परः पुमान् ॥ ४८ ॥

पाण्डचदेश का भूषणरूप एक तिरुक्कोलूर नामक स्थान है जहां लक्ष्मीजी सहित श्रीपुरुषोत्तम भगवान् शेषशय्या पर सो रहे हैं ॥ ४८ ॥

भगवच्चरणध्यानभङ्गीमुषितकल्मषाः ।
वसन्ति वसुधादेवा यत्र वेदान्तवेदिनः ॥ ४९ ॥

भगवान् के चरणारविन्द के अविच्छिन्न ध्यानधारा से जिनके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं, ऐसे वेदान्त के ज्ञाता ब्राह्मण उस नगर में रहते हैं ॥ ४९ ॥

वैतानदहनोद्दामधूमलेखा विसर्पिणी ।
यत्रादाद्यमुनाशङ्कां सुत्रामपुरसिन्धवे ॥ ५० ॥

जहां यज्ञ की अग्नि से उठी हुई अत्यन्त घनी धूएं की रेखा ऊपर उठ कर इन्द्र के पुर में बहनेवाली आकाशगङ्गा में फैलकर यमुनाजी की शङ्का पैदा करती हैं ।। ५० ।।

यत्र विप्राश्चतुर्वेदीपारायणपरायणाः ।
निषेदुर्वैष्णवोत्तंसा नित्यारब्धक्रतुक्रियाः ।। ५१ ।।

जहां ब्राह्मण चारों वेदों के पाठ करने में तत्पर रहा करते थे, सदा ही उनके यज्ञ होते रहते थे, जो वैष्णवों के भूषण थे ।। ५१ ।।

तत्र तेषु महान् सामशाखाध्यायी द्विजोत्तमः ।
कश्चित्पूर्वशिखी विद्वान् नारायणपरायणः ।। ५२ ।।

वहां उन ब्राह्मणों में एक पूर्वशिखी सामवेदी ब्राह्मण रहता था । वह महान् था और भगवान् की भक्ति में तत्पर था ।। ५२ ।।

गणेशः कुमुदो नाम्ना नित्यसूरिर्महाद्युतिः ।
चैत्रे मासि ततश्चित्रातारकायामजायत ।। ५३ ।।

वहां ही परम तेजस्वी नित्यसूरी गणाध्यक्ष श्रीकुमुद ने पूर्वशिखी ब्राह्मण के घर चैत्रमास के चित्रा नक्षत्र में जन्म लिया ।। ५३ ।।

अमन्दामृतनिष्यन्दविनिन्दाकरवाङ्मयम् ।
चक्रे तं जनको नाम्ना मधुरोपपदं कविम् ।। ५४ ।।

इस बालक की कविता सघन अमृत की धारा को भी मात करनेवाली थी इस कारण इनके पिता ने इनका नाम मधुरकवि रख दिया ।। ५४ ।।

अनुग्रहभराद्विष्णोरहिपर्यङ्कशायिनः ।
अविन्दत परं तत्वं मातृगर्भगतोऽपि यः ।। ५५ ।।

ये मधुरकवि शेषशायी भगवान् की पूर्णकृपा से माता के गर्भ में रहते हुए ही परमतत्व को जान गये ।। ५५ ।।

स तत्र योगमास्थाय साष्टाङ्गं मधुरः कविः ।
उवास मनसा ध्यायन्नुरगेन्द्रशयं हरिम् ॥ ५६ ॥

जिसे भगवान् ने गर्भ में उपदेश दिया था वह मधुरकवि शेषशायी भगवान् का ध्यान करते हुए, वहीं रहे। वहां ये ध्यान के साथ यम-नियम आदि आठों अङ्गों के सहित योग किया करते थे ॥ ५६ ॥

अथोर्व्यां यानि धामानि हरेरर्चावतारिणः ।
दृष्ट्वा तानि समं तीर्थैरतिष्ठत्तत्र तत्र सः ॥ ५७ ॥

इसके अनन्तर अर्चारूपी भगवान् के इस भूमि पर जो जो धाम हैं उन्हें तीर्थों के साथ देखा एवं जहां गये वहां पर थाडे थोडे दिन निवास करते गये ॥ ५७ ॥

यानि वैष्णवधामानि यानि तोर्थानि भूतले ।
सेवमानः क्रमात्तानि स चचार प्रदक्षिणम् ॥ ५८ ॥

इस भूमि पर जो भी वैष्णव धाम हैं जो भी तीर्थं हैं उन सबका क्रम से सेवन करते हुए पृथिवी की परिक्रमा की ॥ ५८ ॥

एकदा खेलतस्तस्य स्वैरं दक्षिणदिङ्मुखे ।
अत्यर्कं किमपि ज्योतिरासीदीक्षणगोचरम् ॥ ५९ ॥

एक समय मधुरकवि अपनी इच्छा से टहल रहे थे कि एक सूर्य से भी अधिक तेज दक्षिण दिशा में दिखाई दिया ॥ ५९ ॥

विलोक्य तादृशं तेजो व्यमृशन्मधुरः कविः ।
अथ कश्चिन्महायोगी वसतीति महामहाः ॥ ६० ॥

ऐसे तेज को देखकर मधुरकवि ने विचार किया कि इधर कोई परमतेजस्वी योगिराज रहते हैं ॥ ६० ॥

इति निश्चित्य तज्ज्योतिर्दिदृक्षुर्मधुरः कविः ।
प्रपेदे परमां प्रीतिं लब्ध्वा निधिमिवाधनः ॥ ६१ ॥

उस ज्योति के देखने की इच्छावाले मधुरकवि, ऐसा निश्चय करके ज्योति के समीप चले एवं वहां अपने अभीष्ट को पाकर इस तरह प्रसन्न हुए जैसे निर्धन कोश पाकर प्रसन्न होता है ॥ ६१ ॥

मधुरं कविमायान्तं मत्वा दिव्येन चक्षुषा ।
कृपया कुरुकाधीशो मुक्तयोगो व्यलोकयत् ॥ ६२ ॥

समाधि के उतार में कुरुकापुरी के अधीश ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि मधुरकवि आ रहे हैं, तब आप भी कृपा करके देखने लगे ॥ ६२ ॥

संपूर्णज्ञानमासाद्य कटाक्षात्कारिजन्मनः ।
देशिकं दैवतं प्राप तमेव मधुरः कविः ॥ ६३ ॥

कारिजन्मा श्रीशठकोपसूरि के कृपाकटाक्ष से मधुरकवि पूर्णज्ञानी हो गये । पीछे मधुरकवि ने उन्हें ही अपना आचार्य माना और उन्हींमें ईश्वरभाव किया ॥ ६३ ॥

शरणं प्राप्य तं भक्त्या शिष्यभावपुरस्सरः ।
आस्त विश्वजनीनोक्ति शुश्रूषुस्तस्य सन्निधौ ॥ ६४ ॥

शिष्यभाव के साथ भक्ति से उनकी शरण में जाकर संसार का कल्याण करनेवाली उनकी सूक्तियों के सुनने की इच्छा से प्रेरित होकर उनके ही समीप रहे ॥ ६४ ॥

कुदृष्टिबाह्यराद्धान्तनिराकरणकर्मणा ।
तमाहुः कारिजं सन्तः शठकोपं परांकुशम् ॥ ६५ ॥

जिन लोगों ने पवित्र वैदिक सिद्धान्तों को बुरी दृष्टि से देखा है तथा जो वेदों से बाहर हैं उनके सिद्धान्तों का उन्होंने अच्छी तरह निराकरण किया है। इस कारण महात्मा लोग कारिसूनु को शठकोप और परांकुश कहने लग गये । (इनपर गर्भ के उस शठवायु ने कुछ भी असर न किया जिसके संसर्ग से मनुष्य अपने को भूल जाते हैं। इस कारण से भी इन्हें शठकोप कहा करते हैं।) ॥ ६५ ॥

मधुरस्य कवेश्श्रोतुकामस्य स परांकुशः ।
वक्तुं द्रामिडवेदस्य महिमानं प्रचक्रमे ।। ६६ ।।

सुनने की इच्छावाले मधुरकवि के सामने शठकोप स्वामी ने द्राविडवेद की महिमा कहने का प्रारम्भ कर दिया ।। ६६ ।।

परत्वव्यूहविभवान्तर्याम्यात्महरेः क्रमात् ।
आम्नायपञ्चरात्रेतिहासस्मृत्यादयस्स्तवाः ।। ६७ ।।

पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी रूप परमात्मा के क्रम से वेद, पञ्चरात्र, इतिहास और स्मृति ही स्तव हैं ।

वैकुण्ठवासी को पर कहते हैं । वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चारों व्यूह कहलाते हैं । रामकृष्णादिक अवतार विभव कहलाते हैं । हर एक पदार्थ के भीतर विराजमान होकर उसका नियमन करनेवाले भगवान् को अन्तर्यामी कहते हैं ।

वैकुण्ठ के अधिपति पुरुषोत्तम भगवान् के गुण वेदों में वर्णित हैं । चतुर्व्यूह भगवान् की महिमा पञ्चरात्र में है । इतिहासों में अवतारों की महिमा भरी हुई है । अन्तर्यामी की महिमा स्मृतियों में है ।। ६७ ।।

अथार्चारूपिणस्तस्य दारुलोहशिलात्मनः ।
वेदार्थगर्भा विहिता भाषाऽभूद् द्रामिडी स्तुतिः ।। ६८ ।।

काठ, लोहे और पत्थर से बनायी गयी जो मूर्तियां हैं उन मूर्तियों के कलेवर धारण किये हुए परमात्मा की स्तुति द्रामिडी भाषा में की गयीं हैं जिसमें कि वेद का तात्पर्य सना हुआ है ।। ६८ ।।

कृतत्रेताद्वापरेषु ध्यानयोगार्चनैश्च यत् ।
तत्फलं लभते विष्णोर्मनुषः कीर्तनात्कलौ ।। ६९ ।।

कृतयुग में जो फल ध्यान से मिलता था, त्रेता में जो फल योग से यानी कर्मयोग से मिलता था, द्वापर में पूजा से जो फल प्राप्त होता था उस फल को इस कलियुग में मनुष्य भगवान् के कीर्तन से प्राप्त कर लेता है ।। ६९ ।।

त्राणाय सर्वजन्तूनां मन्मुखादकरोत्स्वभूः ।
वेदार्थैर्द्रामिडीमुक्तिं व्यासस्सन् भारतं यथा ।। ७० ।।

भगवान् ने सब जीवों के कल्याण के लिए मेरे मुंह से वेद के अर्थों से सनी हुई द्राविड भाषामय ग्रन्थ कहा है जैसे व्यास होकर महाभारत कहा था ।। ७० ।।

प्रबन्धांश्चतुरस्साक्षाच्चतुर्वेदार्थगर्भितान् ।
शृणुष्व मन्मुखादद्य मधुराख्य महाकवे ।। ७१ ।।

हे मधुर नामक महाकवि! अभी मैं तुम्हें अपने मुंह से चार प्रबन्ध सुनाता हूं । तुम सावधान होकर सुनो । उन चारों प्रबन्धों में चारों वेदों का अर्थ आ गया है ।। ७१ ।।

इत्युक्त्वा सागरादम्बु स्वादु मेघ इवार्पयत् ।
द्रामिडोक्तिमयं वेदादर्थं कृत्वा परांकुशः ।। ७२ ।।

ऐसे कहकरके शठकोप स्वामी ने, वेद के अर्थ को द्राविडी भाषा में करके मधुरकवि को इस तरह दे दिया जैसे समुद्र से खारे पानी को लेकर फिर उसे मीठा बनाकर मेघ सबको देता है ।। ७२ ।।

प्रबन्धः प्रथमस्तेषु भगवद्गुणगुम्फितः ।
ऋग्वेदार्थमयो गाथाशतेन प्रतिपादितः ।। ७३ ।।

इन प्रबन्धों में पहला प्रबन्ध सौ गाथाओं का है। इसमें भगवान् के गुण इस तरह पिरोये हुए हैं जैसे मनियां डोरे में पिरोये हुए रहते हैं जिसमें ऋग्वेद का अर्थ भरा हुआ था। सब से पहले यह शठकोपस्वामी ने मधुरकवि के लिए कहा ।। ७३ ।।

सप्तकाण्डयजुर्वेदसंगृहीतार्थसम्पदा ।
द्वितीयस्सप्तगाथाभिः प्रबन्धस्समुदीरितः ।। ७४ ।।

कृष्णयजुर्वेद में सात काण्ड हैं। भगवान् शठकोपस्वामी ने भगवान् की कृपा से सातों काण्डों की जो अर्थरूपी सम्पत्ति है उसका सार

द्राविडी भाषा की सात गाथाओं में कहा, वही इनका दूसरा प्रवन्ध था, यह ऋग्वेद के प्रवन्ध के पीछे मधुरकवि को सुनाया ॥ ७४ ॥

तृतीयेन प्रबन्धेन कृतोऽथर्वार्थसंग्रहः ।
सप्तोत्तराशीतिगाथामयेनान्तादिरूपिणा ॥ ७५ ॥

शठकोप स्वामी का तीसरा प्रवन्ध सतासी गाथा का था। यह अथर्ववेद के अठारहों काण्डों के अर्थ का संग्रहरूप था। इस प्रबन्ध में यह विशेषता थी कि जो पहले के अन्त का अक्षर होता था, वही दूसरे के आदि का होता था। इसका भी उपदेश मधुरकवि को दिया ॥ ७५ ॥

प्रबन्धश्चरमश्छन्दस्सामगानरसात्मकः ।
परब्रह्मपरत्वादिपञ्चावस्थाप्रकाशकः ॥ ७६ ॥

सामवेद के अर्थों के सार को लेकर चौथा प्रवन्ध वनाया गया है। साम के गान की तरह यह भी गाया जाता है। वैकुण्ठ के अधिपति भावगम्य भगवान् की पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इन पांचों अवस्थाओं का प्रकाशक है ॥ ७६ ॥

गानकर्मोचितश्राव्यो रसपोषनिरन्तरः ।
मुक्तबद्धमुमुक्षूणां चित्तानन्दविवर्धनः ॥ ७७ ॥

विभाव, अनुभाव, सञ्चारी से पुष्ट किये गये रस से भरे हुए गाने जैसे सुनने में अच्छे मालूम होते हैं, इसी तरह यह प्रवन्ध भी सुनने में अच्छा मालूम पडता है और मुक्त बद्ध और मुमुक्षु तीनों के ही चित्त के आनन्द को वढानेवाला है ॥ ७७ ॥

काण्डानुवाकपञ्चाशत्स्थानेषु कलिताः क्रमात् ।
सङ्ख्याः शतदशैकानां गाथानां कलुषच्छिदाम् ॥ ७८ ॥

वेद में जैसे काण्ड, अनुवाक और पञ्चाशत् होते हैं, उसी तरह इस प्रबन्ध में भी उचित रीति से गाथाओं का शतक, दशक और एककी संख्या बनायी गयी है ॥ ७८ ॥

एवं द्रामिडगाथानां सहस्रेण विनिर्मितः ।
प्रबन्धः कुरुते साक्षात् परतत्वप्रकाशनम् ।। ७९ ।।

इस प्रकार यह चौथा प्रबन्ध एक हजार गाथाओं से बनाया गया है। यह प्रबन्ध साक्षात् परमात्मा के परत्व के विषयों में अच्छा प्रकाश डालता है ।। ७९ ।।

तत्र सर्वागमोत्पत्तिकारणप्रणवात्मका ।
आद्यपद्यत्रिपादेषु पृथगुक्ताक्षरत्रयी ।। ८० ।।

ॐकार को प्रणव कहते हैं। इस में तीन अक्षर हैं अकार, उकार औंर मकार। यही सब आगमों की उत्पत्ति का कारण है। इससे ही सब वेदशास्त्र उत्पन्न हैं। पहले पद्य के तीन पादों में प्रणव के ही अक्षर आये हैं ।। ८० ।।

अन्यासामत्र गाथानां विन्यासेन प्रदर्शितम् ।
अनन्तोपनिषत्प्रोक्तकर्मब्रह्मनिरूपणम् ।। ८१ ।।

अनेकों उपनिषदों में कहा गया जो कर्म और ब्रह्म है उनका निरूपण और गाथाओं की रचना से दिखाया है। हर एक उपनिषद में जो कर्म का और ब्रह्म का विचार है वह वाकी गाथाओं में कहा है ।। ८१ ।।

गाथाभिरत्र निन्तिन्द्रचिञ्चाशाखावलम्बिनाम् ।
अर्चाकृतीनां विष्णूनां महिमा पृथगीरितः ।। ८२ ।।

जिस समय शठकोपस्वामीने चारों वेदों के प्रबन्धों का पहले पहले कहा था, उसी समय एक सौ आठ दिव्यदेशवासी भगवान् उसी इमली के वृक्ष की शाखाओं पर आ बैठे थे। शठकोपस्वामीने कितनी ही गाथाओं से उनकी भी महिमा कही है ।। ८२ ।।

इत्थं प्रबन्धांश्चतुरश्चतुरो मधुरः कविः ।
निशम्यामन्यत जनान् कृतार्थानात्मना सह ।। ८३ ।।

चतुर मधुरकवि इस प्रकार चारों प्रबन्धों को सुनकर अपने साथ सब संसारी जनों को भी कृतार्थ समझने लगे ।। ८३ ।।

दामोदरान्महामायादपि मन्मानसं मुदा ।
कुरुते महतीं प्रीतिं कुरुकाधीश्वरे गुरौ ।। ८४ ।।

महामाय दामोदर भगवान् से भी अधिक कुरुकापुरी के अधीश्वर गुरु शठकोपसूरि में मेरा मन आनन्द के साथ बडा भारी प्रेम करता है ।। ८४ ।।

इति द्रामिडगाथाभिर्दशभिस्स कृती कृतिम् ।
आततान शठारातेरज्ञातविषयान्तरः ।। ८५ ।।

जिससे दूसरे विषय का सम्पर्क ही नहीं हुआ है ऐसे गुरुभक्त विद्वान् श्रीमधुरकवि ने द्राविड भाषा की दस गाथाओं में श्रीशठकोपसूरि पर अचल श्रद्धा भाव प्रकट किया है । ।। ८५ ।।

तत्र वैकुण्ठधामादिस्थानाष्टकवृतं हरिम् ।
आद्यमाराधयन्कालमनयच्छ्रीपरांकुशः ।। ८६ ।।

श्रीशठकोपसूरि ने वहां वैकुण्ठधाम आदि आठ स्थानों में निवास करनेवाले भगवान् की आराधना करते हुए समय को बिताया ।। ८६ ।।

वकुलाकलितां मालामाद्यःप्रीतो हरिर्ददौ ।
इति तं स्म शठारातिं वकुलाभरणं विदुः ।। ८७ ।।

भगवान् आदिनाथ ने प्रसन्न होकर श्रीशठकोपसूरि के लिए वकुल की कलियों की माला दी, तबसे लोग श्रीशठकोपजी को वकुलाभरण भी कहने लगे ।। ८७ ।।

उद्दामैर्जगदवनाय वाग्विलासैः उत्पाद्य स्तुतिमतुलां परांकुशस्य ।
उद्गायन्ननवरतं कृतीस्तदीयास्सानन्दो मधुरकविर्निनाय कालम् ।।

उच्च कोटि की कविताओं से श्रीशठकोपस्वामी की अतुल स्तुति करते हुए एवं उनकी रचनाओं को निरन्तर गाते हुए कवि श्रीमधुरकवि आनन्द के साथ अपना समय व्यतीत करने लगे ।। ८८ ।।

तावेवं मधुरसुधीपरांकुशार्यौ ब्रह्मज्ञौ जगदुपकारजागरूकौ ।
सानन्दावधिकुरुकं विनिद्रचिञ्चाच्छायायामनुभवमापतुर्मुरारेः ।।

वे दोनों मधुरकवि और श्रीशठकोपसूरि ब्रह्मके जाननेवाले थे, संसार के उपकार करने में पूरे सचेत थे, दोनों ही कुरुकापुरी में नींद रहित जो इमली का वृक्ष था, उसकी छाया में निरन्तर भगवान् का अनुभव लगे ।। ८९ ।।

यन्नाथः फणिराजभोगिशयनो रङ्गेश्वरो यत्पिता
सौम्यश्रीसखमङ्गलाधिपविभुः सर्वज्ञचूडामणिः ।
यन्माता भुवनाधिपा विहगराड्वाहाभिधश्रीसदः
काव्ये दीव्यति दिव्यसूरिचरिते सर्गश्चतुर्थो गतः ।।

जिनके स्वामी शेषशायी भगवान् रङ्गनाथ हैं, जिनके पिता सुन्दर लक्ष्मीपति श्रीरङ्गनाथ को आरोग्यशाला के अधिपति स्वामी सर्वज्ञचूडामणि हैं, और जिन की माताका नाम भुवनाधिपा है, उस गरुडवाहन श्रीनिवास के बनाये उज्वल दिव्यसूरिचरित काव्य में यह चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ।।

चतुर्थस्सर्गः समाप्तः ।

पंचमस्सर्गः

श्रीकुलशेखर सूरि का वैभव

अस्त्यद्भुता काचन केरलेषु पुरीवरा कुक्कुटकूटसाह्वा ।
प्रायेण यस्याः परिखाविलासं पतिर्नदीनां प्रकटीकरोति ।। १ ।।

केरल देश में एक कुक्कुटक्रोड नामवाली परम श्रेष्ठ तथा अचरज पैदा करनेवाली सुन्दर नगरी है। नदियों का पति समुद्र प्रायः इसकी खाई की लीला को प्रकट कर रहा है अर्थात् खाई वनी हुई है, यह नगरी प्रायः चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है ।। १ ।।

वेधास्तुलायामुभयोस्तुलार्थं आरोपयद्यामम‍रावतीञ्च ।
पूर्वा तयोः प्राप भुवं गरिम्णा परोपरिष्टात्प्रययौ लघिम्ना ।। २ ।।

अमरावती और कुक्कुटक्रोड में कौन वडा और कौन छोटा है यह जानने के लिए व्रह्मा ने तराजू के एक पलडे पर कुक्कुटक्रोड को रखा और दूसरी ओर अमरावती को रखा।

कुक्कुटक्रोड अमरावती से भारी होने के कारण इसका पलडा नीचे बैठ गया तथा अमरावती हलकी होने के कारण अमरावतीवाला पलडा ऊपर को चला गया ।। २ ।।

राशीकृतान्यापणवीथिकासु रत्नान्यनर्घाणि विभान्ति यत्र ।
रत्नाकरोद्वेलतरङ्गभङ्गी वितीर्णरत्नौघविडम्बकानि ।। ३ ।।

जिस कुक्केटक्रोड पुरी के वाजारों में अच्छे से अच्छे रत्नों के ढेर इस प्रकार शोभायमान होते हैं मानों रत्नों का खजाना जो समुद्र है उसकी बडी वडी तरङ्गों की धाराओं ने चारों ओर से समुद्र के रत्नों की ढेरी लगा दी हो या समुद्र के इकट्ठे हुए रत्नों को इसमें लाकर प्रत्येक स्थल पर फैला दिया हो ।। ३ ।।

हर्म्येषु यत्राकलितास्पदानां अनङ्गसंग्रामकलाकुलानाम् ।
अपाकरोति श्रममङ्गनानां अमर्त्यसिन्धूर्मिसमीरपोतः ॥ ४ ॥

रति के संग्राम में अद्भुत चमत्कार बारबार दिखाने के कारण थकी हुई बडे बडे राजमहलों में रहनेवाली सुन्दरियों की थकावट को आकाशगङ्गा की लहरों का छोटासा झोखा नितान्त शान्त कर देता है ॥ ४ ॥

मुकुन्दचिन्तामुषिताभिषङ्गाः मुमुक्षवो निर्जितमोहमुद्राः ।
महानुभावा मनुजा भजन्ति यस्यां चतुर्वर्णभवानिवासम् ॥ ५ ॥

इसमें ऐसे ऐसे महानुभाव चारों वर्ण के मनुष्य निवास करते हैं जिन्होंने भगवान् के ध्यान से रागद्वेष आदि दूर कर दिये हैं। संसार के बन्धनों को काट देने की जिनकी प्रबल इच्छा है जो मोह की छाप पर विजय पा चुके हैं ॥ ५ ॥

तस्यामभूच्चेरकुलप्रदीपः श्रीकौस्तुभात्मा कुलशेखराख्यः ।
महीपतिर्माघपुनर्वसूद्यद्दिने हरेः पूर्णकटाक्षलक्षः ॥ ६ ॥

इस पुरी में कुलशेखर नाम का चेरवंशी एक राजा हुआ था जो भगवान् के कौस्तुभमणि का अवतार एवं कटाक्षपात्र था! यह चेरवंश का जगमगाता दीपक था। इसका जन्म माघ महीने के पुनर्वसू नक्षत्र में सूर्योदय समय हुआ था ॥ ६ ॥

वहत्यशेषां वसुधां प्रचण्डे यद्बाहुदण्डे मुदिता बभूवुः ।
भुजङ्गमोत्तंसपुराणकूर्मकुलाचलाशान्तरकुञ्जरेन्द्राः ॥ ७ ॥

जब इसने अपनी प्रचण्ड भुजाओं पर सम्पूर्ण भूमि का भार उठा लिया, तो सर्पों के कुलभूषण भगवान् तथा कच्छप भगवान् और हिमालय आदि के कुलपर्वत और दिग्गज ये सब परम प्रसन्न हुए। क्योंकि राजा की भुजाओं पर भूमि का भार आ जाने से इनके शिर से बोझा उतर गया ॥ ७ ॥

यत्पाणिलोला करवालवल्ली क्रूरेतिवादः कुहना जगत्याम् ।
सपत्नभूपान् समरे निहत्य सहाप्सरोभिर्यददाद्विहारम् ॥ ८ ॥

जिसने अपने बैरी राजाओं को मारकर उन्हें स्वर्ग में अप्सराओं के साथ विहार करवा दिया, फिर वह उस राजा के हाथ में घूमनेवाली असिलता क्रूर है, यह सांसारिक कथन नितान्त मिथ्या हुआ ॥ ८ ॥

विश्राणनं यस्य वियत्तरूणां व्रीडां विशेषाद्विततान नूनम् ।
नचेद्विडौजोनगरे कथं ते विवृद्धशाखा विनताः प्रथन्ते ॥ ९ ॥

प्रतीत होता है कि इसके दान ने कल्पवृक्षों को बहुत लज्जित कर दिया है । नहीं तो इन्द्र के नगर में बडी बडी डालोंवाले कल्पवृक्ष भी नीचे को झुके हुए ही क्यों फैल रहे हैं ॥ ९ ॥

सद्योरसद्योतनलम्पटेषु नव्येषु काव्येषु यशोऽर्णवेषु ।
शास्त्रेषु शस्त्रेषु कृतादरो यः परेषु पात्रेषु च दानकृत्ये ॥ १० ॥

जिनके सुनते ही रस का पूरा पता चल जाय ऐसे नये काव्यों में तथा कीर्तियों के सागर में एवं शास्त्रों में और शस्त्रों में भी इसका व्यसन और आदर था । अर्थात् रसयुक्त काव्यों, अपनो कीर्तियों, शास्त्रों, शस्त्रों इन सबका आदर करता था ॥ १० ॥

प्रशासतस्तस्य पयोधिनेमिं गुणार्णवेन्दोः कुलशेखरस्य ।
मुकुन्दभक्तिप्रचयातिरेकात् भूयोऽभवद्भागवतेषु भक्तिः ॥ ११ ॥

इस प्रकार समुद्रमेखलावाली पृथिवी का शासन करते करते गुण समुद्र के पूरे चांद राजराजेश्वर कुलशेखर की भगवद्भक्ति परा काष्ठ को पहुंच गयी ।

भगवान् की भक्ति परा काष्ठा को पहुंच जाय तो फिर उसको भगवान् के भक्तों में भक्ति होती है, यह अनिवार्य नियम है। अतएव कुलशेखर की भक्ति भी भगवान् के भक्तों में हुई ॥ ११ ॥

सचेरभूमीपतिरावरोधाद् दौवारिकैरप्यकृतोपरोधान् ।
समग्रभक्तिस्सकलोपचारैरतोषयद्भागवतानशेषान् ॥ १२ ॥

वह भी यहां तक बढी कि इस चेर देश के अधीश्वर नरपुङ्गव ने अपने अन्त:पुर तक के द्वारपालों को यह आज्ञा दे दी कि किसी भी वैष्णव को मत रोको तथा सब प्रकार की भक्तियों से परिपूर्ण इस राजा ने पूजा की सब सामग्रियों से भागवतों का पूजन करके सबको परम प्रसन्न कर लिया ॥ १२ ॥

मदान्धगन्धद्विरदांसकूटवासावसानं नृपतिस्स्वभाग्यम् ।
अमन्यताविष्कृतविष्णुभक्तिः उदग्रशूलाग्रनिवासमेव ॥ १३ ॥

यदि भाग्य बढता है या भाग्य से उन्नति होती है तो उसका अन्तिम परिणाम यहीं होता है कि जो ऐसे हाथियो के ऊंचे कन्धों पर बैठे, जो मद से अन्धे हो रहे हों जिनकी मद की गन्ध कोसों उडती रहती हो। पर इस कुलशेखर राजा ने भगवान् की भक्ति के बढ जाने के कारण, ऊपर की ओर तनी हुई पैनी शूलों पर बैठने के बराबर अपने भाग्य को माना ॥ १३ ॥

दशावतारेषु जनार्दनस्य चक्रे दशस्यन्दननन्दसून्वोः ।
अर्चावतारेष्वपि भक्तिमुद्रां परां स रङ्गाञ्जनशैलभर्त्रोः ॥ १४ ॥

इसकी प्रीति भगवान् के दशों अवतारों में से राम और कृष्ण भगवान् में हुई। अर्चावतारों में से भी इसकी प्रीति रङ्गनाथ भगवान् और वेङ्कटेश भगवान् में हुई। इस प्रकार यह राजा अर्चावतार और विभवावतार दोनों का ही परम भक्त था ॥ १४ ॥

विशेषतो रङ्गपतौ विधाय भक्तिं महीन्द्रो वचसेति वव्रे ।
तत्किङ्करेष्वेकतमः कदा स्यां कदा तदंघ्रिद्वयमर्चयिष्ये ॥ १५ ॥

अधिक प्रीति इसकी रङ्गनाथ भगवान् में हुई। एक दिन रङ्गनाथ भगवान् से इसने प्रार्थना की कि आपके सेवकों में मेरी भी कब खास गणना होगी, मैं कब आपके दोनों चरण कमलों का पूजन करूँगा ॥ १५ ॥

अथैकदा कोशनियुक्तभृत्यैः अज्ञातमुर्वीतिलकस्य तस्य ।
केनापि चोरीकृतमेकमासीद्विभूषणं दिव्यमनर्घरत्नम् ॥ १६ ॥

एक दिन ऐसी घटना हुई कि महाराजा का एक नितान्त अमूल्य रत्नों का दिव्य आभूषण किसीने चुरा लिया । राजा के नौकर उसका कुछ भी पता न लगा सके ॥ १६ ॥

अनर्घभूषापगमान्महीन्दोः पर्याकुलोऽशङ्कत भौरिकस्तान् ।
तन्मन्दिराभ्यन्तरचारशीलान् श्रीवैष्णवान् भूषणवर्यचोरान् ॥ १७ ॥

ऐसे श्रेष्ठ राजा का बहुमूल्य आभूषण चले जाने पर घबराये हुए मुख्य खजानची राजमहलों में जानेवाले श्रीवैष्णवों के उपर उस भूषण के चोर होने की शङ्का करने लगे कि यह काम अन्तःपुर के भीतर जानेवाले इन श्रीवैष्णवों का ही है ॥ १७ ॥

परिष्क्रिया भागवतैस्त्वदीया हृतेत्यसौ भौरिकतो निशम्य ।
रुष्टो नृपः प्रत्ययकल्पनायै कुम्भं सकुम्भीनसमानिनाय ॥ १८ ॥

जब मुख्य खजानची ने यह आकर कहा कि आपका आभूषण वैष्णवों ने चुरा लिया है तो राजा को क्रोध आ गया और श्रीवैष्णव चोर नहीं होते, यह सबको विश्वास दिलाने के लिए एक ऐसा *घडा मंगाया जिसमें कि सांप बैठा हुआ था ॥ १८ ॥

एषा विभूषा मम विष्णुभक्तैः न वीक्षिता नापहृता कदाऽपि ।
इति ब्रुवन् संसदि चेरभूपः पस्पर्श कुम्भे फणिनं करेण ॥ १९ ॥

यह मेरा आभूषण विष्णु भगवान् के भक्तों ने कभी न तो देखा है और वे न चोर हैं—यह कहकर राजा ने भरी सभा के बीच घडे में बैठे हुए सांप को हाथ से छू लिया ॥ १९ ॥

---

* जिस घडे में सांप रखा गया था उसमें सोने की अंगूठी डाल दी गयी थी, नियम यह किया गया था कि इसमें हाथ डालकर सोने की अंगूठी निकाल ली जाय ।

6

आशीविषे निर्विषतामवाप्ते विहाय हैमीं कलशात्करेण ।
स कालधौतीं गुलिकां गृहीत्वा मुकुन्दभक्तानकरोद्विशुद्धान् ।। २० ।।

राजा के सत्य के प्रभाव से सांप का जहर चला गया। पीछे सांप को छोडकर अपने हाथ से सोने की गुलिका निकाली। इस तरह इस परम भक्त राजा ने भगवान् के भक्तों पर जो झूठा कलङ्क लगाया जा रहा था उसे दूर करके उन्हें सिद्ध कर दिया कि ये चोर नहीं होते ।। २० ।।

श्रीवैष्णवानामपवादशङ्काम् अपास्य स प्रत्ययकल्पनेन ।
भवद्भिरेषाऽपहृतेति रोषात् चकार दण्डयान्निजकोशपालान् ।। २१ ।।

इस राजा ने बिषैले सांप को हाथ में ले, श्रीवैष्णवों पर लगायी गयी चोरी के कलङ्क को दूर करके, कोशपालों को क्रोध से कहा कि यह चोरी तुम लोगों ने की है, श्रीवैष्णवों ने नहीं की। इस कारण तुम्हीं लोग इसका दण्ड लो—ऐसा कहकर कोशपालों को ही दण्ड दिया ।। २१ ।।

भक्तिं परां भागवतेषु दृष्ट्वा प्रसेदिवान् रङ्गपतिः क्षितीन्दोः ।
प्रदर्शयामास दयापयोधिः निजस्वरूपं निगमाद्यवेद्यम् ।। २२ ।।

श्रीरङ्गनाथ भगवान् राजा की वैष्णवों में उत्कट भक्ति देखकर परम प्रसन्न हुए। जिस रूप को वेदादि से नहीं जाना जा सक्ता है ऐसे अपने दिव्यरूप को दया के ससुद्र रङ्गनाथ भगवान् ने राजा को दिखा दिया ।। २२ ।।

अनुग्रहेण स्वयमाप्ततत्वज्ञानोदयो रङ्गपतेर्दयालोः ।
अभाषत द्रामिडभाषयाऽसौ गाथाशतेनास्य महाप्रबन्धम् ।। २३ ।।

अकारण दया करनेवाले श्रीरङ्गनाथ भगवान् की कृपा से राजा को अपने आप तत्व ज्ञान का उदय हो गया। पीछे इन्होंने द्रामिडी भाषा में सौ गाथाओं का एक वडा भारी प्रवन्ध रचा ।। २३ ।।

त्रिंशत्स रङ्गाधिपतेस्स्वसूक्तिगाथाशते वेदशिखार्थगर्भे ।
चक्रे पुनस्सप्ततिमञ्जनाद्रिधुरीणकंसारिरघूद्वहानाम् ।। २४ ।।

वेदान्त के अर्थ जिनमें भरे हुए हैं ऐसी सौ गाथाओं में तीस गाथाओं से भगवान् श्रीरङ्गनाथ की स्तुति की। शेष सत्तर गाथाओं से श्रीवेङ्कटेश भगवान् और श्रीकृष्ण भगवान् और श्रीरामचन्द्र भगवान् की स्तुति गायी है ॥ २४ ॥

नीलांशजां चेरकुलप्रदीपः निजात्मजां रङ्गिणि सक्तचित्ताम् ।
समर्प्य तस्मै जगदीश्वराय स्वसंपदं यौतकमेव चक्रे ॥ २५ ॥

इन कुलशेखर की एक लडकी थी जो वैकुण्ठनाथ की परिचर्या में रहनेवाली श्रीनीलादेवी का अंश थी। यहां भी इस वालिका का चित्त रङ्गनाथ भगवान् में अधिक आसक्त रहता था। चेरवंश के जगमगाते दीपक इस राजा ने अपनी कन्या को श्रीरङ्गनाथ भगवान् के समर्पित कर दिया एवं जो भी कुछ अपनी संपत्ति थी वह सव दहेज में दे दी ॥ २५ ॥

ततः प्रियामात्यसखं कुमारं विधाय राज्ये विहिताभिषेकम् ।
स सात्विकैस्साकमगाद् दिदृक्षुः श्रीरङ्गमुख्यायतनानि विष्णोः ॥२६॥

इसके पीछे इस राजा ने अपने परमविश्वासी मन्त्री के निरीक्षण में अपने राजकुमार को वैदिक विधि से राजगद्दी पर विठा दिया। आप कुछ सतोगुणी व्यक्तियों को साथ लेकर श्रीरङ्ग आदिक दिव्यदेशों के दर्शन करने चल दिये ॥ २६ ॥

श्रीभट्टनाथसूरी का वैभव

अथाभवद्धन्विनवाभिधाना पाण्ड्याभिगुप्ता नगरी प्रतीता ।
यत्संपदालोकनलज्जयेव पुरी सुराणामभजत्सुमेरुम् ॥ २७ ॥

पाण्ड्य राजा से परिपालित एक धन्विनव्या नाम की नगरी थी जिसके सामने देवताओं की पुरी ऐसी मालूम होती थी मानों धन्विनव्या की सम्पत्ति को देखने से उत्पन्न हुई लज्जा से सुमेरुपर्वत पर चली गयी हो ॥ २७ ॥

मनस्विनीनां मणिसौधभाजां मुखेन्दुमन्दस्मितचन्द्रिकाभिः ।
चक्रे वियत्सिन्धुसमुद्भवानां कुतूहलं यत्र कुमुद्वतीनाम् ।। २८ ।।

इस पुरी में मणियों के बने हुए बडे बडे ऊंचे राजमहल हैं जो आकाशगङ्गा के पास तक पहुंच गये हैं जिनमें चांद के से मुखवाली मानिनी युवतियां रहती हैं जिस समय वे मन्दहास करती हैं उस समय उनके चमेली की सी कलियों के दांतों की चमक चांदनी की तरह फैल जाती हैं जिससे विना समय के भी आकाश गङ्गा की कुही खिल जाती है ।। २८ ।।

वीथीषु वीथीषु विलासभाजां तलोदरीणां तरलैरपाङ्गैः ।
अकारि यस्याः कुमुदानुविद्धनीलोत्पलस्रङ्मयतोरणश्रीः ।। २९ ।।

जिसकी गली गली में विलासिनी कृशोदरियों के चञ्चल नयनों ने ऐसी नीले उत्पलों की माला के तोरण की शोभा कर रखी है, जिसमें बीच बीच में एक एक नील उत्पल हो तथा और पास श्वेत उत्पल फुले हुए हों ।। २९ ।।

मनोज्ञमुक्तामणिमन्दिराणां प्रभूतया या प्रभया विभाति ।
सौन्दर्यलक्ष्म्या सुरराजधानीं वस्वोकसारां वसुना हसन्ती ।। ३० ।।

सुन्दर मुक्तामणियों के बने मन्दिरों के चारों ओर फैलती हुई प्रभा ऐसी जान पडती है मानों यह नगरी अपनी सौन्दर्यलक्ष्मी और सम्पदा से देवताओं की राजधानी वस्वोकसारा की खिल्ली उडाती हो ।। ३० ।।

यस्यां मुकुन्दो वटपत्रधाम्नि शेते जगत्पालनजागरूकः ।
मुदङ्कुरानानमतां जनानां अभंगुरानाकलयन्नपाङ्गैः ।। ३१ ।।

संसार की रक्षा करने के लिए सदा जगे रहनेवाले मुकुन्द भगवान् इस नगरी में वट के पत्र पर शयन करते हैं यानी वटपत्रशायी भगवान् विराजते हैं; जो अपने कृपाकटाक्ष से वन्दना करनेवाले भक्तजनों की प्रसन्नता के संतोषांकुरों को ऐसा कर देते हैं कि वह फिर कभी मिटते नहीं ।। ३१ ।।

सङ्केतहेतोरमरस्रवन्तीसरस्वतीसूर्यसुतास्समेत्य ।
शौरेः प्रियार्थं त्रिसरश्छलेन दिशन्ति यत्रेष्टफलं जनानाम् ॥ ३२ ॥

गङ्गा, यमुना और सरस्वती ये तीनों आपस के सङ्केतों से यहाँ इकट्ठी होकर वटपत्रशायी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यहीं 'तीन सरोवर' (तिरुमुक्कुळम्) नामक सरोवर बन गये हैं, स्नान करनेवालों को इष्ट फल दे रहे हैं ॥ ३२ ॥

ज्येष्ठेऽथ मासे पवमानतारे श्रेष्ठो गुणेनाजनि भट्टनाथः ।
तत्र त्रयीरूपगरुत्सदात्मा कटाक्षलक्षं कमलापतेर्यः ॥ ३३ ॥

इसी पुरी में जेष्ठमास के स्वाती नक्षत्र में श्रीभट्टनाथ सूरि उत्पन्न हुए जो कि गुणों में भी सबसे जेठे थे ये गरुडजी के अंश थे जो गरुडजी महाराज वेदत्रयरूपी हैं, जिनपर श्रीलक्ष्मीपति भगवान् की सदा ही दयादृष्टि रहा करती है ॥ ३३ ॥

निस्सीमकारुण्यनिधानभावात् निरर्गलाशेषकलाश्रयत्वात् ।
निरंकुशात्मोदयतश्च नाम्ना यं विष्णुचित्तं कथयन्ति सन्तः ॥ ३४ ॥

इनके हृदय में इतनी करुणा थी जिसकी सीमा नहीं कही जा सकती, जितनी भी अच्छी विद्याएं हैं ये सब जानते थे, इनका ज्ञान निरंकुश बढा हुआ था इस कारण से महात्मा लोग इन्हें विष्णुचित्त कहते हैं ॥ ३४ ॥

प्रह्लाददन्तीन्द्रविभीषणादीन् आद्यानतिक्रम्य मुकुन्दभक्तान् ।
विशेषतो यो विततान भक्तिं परस्य पुंसः पदपुण्डरीके ॥ ३५ ॥

प्रह्लाद गजेन्द्र और विभीषण आदिक जो भगवान् के पहले भक्त हुए हैं उनका भी अतिक्रमण करके इन्होंने पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों में विशेष रूप से भक्ति की ॥ ३५ ॥

संप्रीणयिष्यन् वटधामनाथं किंवा स्वरूपानुगुणं लभेयम् ।
इत्यास्त कर्तुं तदभीष्टकृत्यं दशावतारान् विमृशन्मुरारेः ॥ ३६ ॥

वटपत्रशायी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ऐसा कौनसा काम होगा जिसके करने से वटपत्रशायी भगवान् प्रसन्न हो जायं, और जिसका करना हमारे स्वरूप के अनुरूप हो एवं कौनसा काम भगवान् को अभीष्ट है इस विचार से प्रेरित हो कर भगवान् के दशों अवतारों की लीला का विमर्श किया ॥ ३६ ॥

यदाशया यो नवमेऽवतारे सद्म प्रपेदे रिपुमालिकस्य ।
तैरेव माल्यैस्सुमनोऽभिगम्यं सन्तोषयिष्ये वटधामनाथम् ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्णावतार की लीलाओं पर विचार करते करते जब वह मथुरापुरी के खेलों पर दृष्टि दौडाने लगे तो उनके मन में यह वात आयी कि यह भगवान् कृष्णावतार में माला लेने की इच्छा से वैरी कंस के माली के घर को भी चले गये, इस कारण उन भगवान् को जिनकी देवता सेवा करते हैं, उन्हीं मालाओं से प्रसन्न करूँगा ॥ ३७ ॥

एवं सुनिश्चित्य स विष्णुचित्तः कृत्वा तदाऽऽराममथाभिरामम् ।
मालाभिरालोलमधुव्रताभिः आराधयामास चिरं मुरारिम् ॥ ३८ ॥

इन्होंने इस प्रकार निश्चय करके वाग बनाने योग्य भूमि देखी उसीमें एक सुन्दर बगीचा बनाया। पीछे भौंरे जिनपर झूल रहे हैं ऐसी मनोहर मालाओं से बहुत समय तक वटपत्रशायी भगवान् की आराधना करते रहे ॥ ३८ ॥

आसीदथोर्व्यां मथुराभिधाना पुरी पुरारातियुताऽलकेव ।
सर्वोत्तरत्वादपि राजराजनिवासतो वित्तबहुत्वतो या ॥ ३९ ॥

भूलोक में एक मथुरा नाम की पुरी थी जो [1]सर्वोत्तर होने के कारण [2]राजराज का निवासस्थान होने के कारण, तथा अतुल धनसम्पत्ति होने के कारण, जिस अलकापुरी में शिव विराजते हैं उसके समान थी। क्योंकि अलकापुरी सबसे उत्तर में है तथा उसमें कुबेर विराजते हैं ॥ ३९ ॥

---

1 सबसे श्रेष्ठ, सबसे उत्तर में रहनेवाले ।

2 राजराज नाम का एक चोल राजा था और राजराज कुबेर का भी नाम है—यहां इसीसे दो अर्थ हैं ।

निशासु सौधाग्रनिवासिनीनां वामालकानां वदनेन्दुबिम्बैः ।
सम्पर्कमासेदुषि यत्र चन्द्रे न रोहिणी वेत्ति पतिं स्वकीयम् ॥ ४० ॥

जिसमें रात के समय बडे बडे ऊंचे ऊंचे महलों में रहनेवाली घुंघराले वालोंवाली सुन्दरियां के मुखरूपी चन्द्रमण्डल के साथ चन्द्रमण्डल का सम्पर्क हो जाने पर रोहणी को यह पता नहीं चलता है कि मेरा पति इनमें कौनसा है ॥ ४० ॥

पयोमुचां यत्र परम्पराभिः समं समङ्गीकृतशृंखलानि ।
वीथीषु वीथीषु चरन्ति मन्दं मत्तानि दन्तावलमण्डलानि ॥ ४१ ॥

जहां वादलों की पांतियों के साथ शृंखलाओं को स्वीकार किये हुए मत्त हाथियों की मंडलियाँ गली गली में मन्द २ विचरती हैं ॥ ४१ ॥

प्रभाकरं बिम्बमुपैति यत्र प्रासादवातायनदृश्यमानम् ।
तदन्तरक्रीडनतत्पराणां मनस्विनीनां मणिदर्पणत्वम् ॥ ४२ ॥

यहां महल के झरोखे में से चमकता हुआ सूर्य का बिम्ब, महल के भीतर खेलती हुई मानिनियों के मणियों के दर्पण जैसा मालूम होता है ॥ ४२ ॥

यत्सौधवातायनतः प्रवृत्ता विभाति कालागुरुधूमरेखा ।
कारागृहावासभयेन नूनं पयोदमालेव पलायमाना ॥ ४३ ॥

बडे बडे महलों के भारी झरोखों से निकलती हुई काली काली गुबारेदार कालागुरु के धुएं की रेखा, ऐसी शोभायमान मालूम होती है मानो मेघमाला महलों के जेलखाने से डरकर भागी जा रही हो ॥ ४३ ॥

तस्यां प्रशस्तस्सकलैर्गुणोघैः कुमुद्वतीबन्धुकुलावतंसः ।
भर्ता धरण्याः प्रथमानकीर्तिः पाण्ड्येश्वरो वल्लभदेवनामा ॥ ४४ ॥

इस पुरी में एक चन्द्रवंशी वल्लभदेव नामक राजा राज्य करते थे। इनके अच्छे अच्छे गुणों के कारण इनकी खूब प्रशंसा थी । इनकी कीर्ति दूर दूर फैल रही थी। संपूर्ण पाण्डयदेश के यही राजा थे ॥ ४४ ॥

करारविन्दप्रथमानदानजलेन यस्य क्षितिनायकस्य ।
अन्यो महाम्भोनिधिराविरासीत् अपीतपूर्वः कलशीसुतेन ॥ ४५ ॥

यह राजा इतना बडा दानी था कि करकमलों में दान के सङ्कल्प के जल से एक दूसरा ही महासमुद्र प्रकट हो गया था जिसे कि कुम्भज ऋषि अगस्त्य ने नहीं पिया था ॥ ४५ ॥

करालया यत्करवालयष्टचा कादम्बिनीत्वं कलयांबभूवे ।
न चेद्यदालोकनतः कथं स्युः पलायमानाः परराजहंसाः ॥ ४६ ॥

इसने कराल चमचमाती तलवार द्वारा मेघमाला बना डाली । यदि ऐसा नहीं तो इसके खञ्जर की धार देखते ही वैरी रूपी राजहंस या अच्छे अच्छे राजे क्यों भाग जाते ? राजहंस मेघमालाओं को देखते ही भाग जाते हैं, यह कहावत प्रसिद्ध है । इसी तरह इस राजा के खञ्जर की चमचमाहट देखते ही अच्छे अच्छे वैरी राजा भाग जाते थे ॥ ४६ ॥

संशोधनार्थं स कदाचिदेकः पुरस्य रात्रौ विशिखाविहारी ।
कञ्चिद् द्विजं सुप्तमलिन्दभागे प्राबोध्य कस्त्वं किमिहेत्यवोचत् ॥४७॥

एक दिन रात के समय नगर के समाचार जानने के लिए महाराज वल्लभदेव गुप्त वेष में नगर में घूम रहे थे । एक जगह चबूतरे पर सोता हुआ एक ब्राह्मण मिला । राजा ने उस ब्राह्मण को जगाकर पूछा कि आप कौन हैं, यहां कैसे आये ॥ ४७ ॥

अथ द्विजस्तेन नृपेण पृष्टः स्नात्वा निवृत्तोऽस्मि सुरस्रवन्त्याम् ।
इत्यब्रवीत्तं च जगाद राजा त्वं ब्रूहि यत्किञ्चिदधीतमद्य ॥ ४८ ॥

राजा के इस प्रकार पूछने पर ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि मैं ब्राह्मण हूं, अभी गङ्गास्नान करके लौटा हूं । यह सुन राजा ने फिर उससे पूछा कि तुमने जो पढा है, उसमें से एक बात कहो ॥ ४८ ॥

इति क्षितीशेन स विप्रवर्यः पृष्टो जगाद प्रथमानमोदः ।
शृणुष्व राजन् शुभशंसिनीं मे वाचं सुनासीरसमानसार ॥ ४९ ॥

राजा के इस प्रश्न से ब्राह्मण ने समझा कि कोई ज्ञानी पुरुष है, इस कारण ब्राह्मण को वडी प्रसन्नता हुई तथा वढी हुई प्रसन्नता के साथ वह ब्राह्मण राजा से कहने लगा कि हे इन्द्र के समान पराक्रमी राजा! कल्याण-सूचक मेरी वाणी को सुनो ॥ ४९ ॥

वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान् निशार्थमर्धं दिवसं यतेत ।
वार्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्रहेतोरिह जन्मना च ॥ ५० ॥

वरसात के चार मास कोई उद्योग नहीं किया जा सकता, इस लिए आठ माह प्रयत्न कर के वरसात के लिए बैठे खाने को संग्रह कर ले। रात में कोई उद्योग नहीं होता, इसलिए रात की आवश्यकता को दिन में पूरी कर ले, बुढापे में कुछ नहीं हो सकता, इस कारण बुढापे के लिए जवानी में कुछ कर ले। इसी तरह परलोक के लिए इस लोक में ही कुछ सञ्चय कर ले ॥ ५० ॥

एतन्निशम्य क्षितिपो मनीषी दृष्टं त्वमृग्यं मम चेति मत्वा ।
अदृष्टयत्ने मतिमाशु कृत्वा विवेश भूयस्स्वगृहं विषण्णः ॥ ५१ ॥

वुद्धिमान् राजा ने उस ब्राह्मण के वचन सुनकर हृदय में विचार किया कि इस लोक की आवश्यक वस्तुओं की चिन्ता करने की तो मुझे कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, पर वहां के लिए मैंने विशेष कुछ नहीं किया, सो परलोक के विषय में कुछ करना चाहिए तथा उसकी रीति मालूम करनी चाहिए। इस चिन्ता में कुछ दुःखी होकर अपने महल में प्रवेश कर गया ॥ ५१ ॥

प्रातस्समाहूय पुरोधसं स्वं संपत्समाख्यं स जगाद राजा ।
तत्वाववोधात् पुरुषार्थसिद्धिः कुतो भवित्री परमा ममेति ॥ ५२ ॥

दूसरे दिन प्रातःकाल ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर राजा ने अपने संपत् ना मक पुरोहित को बुलाया, एवं प्रणाम आदि के पीछे निवेदन किया कि किस तत्वज्ञान से मुझे परम पुरुषार्थ की सिद्धि हो। वह तत्वज्ञान कहां से मिलेगा जिससे मोक्ष प्राप्त हो जाय, यह वताइये ॥ ५२ ॥

तमब्रवीत्संसदि संपदाख्यः धर्मज्ञसंघाच्छ्रुतिनिश्चितार्थम् ।
अवाप्य तन्मार्गवशेन लभ्यम् अदृष्टमित्येव पुरोहितोऽपि ॥ ५३ ॥

सभा में राजा के ऐसे वचन सुनकर सम्पत् नामक पुरोहित राजा से कहने लगे कि धर्म के जाननेवाले लोगों के समुदाय से श्रुतियों का निश्चित अर्थ जानकर उसी श्रुतिसिद्ध मार्ग से परम पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है ॥ ५३ ॥

तथेति राजा बहुवित्तपूर्णं शुल्कं सभायां मुदितो निबध्य ।
इत्यब्रवीच्छुल्कमिदं महद्भिः सञ्छिद्यतां सद्गतिशङ्कया मे ॥ ५४ ॥

पुरोहितजी के कहने को राजा ने स्वीकार किया तथा परम प्रसन्नता के साथ एक नियत धनराशि सभा में बांधकर कह दिया कि जो कोई मेरी इस शङ्का को दूर कर देगा वही इस धन को खोलकर ले जा सकेगा ॥ ५४ ॥

ततस्तदा धन्विपुरे मुरारिः श्रीविष्णुचित्तेन वटाग्रधामा ।
प्रकाशयिष्यन् परमार्थजातं जगद्धिताय स्वयमेवमाह ॥ ५५ ॥

इसके पीछे वटपत्रशायी भगवान् की यह इच्छा हुई कि परम पुरुषार्थ को विष्णुचित्त के द्वारा प्रकाशित कराऊंगा जिससे संसार का कल्याण होगा। इसी इच्छा से प्रेरित होकर विष्णुचित्त से धन्विपुरवासी वटपत्रशायी भगवान् बोले ॥ ५५ ॥

त्वमद्य गत्वा मधुरां महीशबद्धञ्च विच्छेदय तत्र शुल्कम् ।
खनित्रमुद्राकिणपाणिना तद्वेदार्थसाध्यं कथमाहरेऽहम् ॥ ५६ ॥

कि हे विष्णुचित्त! तुम मथुरा जाओ और वल्लभदेव ने जो धन बांध रखा है, उसे ले आओ। यह सुनकर विष्णुचित्त कहने लगे कि महाराज ! हाथों से कुदाल चलाते चलाते मेरे हाथों में उसके खट्टे पड गये हैं। मैं ऐसे हाथों से उस शुल्क को कैसे खोल लाऊं जो कि वेदों के अर्थों से प्राप्त होनेवाला है ॥ ५६ ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच देवः वेदार्थसारप्रतिपादकत्वम् ।
न त्वद्धुरस्तद्विवृणोमि यावद् गत्वा त्वमद्यैव गृहाण शुल्कम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार बोलते हुए विष्णुचित्त से वटपत्रशायी भगवान् बोले कि तुमपर इसका कोई भार नहीं, वेदार्थप्रतिपादन का काम मेरा है। तुम इसी समय जाओ और उस शुल्क को ग्रहण करो ॥ ५७ ॥

एवं नियुक्तो गुरुणादिमेन रामानुयोगेन यथाञ्जनेयः ।
तीर्त्वा नदीं वेगवतीमुपेत्य पुरीञ्च गोष्ठीमविशन्नृपस्य ॥ ५८ ॥

आदिगुरु भगवान् की आज्ञा हो जाने पर इस विष्णुचित्त ने इस प्रकार वेगवती नदी को पार किया जैसे पहले भगवान् राम की आज्ञा से हनुमान्‌जी ने समुद्र को पार किया था। पीछे ये मथुरापुरी में आये और यथासमय राजा की गोष्ठी में उपस्थित हुए ॥ ५८ ॥

तमागतं संसदि संपदाख्ये सभूपतौ सत्कृतिवन्दनाद्यैः ।
सन्तोषयत्यर्घ्यमुखोपचारैरध्यक्षिपन् भूपतिमीर्ष्ययाऽन्ये ॥ ५९ ॥

जैसे कि वे सभा में आये उसी समय राजासहित राजपुरोहित ने उनका सत्कार किया, वन्दन किया, अर्घ्य आदि उपचार किये जिससे सभा के आगन्तुक को सन्तोष हो। राजपुरोहित ऐसा कर रहे थे, किन्तु इस कार्य को दूसरे लोग देखकर मारे इर्ष्या के राजा पर आक्षेप करने लगे ॥ ५९ ॥

त्वं संपदाख्यः शरणं समेत्य वेदान्तगम्यं चरमं पुमर्थम् ।
प्रकाशयस्वेति जगाद सोऽपि श्रुत्यर्थजातं हृदयेऽन्वपश्यत् ॥ ६० ॥

परन्तु सम्पत् नामक राजपुरोहित ने विष्णुचित्त को अपना एकमात्र उपाय मानकर प्रार्थना की कि वेदान्त से प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करो। पुरोहित के यह कहते ही विष्णुचित्त ने श्रुतियों के सम्पूर्ण अर्थों को अपने हृदय में देखा ॥ ६० ॥

तमब्रवीत्संसदि संपदाख्यः धर्मज्ञसंघाच्छ्रुतिनिश्चितार्थम् ।
अवाप्य तन्मार्गवशेन लभ्यम् अदृष्टमित्येव पुरोहितोऽपि ॥ ५३ ॥

सभा में राजा के ऐसे वचन सुनकर सम्पत् नामक पुरोहित राजा से कहने लगे कि धर्म के जाननेवाले लोगों के समुदाय से श्रुतियों का निश्चित अर्थ जानकर उसी श्रुतिसिद्ध मार्ग से परम पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है ॥ ५३ ॥

तथेति राजा बहुवित्तपूर्णं शुल्कं सभायां मुदितो निबध्य ।
इत्यब्रवीच्छुल्कमिदं महद्भिः सञ्छिद्यतां सद्गतिशङ्कया मे ॥ ५४ ॥

पुरोहितजी के कहने को राजा ने स्वीकार किया तथा परम प्रसन्नता के साथ एक नियत धनराशि सभा में बांधकर कह दिया कि जो कोई मेरी इस शङ्का को दूर कर देगा वही इस धन को खोलकर ले जा सकेगा ॥ ५४ ॥

ततस्तदा धन्विपुरे मुरारिः श्रीविष्णुचित्तेन वटाग्र्यधामा ।
प्रकाशयिष्यन् परमार्थजातं जगद्धिताय स्वयमेवमाह ॥ ५५ ॥

इसके पीछे वटपत्रशायी भगवान् की यह इच्छा हुई कि परम पुरुषार्थ को विष्णुचित्त के द्वारा प्रकाशित कराऊंगा जिससे संसार का कल्याण होगा। इसी इच्छा से प्रेरित होकर विष्णुचित्त से धन्विपुरवासी वटपत्रशायी भगवान् बोले ॥ ५५ ॥

त्वमद्य गत्वा मधुरां महीशबद्धञ्च विच्छेदय तत्र शुल्कम् ।
खनित्रमुद्राकिणपाणिना तद्वेदार्थसाध्यं कथमाहरेऽहम् ॥ ५६ ॥

कि हे विष्णुचित्त! तुम मथुरा जाओ और वल्लभदेव ने जो धन बांध रखा है, उसे ले आओ। यह सुनकर विष्णुचित्त कहने लगे कि महाराज ! हाथों से कुदाल चलाते चलाते मेरे हाथों में उसके खट्टे पड गये हैं। मैं ऐसे हाथों से उस शुल्क को कैसे खोल लाऊं जो कि वेदों के अर्थों से प्राप्त होनेवाला है ॥ ५६ ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच देवः वेदार्थसारप्रतिपादकत्वम् ।
न त्वङ्करस्तद्विवृणोमि यावद् गत्वा त्वमद्यैव गृहाण शुल्कम् ।। ५७ ।।

इस प्रकार बोलते हुए विष्णुचित्त से वटपत्रशायी भगवान् बोले कि तुमपर इसका कोई भार नहीं, वेदार्थप्रतिपादन का काम मेरा है। तुम इसी समय जाओ और उस शुल्क को ग्रहण करो ।। ५७ ।।

एवं नियुक्तो गुरुणादिमेन रामानुयोगेन यथाञ्जनेयः ।
तीर्त्वा नदीं वेगवतीमुपेत्य पुरीञ्च गोष्ठीन्नविशन्नृपस्य ।। ५८ ।।

आदिगुरु भगवान् की आज्ञा हो जाने पर इस विष्णुचित्त ने इस प्रकार वेगवती नदी को पार किया जैसे पहले भगवान् राम की आज्ञा से हनुमान्‌जी ने समुद्र को पार किया था। पीछे ये मथुरापुरी में आये और यथासमय राजा की गोष्ठी में उपस्थित हुए ।। ५८ ।।

तमागतं संसदि संपदाख्ये सभूपतौ सत्कृतिवन्दनाद्यैः ।
सन्तोषयत्यर्घ्यमुखोपचारैरध्यक्षिपन् भूपतिमीर्ष्ययाऽन्ये ।। ५९ ।।

जैसे कि वे सभा में आये उसी समय राजासहित राजपुरोहित ने उनका सत्कार किया, वन्दन किया, अर्घ्य आदि उपचार किये जिससे सभा के आगन्तुक को सन्तोष हो। राजपुरोहित ऐसा कर रहे थे, किन्तु इस कार्य को दूसरे लोग देखकर मारे इर्ष्या के राजा पर आक्षेप करने लगे ।। ५९ ।।

त्वं संपदाख्यः शरणं समेत्य वेदान्तगम्यं चरमं पुमर्थम् ।
प्रकाशयस्वेति जगाद सोऽपि श्रुत्यर्थजातं हृदयेऽन्वपश्यत् ।। ६० ।।

परन्तु सम्पत् नामक राजपुरोहित ने विष्णुचित्त को अपना एकमात्र उपाय मानकर प्रार्थना की कि वेदान्त से प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करो। पुरोहित के यह कहते ही विष्णुचित्त ने श्रुतियों के सम्पूर्ण अर्थों को अपने हृदय में देखा ।। ६० ।।

अनुग्रहादम्बुजसम्भवस्य वल्मीकजन्मेव पुरा स तत्र ।
श्रीपाञ्चजन्याद् ध्रुववन्मुरारेः प्रसादतश्चालभतार्थजातम् ।। ६१ ।।

जैसे पहले ब्रह्माजी की कृपा से वाल्मीकिजी को सब शास्त्रों का ज्ञान हो गया था, ध्रुवजी भगवान् के पाञ्चजन्य शंख से सब कुछ जान गये थे, इसी तरह ये भी भगवान् की कृपा से सर्वज्ञ हो गये ।। ६१ ।।

निश्चिन्वति द्राङ्निगमान्तसिद्धं राज्ञःपुरोऽस्मिन् पुरुषार्थमन्त्यम् ।
शुल्कं तदङ्घ्रौ न्यपतज्जहार तद्विष्णुचित्तः परिपूर्णवित्तम् ।। ६२ ।।

जिस समय विष्णुचित्तसूरि, राजा के सामने उस परम पुरुषार्थ का निश्चय कर रहे थे जो कि वेदान्त से सिद्ध है, तो उसी समय वह निर्धारित पूर्ण धनराशिवाला शुल्क उनके चरणों पर गिर पडा । उसी समय श्रीविष्णुचित्तजी सूरी ने उसे उठा लिया ।। ६२ ।।

सविस्मयो वल्लभदेवनामा स्कन्धे समारोप्य मदावलस्य ।
पुरीं ससेनाविबुधोऽनुगच्छन् प्रदक्षिणं सम्यगकारयत्तम् ।। ६३ ।।

इस लीला को देखकर वल्लभदेव को वडा आश्चर्य हुआ और हाथी के हौदे पर श्रीविष्णुचित्तसूरि को बिठाकर उनके पीछे आप चलने लगा; सेना और विद्वान् सब इसके साथ थे । राजा नें इनको जुलूस के साथ अपने नगर में अच्छी तरह घुमाया ।। ६३ ।।

तदुत्सवालोकनकौतुकेन तत्राविरासीत् पुरतो मुरारिः ।
लक्ष्म्याऽधिरूढो गरुडं परीतः पद्मासनाद्यैस्त्रिदशैर्नभोन्ते ।। ६४ ।।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त के उत्सव को देखने के कुतूहल से जुलूस के सामने प्रकट हो गये । लक्ष्मी आपके साथ थीं, गरुड पर विराजमान थे, आपके साथ साथ ब्रह्मादिक देवता भी आकाश में अपने अपने विमानों पर विराजमान होकर उत्सव को निहार रहे थे ।। ६४ ।।

पुत्रं यथा ब्राह्मरथाधिरूढं द्रष्टुं जनन्या जनकोऽभ्युपैति ।
तथागतं शौरिमवेक्ष्य लक्ष्म्या परां मुदं प्राप स विष्णुचित्तः ।। ६५ ।।

जैसे ब्रह्मरथ में बैठे हुए पुत्र को देखने के लिए मां के साथ पिता चला आता है, उसी तरह लक्ष्मी के साथ आये हुए भगवान् को देखकर उस विष्णुचित्त को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ ।। ६५ ।।

अकालदेशास्पदमादिवस्तु कालाधिराज्ये कथमाप दृष्टचोः ।
इत्यस्य हार्दातिशयादरिष्टम् आशङ्क्य वाचा भवुकं स चक्रे ।। ६६ ।।

जिस देश में काल की गति नहीं उस देश में रहनेवाली आदि वस्तु यहां काल के कठोर शासन में कैसे दृष्गिोचर हो गयी, कहीं ऐसा न हो कि इस दूसरे देश में इन्हें कोई अनिष्ट पहुंचे । इस प्रकार प्रगाढ प्रेम के कारण अरिष्ट की आशङ्का करके उसके निवारण के लिए अपनी वाणी से हाथी पर बैठे हुए ही मङ्गलाशासन करने लगे ।। ६६ ।।

अनन्यलभ्योन्नतिमागतोऽपि नीचैस्स विष्णोर्ददृशे स्वभक्त्या ।
आस्वादनीयाः कलमा हि पक्वाः नम्रीभवेयुर्न हि कोरदूषाः ।।६७।।

यद्यपि श्रीविष्णुचित्त ऐसी उन्नति पर पहुंच चुके थे जिसे कोई नहीं पा सकता, तो भी अपनी भक्ति से अपने को भगवान् का दास ही समझा, स्वादिष्ठ 'कलम' नामक धान जब पकने लगते हैं तब आप ही आप झुक जाते हैं । खून को खराब करनेवाले कोढदूप नामक धान कभी भी नहीं नमते ।। ६७ ।।

सर्वज्ञ सर्वावनसर्वशक्तिभावेषु सत्स्वन्यगुणेषु विष्णोः ।
सौन्दर्यलावण्यमुखानि बाह्ये समीक्ष्य सम्मोहमगात्स चित्ते ।। ६८ ।।

पुरुषोत्तम में सर्वज्ञत्व, सर्वरक्षकत्व, सर्वशक्तिमत्व आदि अनेक गुण होने पर भी उनके अङ्गों की सुन्दरता एवं उनकी चमक आदि वाह्य गुणों को देखकर ये हृदय में मोह को प्राप्त हो गये ।। ६८ ।।

सौन्दर्यलावण्यपुरस्सराणां साम्राज्यमाशास्य हरेः स नित्यम् ।
तालौ गृहीत्वा करिराजघण्टे तन्मङ्गलाशासनगेयमाह ।। ६९ ।।

भगवान् के अङ्गों की सुन्दरता और चमक आदि बाहर के गुणों के अकण्टक राज का सदा के लिए मङ्गलाशासन करके हाथी पर चढे चढे ही

दोनों हाथों में हाथी के घण्टा लेकर बजाते हुए भगवान् के मङ्गलाशासन को गाने लगे ॥ ६९ ॥

श्रीमाल्यकारादुपलभ्य मालां चाणूरमल्लेन नियुध्य जिष्णवोः ।
बाह्वोश्श्रियश्शंखरथाङ्गयोश्च स मङ्गलाशासनमाशशंस ॥ ७० ॥

जिन भुजाओं ने सुदामा माली से माला लेकर चाणूर आदि मल्लों के साथ युद्ध करके उन्हें जीत लिया ऐसा आपके इन भुजाओं का मङ्गल हो ! लक्ष्मीजी का मङ्गल हो ! आपके पाञ्चजन्य शंख का मङ्गल हो ! आपके चक्र का मङ्गल हो! भगवान् विष्णुचित्त को शङ्कित देखकर उसके भय दूर करने के लिए हाथ आदि को दिखाते थे तो यह उसीके अरिष्ट की आशङ्का करके उसीका मङ्गलाशासन करते जाते थे ॥ ७० ॥

ततश्च भूयोऽपि स विष्णुचित्तः कृष्णावतारे विनिमग्नचित्तः ।
आरभ्य गोपान्वयजन्म विष्णोः अशेषलीलामनुभूतवांश्च ॥ ७१ ॥

इसके पीछे फिर भी वे विष्णुचित्त, भगवान् कृष्ण के अवतार में निमग्न हो गये । इनका चित्त भगवान् कृष्ण के अवतार में तन्मय हो गया । उस समय वे गोपकुल में जन्म से लेकर जितनी भी बाललीलाएं तथा अन्य लीलाएं थीं, उन सबका अनुभव कर गये ॥ ७१ ॥

अनन्तलीलानुभवातिरेकजातः प्रमोदो बहिरेत्य तस्य ।
प्रबन्धरूपेण जगद्धितार्थं प्रावर्तत द्रामिडवाक्स्वरूपः ॥ ७२ ॥

जिनका अन्त नहीं है, ऐसी लीलाओं के अनुभव के वढ जाने से विष्णुचित्त का परमानन्द बाहर आकर संसार के भले के लिए द्रामिड (तमिऴ्) भाषामय प्रबन्ध के रूप में प्रवृत्त हुआ ॥ ७२ ॥

ततो हरिस्स्वस्य निवेश्य शक्तिं अर्चाकृतौ तत्र तिरोबभूव ।
स विष्णुचित्तोऽपि गजेन राज्ञा सुसत्कृतः स्वां नगरीं प्रतस्थे ॥७३॥

जिस तरह भगवान् अपने भक्त के महोत्सव को देखने आये थे वैसी ही एक मूर्ति वहीं प्रकट करके उसमें अपनी शक्ति का समावेश

करके अन्तर्धान हो गये । जिस हाथी पर बिठाकर विष्णुचित्त का शहर में जुलूस निकाला था, वह हाथी भी विष्णुचित्त की ही भेंट कर दिया तथा खूब आदर-सत्कार के साथ अपनी नगरी को चले आये ॥ ७३ ॥

पुरीमलंकृत्य सबालवृद्धाः पौरास्तमभ्युद्ययुरात्तहर्षाः ।
यथोचितं तानुपकृत्य पौरान् विवेश रम्यं नगरं स मोदात् ॥ ७४ ॥

जिस समय विष्णुचित्त के नगर-निवासियों ने राजसम्मानित विष्णुचित्त का आगमन सुना तो उसी समय नगर को सजाया । जगह-जगह तोरण बन्दनवार बांध दिये थे । इसके आगमन की प्रसन्नता हर एक के चेहरे पर चमचमा रही थी । बच्चे से लेकर बूढे तक सब इनकी अगवाही लेने पहुंचे । इन्होंने भी सबका यथोचित सत्कार किया । पीछे आनन्द के साथ अपने सुन्दर नगर में प्रवेश किया ॥ ७४ ॥

स धाम गत्वा वटपत्रधाम्नः पादौ गतिं प्राप्य जयोपलब्धम् ।
शुल्केन दन्तावलमर्पयित्वा तस्मै स्वगेहं प्रविवेश हृष्टः ॥ ७५ ॥

विष्णुचित्त वटपत्रशायी भगवान् के मन्दिर में पहुंचे, जो भी कुछ धन लाये थे तथा जिस हाथी को राजा ने दिया था यह सब भगवान् की भेंट कर दिये । पीछे प्रसन्नता के साथ अपने घर की राह ली ॥ ७५ ॥

एवं वल्लभदेवपांड्यनृपतेर्गोष्ठ्यां प्रकाश्येन्दिरा-
सध्रीचः परतत्वतां भगवतस्सर्वागमार्थैक्यतः ।
कृत्वा विश्वहितं प्रबन्धयुगलं श्रीभट्टनाथस्सुधीः
वीथीपूर्णजनार्दनाय वितरन् पुष्पाण्यवर्तिष्ट सः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुचित्त सूरि पाड्यदेश के राजा वल्लभदेव की सभा में लक्ष्मी के साथ विचरनेवाले विष्णु भगवान् को सम्पूर्णशास्त्रों की एकवाक्यता से परतत्व सिद्ध करके एवं संसार के कल्याण के लिए दो प्रबन्धों को रचकर 'वीथीपूर्ण' जनार्दन भगवान् के लिए पुष्पमाला पहिनाते हुए रहने लगे ॥ ७६ ॥

पञ्चमस्सर्गः समाप्तः ।

षष्ठस्सर्गः

श्री भक्तांघ्रिरेणुसूरि का वैभव

ततो महान्छ्रीमति चोलदेशे कवेरजायास्तटसीम्नि कश्चित् ।
ग्रामोऽस्ति मण्डङ्गुडिनामधेयो यत्रासते सप्तशतानि विप्राः ।। १ ।।

श्रीसम्पन्न चोलदेश में कावेरीनदी के किनारे कोई मण्डङ्गुडि नाम का बडा भारी ग्राम है। पहले उसमें सात सौ ब्राह्मण बसते थे ।। १ ।।

ऋग्वेदिनः केचन भूसुरेन्द्राः केचिद्यजुर्वेदविदो महान्तः ।
अन्येऽपि सामश्रुतिपाठशौण्डास्तन्वन्ति यत्रोर्ध्वशिखानिवासम् ।। २ ।।

उनमें कुछ पवित्र ब्राह्मण तो ऋग्वेदी, कुछ महापुरुष यजुर्वेदी, तथा और अग्रशिखी जो कि साम के मन्त्रों का पाठ करना ही अपना परम कर्तव्य समझते थे, ऐसे ब्राह्मण यहां रहते थे ।। २ ।।

कलौ परव्योमनिवासिनं मां द्रष्टुं जनाः केऽपि न शक्नुवन्ति ।
इतीव मत्वा सुकृतैः प्रजानां रमासखो यत्र करोति वासम् ।। ३ ।।

कराल कलिकाल में वैकुण्ठ के अधिपति मुझे वैकुण्ठ आकर देखने को कोई भी समर्थ नहीं हो सकते। ऐसा सोचकर प्रजाओं के सुकृतों से लक्ष्मी के साथ विचरनेवाले भगवान् यहां निवास करते हैं ।। ३ ।।

मरुत्वदाद्या मरुतोऽनुगेहं महीसुरारब्धमखक्रियाभिः ।
आकारिता यत्र हविर्गृहीतुं कुर्वन्ति वास्तव्यकुटुम्बिभावम् ।। ४ ।।

यहां के रहनेवाले ब्राह्मण अपने अपने यज्ञ में इन्द्र से लेकर सब देवताओं को अपने अपने घर बुलाते हैं। देवता भी यहां हवि लेने के लिए आते रहते हैं। प्रतिदिन आते आते यहां के घरों में रहनेवाले कुटुम्बी मनुष्यों के समान ही देवता भी यहां के निवासियों से बन गये हैं ।। ४ ।।

तत्रोदभूद्भागवताद् द्विजेन्द्रात् ज्येष्ठाख्यभे मासि च मार्गशीर्षे ।
श्रीविप्रनारायणनामधेयः मुरारिवक्षोवनमालिकांशः ॥ ५ ॥

वहां एक परम श्रेष्ठ वैष्णव ब्राह्मण से ज्येष्ठानक्षत्र में मार्गसिर के महीने में श्रीविप्रनारायण नामक भक्त उत्पन्न हुए। ये भगवान् के वक्षस्थल पर रहनेवाली वनमाला के अंश थे। ५ ॥

लक्ष्मीमुखाम्भोरुहकेलिभृङ्गैः निस्सीमकारुण्यभरोत्तरङ्गैः ।
श्रीरङ्गराजो भगवानपाङ्गैः स्थितं यमालोकत मातृगर्भे ॥ ६ ॥

श्रीरङ्गराज भगवान ने उस वालक को माता के गर्भ में रहने के समय ही अपने उन कृपाकटाक्षों से देखा जो श्रीलक्ष्मीजी के मुखारविन्द की केलि यानी खेल के भौंरे वने हुए हैं और जिसमें असीम करुणा के भाररूप तरङ्गें उठा करती हैं ॥ ६ ॥

काले यथावद् गुरुणोपनीतः समस्तविद्यार्णवपारदृश्वा ।
निरस्तसंसाररसस्स रङ्गम् अवाप्य रङ्गाधिपतिं सिषेवे ॥ ७ ॥

उपनयन के समय जैसा उस कुल के ब्राह्मण वालक का उपनयन होना चाहिये, उसी तरह गुरु ने इसका उपनयन किया, कुछ ही दिनों में यह संपूर्ण विद्यारूपी समुद्र के पार के देखनेवाले वन गये अर्थात् इन्होंने सब विद्याएं सीख लीं। पर इन्हें संसार के रस से घृणा थी, इस कारण श्रीरङ्गक्षेत्र में जाकर श्रीरङ्गनाथ भगवान् की सेवा करने लगे ॥ ७ ॥

भूत्वा स रङ्गेश्वरकिङ्करेषु गण्योऽन्तरङ्गेषु सभैक्षवृत्तिः ।
श्रीपुण्डरीकस्य विधित्सुरासीत् कृत्यं तदन्तःकरणानुकूलम् ॥ ८ ॥

कुछ दिन के वाद इनकी गणना रङ्गनाथ भगवान् के अन्तरङ्ग किङ्करों में होने लगी, यह अपना जीवननिर्वाह भिक्षावृत्ति से किया करते थे। वहां कोई पुण्डरीक नाम के महात्मा रहा करते थे। उनके हृदय के अनुकूल ही सब काम करने की इनकी इच्छा रहा करती थी ॥ ८ ॥

चकार स श्रीमुकुटान्तरीपसाह्वे पुनः पश्चिमभागसीम्नि ।
उद्यानमुद्यत्तुलसीप्रियालकङ्केलिजात्यादितरूपपन्नम् ॥ ९ ॥

पीछे इन्होंने मुकुटान्तरीप के पश्चिमी नाके पर एक परम सुन्दर बगीचा बनाया जिसमें तुलसी के पेड लगे हुए थे, चिरोंजी की महक उड रही थी, कङ्केलि किलोल कर रही थी, और चमेली आदि के फूल खिले हुए थे एवं अनेक प्रकार के अन्य वृक्षों से भी वह बगीचा सुशोभित था ॥ ९ ॥

उद्दामसूनाप्रपदीनदामकदम्बकैस्तेन समर्प्यमाणैः ।
प्रायेण दामोदरनाम साक्षात् अन्वर्थतामाश्नुत रङ्गनेतुः ॥ १० ॥

इस बाग के अच्छे अच्छे फूलों की इतनी बडी बहुतसी मालायें बनाते थे जो भगवान् रङ्गनाथ के पैरों तक पहुंच जायं। उन्हें प्रत्येक दिन जाकर भगवान् रङ्गनाथ पर चढा दिया करते थे। रङ्गनाथ भगवान् का जो दामोदर नाम है उसे ये सार्थक बना दिया करते थे। दाम माला को कहते हैं, उदर पेट का नाम है जिसके पेट पर मालाएं हों वह दामोदर कहलाता है। ये रोज ऐसी मालाएं बनाते थे जो गले से उदर पर पडती हुई पैरों तक पहुंचती थीं ॥ १० ॥

श्रीमाल्यकैङ्कर्यपरायणेऽस्मिन् केलीमभूत्कामपि कर्तुकामः ।
प्रकाश्य भक्तेष्वतिवत्सलत्वम् एतं परित्रातुमनास्स रङ्गी ॥ ११ ॥

इस प्रकार विप्रनारायण माला की सेवा में तत्पर रहा करते थे। भगवान् रङ्गनाथ की इच्छा इनके विषय में कुछ खेल करने की हुई। भक्तवत्सल रङ्गनाथ भगवान् भक्तों के विषय में अत्यन्त वत्सलता को दिखाकर इन्हें बचाने का मन रखते थे ॥ ११ ॥

कवेरकन्योत्तरतीरदेशे वर्णज्ञदेवायतनाश्रमान्ते ।
दिव्याङ्गनांशाऽजनि देवदेवी रूपेण वर्णाश्रमधर्महन्त्री ॥ १२ ॥

कावेरीनदी के उत्तरी किनारे के देश में वर्णज्ञ (उरैयूर) देव मन्दिर के आश्रम के समीप ही किसी अप्सरा के अंश से एक देवदेवी

नाम की स्त्री पैदा हुई थी। यह इतनी सुन्दरी थी कि इसकी सुन्दरता को देखकर वर्ण और आश्रमों के धर्मों को छांडकर अच्छे अच्छे लोग इसके रंग में रंग जाते थे ॥ १२ ॥

निषेव्य भूपं निचुलापुरेशं चेटीभिरप्यग्रजया निवृत्ता ।
सा मार्गखेदव्यपनोदनार्थम् अवाप रङ्गोपवनद्रुमूलम् ॥ १३ ॥

यह देवदेवी निचुलापुर के राजा की सेवा करके अपनी वडी वहिन तथा अनेक दासियों के साथ अपने स्थान आ रही थी। मार्ग के परिश्रम को दूर करने के लिए भगवान् रङ्गनाथ के उस वाग के वृक्ष की छाया में आकर वैठ गयी ॥ १३ ॥

अथाग्रजामाह निविश्य सुभ्रुः आराममलक्ष्मीमवलोकयेति ।
आनन्दयत्यक्षिपथं मदीयं या नन्दनं चैत्ररथं हसन्ती ॥ १४ ॥

इसके वाद कटोली भौंओंवाली वह देवदेवी विश्राम करती हुई अपनी वडी वहन से वोली कि वाग की शोभा को देख, यह इन्द्र के नन्दनवन तथा कुवेर के चैत्ररथ नामक प्रसिद्ध वगीचे की हंसी करती हुई मेरी आखों को अत्यन्त प्रसन्न कर रही है ॥ १४ ॥

अलिस्वनैः स्वागतमाचरद्भिः कुर्वद्भिरर्घ्यं कुसुमैर्विनिद्रैः ।
पाद्यं मरन्दैः प्रतिपादयद्भिः आतिथ्यमत्र क्रियते द्रुमैर्नः ॥ १५ ॥

यहां वृक्षों ने भौरों की मधुर गुञ्जारों द्वारा स्वागत शब्द का उच्चारण करते हुए खिले हुए सुगन्धित फूलों द्वारा अर्घ्य दे, फूलों के मधु द्वारा पाद्य का प्रतिपादन करके हमारा अतिथिसत्कार कर दिया है ॥ १५ ॥

पाञ्चेषवं चापपृषत्कमौर्वीरथाङ्गरथ्योर्जितकाहलादि ।
आस्ते समित्साधनमत्र यस्मात् अनङ्गवीरः कुरुते विहारम् ॥ १६ ॥

यहां कामदेव के लिए युद्ध की सव सामग्रियां उपस्थित हैं जो कि उसे धनुष भी तैयार है, तीर भी मौजूद हैं, धनुष की प्रत्यञ्चा भी यहां

उपस्थित है। चक्र भी तैयार रखा है, छोटीसी सवारी भी यहां है, बजाने के बाजे काहली आदि भी तैयार हैं, मालूम तो ऐसा होता है कि विजयी कामदेव यहां विहार कर रहा है ॥ १६ ॥

प्रियालकङ्केलिरसालसालतमालमालत्यतिमुक्तकाद्याः।
महीरुहोऽस्मिन् मकरन्दगन्धैः मधुव्रतानां मदयन्ति बृन्दम् ॥ १७ ॥

इस बगीचे में चिरौंजी, कङ्केलि, आम, साल, तमाल, चमेली और तिनिश के वृक्ष, फूलों के रस की सुगन्धियों से, फूलों के रस को पीनेवाले भौंरों के समुदाय को पागल बना रहे हैं ॥ १७ ॥

लताभुजा पुष्परजोऽङ्गरागा प्रसूनहासा नवपल्लवोष्ठी।
आरामलक्ष्मीः कलकण्ठनादैः अभ्यागतानालपतीव साक्षात् ॥ १८ ॥

इस बाग की शोभारूपी लक्ष्मी के हाथ लताएं हैं, फूलों की धूल को ही अपने सुहावने शरीर पर लेप किये हुए हैं, बाग के खिले हुए फूल एसे मालूम होते हैं मानों यह आरामलक्ष्मी अपनी छोटी छोटी दन्तुलियों को निकाल कर हँस रही है। नये नये लाल-लाल कोंपले ही इसके होठ हैं। ऐसी यह बाग की लक्ष्मी मानो कोयल के कण्ठ से निकलते हुए सुस्वर नादों द्वारा हम अभ्यागतों के साथ साक्षात् बातें कर रही हैं ॥ १८ ॥

पुन्नागवापीस्फुरितारविन्दसौगन्धिकेन्दीवरसौरभाणाम्।
वोढा मरुत्कन्दल एष दत्ते प्रत्युद्गतो बन्धुरिवात्र मोदम् ॥ १९ ॥

सन्देशदा और बावली में खिले हुए कमल तथा अच्छी सुगन्धि वाले मुण्डी कमल एवं नीले कमलों की ऐसी सुगन्धि जिसे सूंघते ही नाक तृप्त हो जाय, उसे ले चलनेवाली हवा का यह छोटासा झोंखा यहां हमें सामने आये हुए बन्धु के समान आनन्द दे रहा है ॥ १९ ॥

सन्दर्शनेनात्र ममोपशान्ता श्रान्तिः प्रवेशः पुनरुक्त एव।
इत्यूचिषीं स्मेरमुखारविन्दा सा देवदेवीं सरसं बभाषे ॥ २० ॥

इस वाग के देखने से ही मेरा परिश्रम तो दूर हो गया, फिर वाग के भीतर जाना तो विशेष हो गया, ऐसा सुनकर हंसती हुई देवदेवी को वडी बहन, देवदेवी से रस के साथ वोली ॥ २० ॥

यद्रङ्गधाम्नो मृगयाविहारप्रपञ्चितार्तिप्रशमं करोति ।
किमत्र चित्रं परमध्वखेदम् अपाकरोति स्म यदस्मदीयम् ॥ २१ ॥

जो रङ्गनाथ भगवान के शिकार खेलने से होनेवाले परिश्रम को दूर करता है, उसने हमारे परिश्रम को दूर कर दिया, तो इसमें क्या आश्चर्य की वात है। शिकार के परिश्रम से हमारा राह चलने का परिश्रम क्या ज्यादा है जिस के दूर करने पर आप इतना आश्चर्य मानने लग गयी हैं ॥ २१ ॥

इति प्रियालापपरे पुरस्तादारामलक्ष्मीविहितेक्षणे द्वे ।
अपश्यतां तत्र कृषीवलं तं श्रीविप्रनारायणनामधेयम् ॥ २२ ॥

ये दोनों बहनें इस प्रकार वातें कर रही थीं और इन दोनों की आखें वाग की शोभा पर लगी हुई थी। अपने सामने इन्होंने वाग के किसान श्रीविप्रनारायण को देखा जिसका परिश्रम इस वाग के रूप में उन्हें नेत्रों को आनन्द दे रहा था ॥ २२ ॥

प्रवृद्धरोमप्रकराचिताङ्गं प्रलम्बकूर्चं परिधौतदन्तम् ।
षट्पत्रिकावारिजबीजदाम्नी गात्रेधरं द्वादशकोर्ध्वपुण्ड्रम् ॥ २३ ॥

वाल विना वने हुए वढ रहे थे शिर के वालों के समान ही शरीर के वाल भी वढे हुए थे। वडी वडी लम्बी दाढी थी। इनके दांत सफेद थे। तुलसी की माला तथा कमलगट्ठों की माला गले में पहने हुए थे। वारह ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाये हुए थे ॥ २३ ॥

कुल्यामुखे कुम्भगृहीतमादौ दत्वा तटाकाम्बु पुनस्समेत्य ।
खनित्रवक्त्राकलितालवालान् प्रसूनवृक्षान् परिपालयन्तम् ॥ २४ ॥

उस समय श्रीविप्रनारायण तालाब से पानी लाकर नाली में गेर रहे थे। तथा कस्सी से फूल के वृक्षों का आलवाल बनाकर रक्षा कर रहे रे ॥ २४॥

विभाव्य तं विस्मयमानचेता जगाद येनावरजा स्वसारम् ।
क्षीबः किमाहोस्विदचेतनो वा नालोकते मामपि यत्पुरस्तात् ॥२५॥

श्रीविप्रनारायण को देखकर देवदेवी को बडा आश्चर्य हुआ, इसने अपनी बडी बहन से कहा कि यह कोई नपुंसक है वा पागल है जो सामने खडी हुई भी मुझे नहीं देखता ॥ २५॥

तामग्रजाऽभाषत रूपदृप्तां नायं प्रमत्तो न विवेकशून्यः ।
रङ्गेशकैङ्कर्यरतोऽयमेनं त्वद्रूपसम्पन्न विकर्तुमीष्टे ॥ २६ ॥

यह सुनकर सौन्दर्य पर अभिमान करनेवाली देवदेवी से उसकी बडी बहन बोली कि न यह नपुंसक है तथा न पागल ही है एवं अविवेक भी नहीं है, यह भगवान् श्रीरङ्गनाथ की सेवा में लगा रहनेवाला आदमी है। इसे तेरी सुन्दरता विकार नहीं पहुंचा सकती ॥ २६ ॥

यद्येनमत्राद्य वशीकरोषि विलासहासादिविचेष्टितेन ।
त्वमेव मुख्या वरवर्णिनीनां तदा भवद्दास्यविधां विधास्ये ॥ २७ ॥

जो तू यहां ही अपने विलास से, हास से तथा अनेक अन्य चेष्टाओं से इसे इसी समय वश में कर लेगी तो सुन्दरी स्त्रियों में तू ही मुख्य होगी। उस समय मैं तेरी दासी हो जाऊँगी ॥ २७॥

इतीरयन्तीमनुजाऽब्रवीत्तां वशी मयाऽयं न वशीकृतश्चेत् ।
दासी भविष्यामि तवेति तस्मात् व्यसर्जयत्तां सह चेटिकाभिः ॥

जब बडी बहन ने ऐसी शर्त पहले से कर दी तो यह कब पीछे हटनेवाली थी, यह भी अपनी बडी बहन से कहने लगी कि इस जितेन्द्रिय को मैं ने वश में नहीं किया तो मैं तेरी दासी हो जाऊंगी। यह कहकर इस देवदेवी ने बडी बहन और दासी जनों का साथ छोड दिया। ये लोग अपने घर को रवाना हो गये ॥ २८॥

अंगाद्विसृष्टानि विनान्तरीयं समुज्ज्वलान्याभरणाम्बराणि ।
निधाय कुत्रापि तमेत्य तन्वी पदारविन्दे प्रणनाम तस्य ॥ २९ ॥

इसने अपने वदन पर सिवा एक धोती के और कुछ भी नहीं रखा, अच्छे अच्छे वस्त्र और भूषण वहीं कहीं छिपा दिये। पीछे यह श्रीविप्रनारयण के पास पहुंची और उनके चरणारविन्दों में झुककर प्रणाम किया ॥ २९ ॥

वाराङ्गनाहं जननी न्ययुंक्त मामर्थलुब्धा सकलान्भजेति ।
त्यक्त्वाऽद्य तां बन्धुजनैर्भवन्तं गतिं प्रपन्ना परमार्थसिद्ध्यै ॥ ३० ॥

और बोली कि महाराज! मैं वेश्या हूं मेरी मा पहली कोटि की लोभिनी है। उसने मुझसे कहा कि जो आवे उसकी ही सेवा कर और धन कमाकर मुझे दे। पर यह कार्य मैं ने अच्छा न समझा इस कारण मैं ने मा को भी छोड दी और परिवार भी छोड दिया। आप ही मेरी गति हैं। मैं आपकी शरण आयी हूं कि आपके कृपाकटाक्ष से मोक्ष को ही प्राप्त करूं ॥ ३० ॥

अकिञ्चनां मां शरणं प्रपन्नाम् आरामरक्षाविधये नियुज्य ।
समर्प्य मालामपि रङ्गभर्तुः आदाय भैक्षं भगवंस्त्वमेहि ॥ ३१ ॥

मेरा और कोई नहीं है। मैं आपको ही अपना उपाय जानती हूं। आप मुझे बाग की रखवाली पर कर दें, रङ्गनाथ भगवान् को माला पहिनवाकर तत्पश्चात् भिक्षा आप करके लायें ॥ ३१ ॥

इति ब्रुवाणां गणिकां प्रमोदादानन्दयन्नात्मसधर्मिणीति ।
श्रीशाय भैक्षञ्च निवेद्य तत्र प्रादात्स तस्यै निजभुक्तशेषम् ॥ ३२ ॥

ऐसा कहती हुई उस वेश्या को समझा कि हमारी तरह यह भी भगवान् की शरणागत है, पीछे सांत्वना के साथ उसे प्रसन्न करते हुए बाग में रख लिया। रोज भिक्षा लाते भगवान के भोग लगाते पीछे प्रसाद पाकर जो भी कुछ बचता था सो सब वेश्या को दे दिया करते थे ॥३२॥

कुल्यागतं सा जलमालवाले प्रपूर्य कुल्यान्तरमानयन्ती ।
तत्र द्रुमासेचनकर्मकाले तदाशयासेचनकत्वमाप ।। ३३ ।।

जब यह कपट वेशिनी साध्वी, बाग की छोटी रजबहा से एक बूटे को भरकर दूसरे बूटे में पानी छोडा करती थी। उस समय श्रीविप्रनारायण भी पानी लगाया करते थे, इसके कार्य को देखकर विप्रनारायण को बडा ही सन्तोष होता था ।। ३३ ।।

वर्षागमे पर्णकुटीं कदाचित् प्रविश्य तामप्यनयत्स तत्र ।
तस्याद्रवन्मानसमग्रतोऽस्याः वह्नेर्दृढः किन्नवनीतपिण्डः ।। ३४ ।।

एक दिन बडे जोर की वर्षा आयी। इस बाग में एक ही छोटीसी पर्णकुटी थी। श्रीविप्रनारायण इसमें पहले से ही रहा करते थे, इस कपटवेशी को भी उसमें आने की आज्ञा दे दी देवदेवी के कुटी में आने के पीछे विप्रनारायण का चित्त चलायमान हो गया। चाहे ताजे मक्खन का लोदा कितना ही कडा क्यों न हो, पर आग के सामने उसकी कडाई जाती रहती है ।। ३४।।

हितं परं ब्रूहि ममेति किञ्चित् तत्पादसंवाहनमाचरन्ती ।
सा काममभ्यर्णगतं कटाक्षैः सन्धत्स्व बाणान् धनुषीत्यवादीत् ।।३५।।

देवदेवी विप्रनारायण के चरण दबाने लगी, कहने लगी कोई ऐसी बात कहें जिससे मेरा परम कल्याण हो, इसका यह कहना क्या था, मानों समीप में छिपे हुए कामदेव को यह आखों से कह देना था कि तू तेरे तीरों को धनुष पर चढा ले ।। ३५।।

अपाङ्गभङ्गीजनितामनुज्ञाम् अवाप्य तन्व्यास्स्वयमात्मयोनिः ।
अधत्त पाणौ कलशिञ्जिनीकम् अमोघपुष्पायुधमिक्षुचापम् ।। ३६ ।।

कामदेव, पतले से सुन्दर शरीरवाली इस परम सुन्दरी की आखों के इशारे से आज्ञा पा, मधुर बजनेवाली रस्सी जिसमें पडी हुई है, ऐसे ईख के धनुष का सन्धान किया जिससे चलाये गये फूलों के तीर कभी खाली नहीं जाते ।। ३६ ।।

तदात्व एव त्वरमाणकामनिस्सीमसन्नाहनिदर्शनानि ।
कूलङ्कषास्तत्र समाविरासन् कोलाहलाः कोकिलकाहलीनाम् ॥ ३७ ॥

उसी समय ही वहां शीघ्रता किये हुए कामदेव की निस्सीम तैयारी को दिखानेवाले, कोयलरूपी काहलियों के कोलाहल होने लगे जिसे सुन कर अच्छे अच्छे विरक्तों का धैर्य जाता रहे ॥ ३७ ॥

माकन्दकुन्दादिमहीरुहाणां मरन्दविन्दूत्करगन्धवाहः ।
समाययौ तत्र शनैस्सुजातः पाटीरभूरुट्प्रवमानपोतः ॥ ३८ ॥

उसी समय एक ऐसा पवन का झकोरा चला जिसमें पाटीर के वृक्षों की शुद्ध सुगन्धि सनी हुई थी। यह अत्यन्त मीठी जाति के आम तथा कुन्द आदि वृक्षों के रस की विन्दुओं के समुदाय की सुगन्धि को उडाये उडाये फिरता था ॥ ३८ ॥

भृङ्गावलीनां विकचेषु तत्र झङ्कारभङ्गी तरुकोटरेषु ।
भृङ्गारजाकृष्टशरासनज्याटङ्कारशङ्कां प्रकटीचकार ॥ ३९ ॥

वृक्षों को लताएं आपस में इतनी मिल गयी हैं कि उनके अवकाश खिली हुई खोतर के समान चमकते हैं जिसमें भौंरों की डारें झङ्कार की धारा ही लगाये हुए हैं जो कामदेव के धनुष की कान तक खीचीं हुई शिंजिनी के टङ्कार की शङ्का उत्पन्न कर रही है ॥ ३९ ॥

मनस्तदीयं मदनाधिरूढम् अवेक्ष्य साक्षादरविन्दनेत्रा ।
नवप्रसूनैर्विरचय्य शय्यामशेषभूषाभिरलंकृताऽभूत् ॥ ४० ॥

खिले हुए कमल जैसे नयनवाली देवदेवी ने विप्रनारयण के चित्त पर काम की सवारी देखकर उस छोटीसी कोठरी में फूलों की सेज बिछायी और आप भी अपने छिपे छिपाये वस्त्र और गहने को निकाल कर पूरी सज गयी ॥ ४० ॥

विभूषिता सा विषमायुधस्य शाणोपलीढैव कृपाणयष्टिः ।
न चेत्कथंस्यात् सहसैव तस्यां संक्रान्तमन्तःकरणं तदीयम् ॥ ४१ ॥

जिस समय यह वस्त्र-भूषणों से सज गयी उस समय ताजी सान रखी हुई कामदेव की पैनी कटार बन गयी । यदि ऐसा न होता तो यह बिलकुल असम्भव बात थी कि इक बारगी ही विप्रनारायण का मन इसपर लट्टू हो जाय ॥ ४१ ॥

तत्पाणिसम्पर्कवशेन तस्य विजृम्भितं घर्मपयःकदम्बम् ।
विरक्तये दत्तनिवापतोयविडम्बनामाकलयाञ्चकार ॥ ४२ ॥

इसने इन्हें अपने हाथों से लिलखुरी करते हुए छू दिया जिससे एक दम ही इनके शरीर से पसीना पूरे वेग के साथ निकलने लगा। यह पानी ऐसा मालूम होता था कि आज विप्रनारायण अपनी विरक्तता के लिए तिलाञ्जलि दे रहे हैं ॥ ४२ ॥

अभंगुरालिङ्गनतस्तरुण्या जातास्तदङ्गे पुलकप्ररोहाः ।
स्मरेण पूर्वं हृदये निखाता बहिर्गताः केलिशरा इवासन् ॥ ४३ ॥

जब देवदेवी ने इनका गाढ आलिङ्गन किया उसी समय इनके शरीर में पुलकावलि खडी हो गयी, यह पुलकावलि ऐसी मालूम होती थी कि कामदेव ने पहले जो खेलते खेलते इनके हृदय पर तीर मारे थे वे सब के सब बाहिर निकल आये हैं ॥ ४३ ॥

अङ्गानुषङ्गादसितेक्षणाया विशृंखलो वेपथुरुज्जिहानः ।
अबोढमन्तःकरणाच्च धैर्यम् अनक्षरं तस्य समाचचक्षे ॥ ४४ ॥

देवदेवी के शरीर-सम्बन्ध से विप्रनारायण के कम्प उत्पन्न हुआ यह कांपना विना वाणी के यह बात बता रहा था कि जो हृदय में धैर्य धारण कर रखा था वह अब जा रहा है, या धैर्य यह कह रहा था कि लीजिये महाराज, अब मैं आपके हृदय से जाता हूं ॥ ४४ ॥

एवं तदा दर्शितविक्रियस्य कदापि कान्ताविषयानभिज्ञम् ।
मनो वशीकर्तुमियेष तस्य मनोभवायोधनवैभवेन ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दिखा दी है विक्रिया जिसने जो कि कान्ता विषय को बिलकुल नहीं जानते थे, उस विप्रनारायण के मन को काम युद्ध के वैभव से अपने वश में करने की इच्छा करने लगी ।। ४५ ।।

कान्ता जहारांशुकमस्य सोऽस्याः कचेष्वगृह्णात्तमियञ्च तां सः ।
पपौ च साऽस्याधरमेष तस्याः चकार यत्साऽन्वकरोत्तदेषः ।। ४६ ।।

देवदेवी ने विप्रनारायण के वस्त्र खींचकर उसे नङ्गा कर दिया । पीछे विप्रनारायण ने भी देवदेवी को नग्न कर दिया, इसने उसके बालों को पकड लिया, विप्रनारायण ने देवदेवी के बालों को पकड लिया। देव-देवी ने विप्रनारायण के अधरामृत का पान कर लिया, फिर विप्रनारायण भी देवदेवी के अधरों का पान किया। ये जानते कुछ नहीं थे, पर यह जरूर था कि जो देवदेवी पहले करती थी, पीछे ये उसीका अनुकरण करते थे ।। ४६ ।।

रतिक्रियाध्यापनशीलकामकशायमानालकपुष्पदामा ।
प्रसृत्वरस्वेदपयःकणालीप्रमृष्टकालेयकपत्रलेखा ।। ४७ ।।

विप्रनारायण नहीं जानते थे कि रति कैसे की जाती है, इसलिये इन्हें एक ऐसे शिक्षक की जरूरत थी जो रति करना बता दे। स्वयं कामदेव ही इनका शिक्षक बना हुआ था। देवदेवी के जुल्फों की माला ही काम का चाबुक बन गई थीं । कपोलों पर जो दारुहलदी बडे तरीके के साथ लगी हुई थी, वह बहनेवाले पसीने के पानी के कणों से पुँछ-सी गयी थी ।। ४७ ।।

पयोधराग्रच्युतहारमुक्ताप्रसूनजालाञ्चितपञ्चबाणा ।
बिम्बाधरास्वादनिरोधलीला विधूतहस्ताग्रवलद्विभूषा ।। ४८ ।।

स्तनों पर जो जवाहराती हार पडा हुआ था, वह टूट गया, मोती गिरने लगे, काम की पूजा में ये फूलों के गुच्छे बन गये। इन दोनों में से एक एक का अधर पीना चाहता था, तो दूसरा उसे रोकना चाहता था

इस रतिसर्वस्व देवदेवी के हाथ अधर चूमनेवाले को रोकने में कांप रहे थे जिससे हाथों के आभूपण आपस में बजते रहते थे ॥ ४८ ॥

कटीविलोलद्रशनाकलाप कलस्वनश्लाघितकामकेलिः ।
स्फुरत्तनुः कामशरास्त्रवेधकर्णेजपैर्दिक्करिकाविलासैः ॥ ४९ ॥

यह जो कमर में वजनी कोंदनी पहने हुए थी यह काम के लचकने से वारंवार बजती रहती थी, मानो वह इनकी कामक्रीडा की श्लाघा कर रही थी । मौका मिलते ही वह उसके कपोल को काट लेता था तो दूसरा दूसरे को काटता था और भी जगह काट लेते थे, इससे देवदेवी का शरीर चञ्चल हो जाता था । कपोलों पर पडे हुए चिकाने कामदेव के बाणों के बेध को बता रहे थे ॥ ४९ ॥

वाचालकाञ्चीवलया विकीर्णकचोच्चया स्विन्नकपोलभागा ।
वल्गत्कुचा वल्गुकपोतनादा मनस्तदीयं मदयाञ्चकार ॥ ५० ॥

करधनी और हाथों के कडे तो कभी बजने से वन्द हुए ही नहीं, खेलते खेलते शिर के वाल खुल गये थे, पसीना से कपोल भीग गये थे। स्तन उछल रहे थे, सुन्दर कबूतर के से शब्द होता था, इन साधनों से विप्रनारायण के चित्त को मत्त कर दिया ॥ ५० ॥

अङ्गीकृतालम्पदमाकुलाक्षं आरब्धचाटुक्रममात्तहासम् ।
अभङ्गसीत्कारमनङ्गतन्त्रं आलम्बिताज्ञाक्षरमातनोत्सा ॥ ५१ ॥

"बस, रहने दीजिये! ..." यह वारंवार कहती जाती थी, आखों घवराई हुई-सी बना ली थी, हँसती थी, मीठी मीठी वातें वनाती थी, सीकारे तो कभी इसके बन्द ही नहीं हुए, बात बात पर बार बार कसमें खिलाती थी, इस प्रकार यह कामशास्त्र की लीलायें खेल खेल कर दिखा रही थी। इस विप्रनारायण के वश करने के लिए कामशास्त्र के कहे हुए खेलों को कर रही थी ॥ ५१ ॥

सा तन्मयी वा स च तन्मयः किम् उभौ च पञ्चेषुमयौ किमेतौ ।
त्रयोऽपि शृङ्गारमयाः किमेते शक्या बभूवुर्न विवेक्तुमैक्यात् ॥ ५२॥

वह देवदेवी विप्रनारायणमय हो गयी, या यही देवदेवीमय हो गया, अथवा ये दोनों कामदेवमय हो गये, या कामदेव और ये दोनों शृङ्गारमय हो गये, यह जानना महाकठिन हो गया था, क्यों कि ये चारों आपस में इतने मिल गये थे कि इनको जुदा करके जान लेना सहल नहीं था ॥ ५२॥

विशृंखलांस्तत्र विहारभेदान् नाबोधिषातां सुखपारवश्यात् ।
स्मरोऽस्त्रसन्धानपरो न वेद तल्पं न वाऽबोधि समस्तसाक्षी ॥ ५३॥

ये दोनों स्वयं भी शृंखलारहित अपने विहार के भेदों को सुख के परवश होने के कारण न जान सके, कामदेव अपनी तीरन्दाजी में लगा हुआ था, इस कारण इसे तो खाट तक का भी पता न चला कि नीचे क्या बिछा हुआ है। सब कामों को सदा देखनेवाले भगवान् अपने प्यारे भक्त की विक्रिया को क्यों देखने लगे थे इस कारण उन्हें भी कुछ पता न चला ॥ ५३॥

एवं मनोज्ञेषु लतागृहेषु विहारिणौ तौ क्षणमप्यभिन्नौ ।
निमेषवन्निन्यतुरुज्जिहानकन्दर्पदर्पौ कतिचिद्दिनानि ॥ ५४॥

इस प्रकार ये सुन्दरलता गृहों में विहार करते रहते थे। एक क्षणमात्र भी एक को छोड कर दूसरा जुदा नहीं होता था। बढते हुए कामदेव के मदवाले इन दोनों मतवालों ने कुछ दिन ऐसे बिता दिये जैसे एक निमेष बीत जाता है, इन्हें दिनों का कुछ भी पता नहीं चला ॥५४॥

तन्वी वशीकृत्य विलासभेदैः तमानिनायोपवनात्पुरीं स्वाम् ।
विभण्डकस्येव सुतं वनान्तात्पुरा ततिर्वेशविलासिनीनाम् ॥ ५४॥

पहले कुछ एक वेश्यायें मिलकर विभण्डक के पुत्र शृङ्गी ऋषि को छलकर वन से नगर में ले आयी थीं जो यह भी नहीं जानते थे कि स्त्री

कैसी होती हैं। पर उन्हें घर-गृहस्ती बनाकर बिठा दिया था। इसी तरह यह पतली-सी ख़ूबसूरत वेश्या देवदेवी अपने विलास-भेदों से विप्रनारायण को वश करके बाग से अपने नगर में ले आयी ॥ ५५॥

निजोपबर्हं निखिलं वहन्तं प्रदर्श्य सा तं द्विजमग्रजायै ।
तीर्णप्रतिज्ञा स्वगृहं विवेश सखीजनश्लाघितरूपसम्पत् ॥ ५६॥

धीरे धीरे इसने बेचारे विप्रनारायण पर अपना इतना रंग जमा लिया था कि जो यह कहती थी सो वह करते थे। यहाँ तक कि ग्राम में आती वार देवदेवी ने अपना विस्तर लाते हुए विप्र को अपनी वडी वहिन को दिखा दिया। विप्रनारायण के विषय में जो प्रतिज्ञा की थी, वह इसकी पूरी हो गयी। यह आनन्द के साथ अपने घर घुस गयी। और सखी जनों ने इसके सौन्दर्य-लावण्य की ख़ूब प्रशंसा की ॥ ५६॥

सा वर्णिधर्मानपनीय तस्य विवृण्वती कामुकवेषमुद्राम् ।
रतोत्सवैस्तैः कतिचिद् दिनानि रक्तेव तन्वी रमयांबभूव ॥ ५७॥

जो त्यागियों के धर्म होते हैं उन सब धर्मों को इसने छुडवा दिया (जिस वेष में विप्रनारायण रहा करते थे उस वेष को भी छुडा दिया), जिस वेष से कामी वेश्यागामी रहा करते हैं वैसा ही इनका वेष बना दिया। (यह हृदय से थोडा ही चाहती? थी क्यों कि जो भी कुछ कर रही थी या किया था वह अपनी जिद पूरा करने के लिए किया था, पर अनुराग दिखाने में कोई कमी भी नहीं करती थी।) अनुरागवती की तरह यह पहले जैसे मैथुन के उत्सवों से कुछ दिन तक विप्रनारायण को रमण कराती रही ॥ ५७॥

सर्वस्वमस्यै प्रतिपाद्य तस्मिन् शून्ये धने साऽप्यनुरागशून्या ।
अपाकरोतिस्म तमर्थलोभात्तन्मन्दिरद्वारि स चास्त खिन्नः ॥ ५८॥

जब तक यह ला ला कर उसे देते रहे तब तक प्रेम दिखाती रही, जब ये सब कुछ दे चुके, इनके पास कुछ न रहा तो इसने भी प्रेम

दिखाना बन्द कर दिया। जब कुछ न दिया तो एक दिन अपने घर से निकाल दिया। विप्रनारायण उसी अपनी प्रेयसी के दरवाजे पर अतिदुःख के साथ पडे थे ॥ ५८॥

तदा रजन्यां रहसि स्वदारै रङ्गाधिपः केलिकलाप्रसक्तः।
अकाण्डमन्दस्मितमाततानोत्तं किमित्यपृच्छत्कलशाब्धिकन्या ॥ ५९॥

उसी समय एकान्त में रात में श्रीभगवान् रङ्गनाथ अपनी महिषियों के साथ खेल में लगे हुए थे। विना किसी कारण के अपने आप हंस गये। इस मन्दहास पर श्रीलक्ष्मीजी को सन्देह हुआ कि बेबात क्यों हंसे और धीरे से भगवान् से भी पूछ लिया कि आप इस समय बेबात क्यों हंसे ॥ ५९॥

सोऽवोचदस्मत्सुमनःप्रदायी श्रीविप्रनारायणनामभक्तः।
वेश्यानुषक्तस्स तयाऽर्थलोभात् निराकृतस्तिष्ठति खिन्नचेताः ॥ ६०॥

भगवान् रङ्गनाथ ने लक्ष्मीजी से कहा कि हमारी फूल की सेवा करनेवाला हमारा विप्रनारयण नाम का भक्त जो है वह इस समय देवदेवी नाम की वेश्या के रङ्ग में रंग गया है। उस वेश्या ने धन के लोभ में आकर घर के वाहिर निकाल दिया है, इस समय वह उसी वेश्या के दरवाजे पर विमना होकर वैठा हुआ है ॥ ६०॥

इति ब्रुवाणं तमुवाच देवी कथं स जातो विषयानुषक्तः।
सोऽयं शिशुर्विश्वविमोहनानां किमास्पदं तावकविभ्रमाणाम् ॥ ६१॥

ऐसा कहते हुए भगवान् से लक्ष्मी ने पूछा कि विप्रनारायण तो विषयों से विरक्त था, विषयों में आसक्त कैसे हो गया! भगवन्! संसार को मोहित करनेवाले आपके खेलों का यह बच्चा तो स्थान नहीं था। आप ही विचारें, यह बच्चा स्थान है क्या ॥ ६१॥

विधाय पूर्णं विषयाभिलाषम् अमुष्य निश्शेषमघं निरस्य।
पात्रं कृपाया भवतः पुरेव तमद्य हृद्यं परिपाल्य त्वम् ॥ ६२॥

इसके विषयाभिलाषा को पूरा करके इसके सम्पूर्ण पापों को नष्ट करिये, जैसे पहले आपका कृपापात्र था इस समय भी है, आपका प्यारा है, आपको उसका प्रतिपालन करना चाहिये ॥ ६२ ॥

इति प्रियायास्स वचो निशम्य पुरस्समादाय सुवर्णपात्रम् ।
विवेश वेश्याभवनं महत्त्वं सन्तो विवृण्वन्ति हि नाश्रितेषु ॥ ६३ ॥

लक्ष्मीजी के ऐसे वचन सुनकर उनके सामने ही सोने के बर्तन लेकर वेश्या के घर चल दिये । क्यों कि महात्मा पुरुष अपने आश्रितों में बडप्पन नहीं दिखाया करते ॥ ६३ ॥

श्रीविप्रनारायणभाषितेन समागतं मां भवनं त्वदीयम् ।
कान्तोपयन्तेत्यवधार्य नाम्ना कपाटमुद्घाटय देवदेवि ॥ ६४ ॥

"श्री विप्रनारायण ने मुझे कहा है, उसीके कथनानुसार मैं तेरे यहां आया हूं, कान्तोपयन्ता मेरा नाम है, हे देवदेवी! अपने घर के दरवाजे के किवाड खोल!" इस प्रकार भगवान् रङ्गनाथ ने देवदेवी के द्वार पर जाकर कहा ॥ ६४ ॥

तयोपहूतस्तपनीयपात्रं समर्प्य तस्यै सदनं प्रविश्य ।
कान्तोपयन्ताऽकथयद्वितीर्णं श्रीविप्रनारायणकामिनेति ॥ ६५ ॥

देवदेवी ने दरवाजे की आवाज सुनकर दरवाजा खुलवाया और दरवाजे पर आवाज देनेवाले को भीतर बुलवा लिया । रङ्गनाथ भगवान ने देवदेवी को सोने के पात्र देकर कहा कि यह पात्र तुम्हारे प्रेमी श्रीविप्रनारायण ने भेजा है कि जाओ देवदेवी को यह पात्र दे आओ ॥ ६५ ॥

प्रहृष्टया काञ्चनपात्रलाभात्समानयस्वेति तया प्रणोतः ।
त्वां देवदेव्याह्वयतीति गत्वा स विप्रनारायणमाजुहाव ॥ ६६ ॥

सोने का पात्र मिलते ही देवदेवी परम प्रसन्न हुई और कान्तोपयन्ता से बोली कि उसे भीतर ले आओ, कान्तोपयन्ता ने बाहिर आकर विप्रनारायण से कहा कि आप को देवदेवी बुला रही है ॥ ६६ ॥

कर्णामृतं तद्वचनं निशम्य तद्वेश्म हृष्टे सहसा प्रविष्टे ।
तस्मिन्पुनर्दीव्यति देवदेव्या रङ्गेश्वरोऽपि स्वपुरं जगाम ॥ ६७॥

कान्तोपयन्ता के ये वचन विप्रनारायण को कान के अमृत के समान प्यारे लगे। सुनते ही एक दम प्रसन्न होकर उसके घर घुस गये। सोने का पात्र मिलते ही देवदेवी इसके लिए तैयार थी ही, जाते ही देवदेवी के साथ क्रीडा करने लगे। भगवान् रङ्गनाथ भी अपने नगर को चले आये ॥ ६७॥

ततः प्रभाते तपनीयपात्रं पुरःस्थितं रङ्गपतेरदृष्ट्वा ।
बभूव भीतिः परिचारकाणां परस्परं सार्चकभौरिकाणाम् ॥ ६८॥

प्रातःकाल के समय रङ्गनाथ भगवान् के सामने सोने का पात्र न देख कर सेवा करनेवालों को आपस में डर लगा, पुजारी लोग भी भयभीत हुए और खजानची लोग भी डरे ॥ ६८॥

तदालिदृष्टं तपनीयपात्रं चाराननाद्भूसुरदत्तमादौ ।
श्रुत्वा स्थितं वेश्मनि देवदेव्या व्यजिज्ञपुस्ते निचुलाधिपाय ॥ ६९ ॥

किसी पुजारी आदि से देवदेवी की सखी ने कह दिया कि आपके भगवान् का सोने का वर्तन देवदेवी के घर पर है, विप्रनारायण ब्राह्मण ने अपने दूत के हाथ से देवदेवी के घर भेज दिया है। इन पुजारी आदि ने यह खबर निचुलापुरी के राजा के यहां कर दी ॥ ६९॥

आहूय साकं गणिकां महीन्द्रः श्रीविप्रनारायणभूसुरेण ।
सौवर्णमेतच्चषकं भवत्यै समर्पितं केन कदेत्यवादीत् ॥ ७० ॥

निचुलापुरी के राजा ने विप्रनारायण और देवदेवी दोनों को अपने न्यायालय में बुला मंगाया, और देवदेवी से पूछा कि आपको रङ्गनाथ भगवान् का यह सोने का वर्तन किसने किस समय दिया है ॥ ७०॥

नृपाग्रतस्सा निजगाद दत्तं द्विजन्मनाऽनेन स चाह नेति ।
साऽचष्ट दूतोऽस्य ददौ स चोचे दूतो न मेऽस्तीति मिथो वचोऽभूत् ॥

पूछते ही राजा के सामने देवदेवी ने कह दिया कि इस ब्राह्मण ने मुझे लाकर दिया था, ब्राह्मण से पूछा तो ब्राह्मण ने कहा कि मैं ने तो नहीं दिया। देवदेवी बोली कि इन्होंने अपने दूत के हाथ मेरे यहां भेज दिया था। यह सुन कर विप्रनारायण ने कहा कि मेरे पास दूत तो हैं ही नहीं। इस तरह इनमें आपस में बातचीत हुई ॥ ७१ ॥

विवादमाकर्ण्य तयोः क्षितीन्दुः अमात्यमित्याह परीक्ष्य चोरम्।
समर्प्य पात्रं हरये सुवर्णस्तेयोक्तदण्डेन विधेहि दण्डम् ॥ ७२ ॥

राजा ने इन दोनों का ऐसा विवाद सुनकर अपने मन्त्री को आज्ञा दी कि इन दोनों में जो चोर हो, उसे जांच कर वह दण्ड दो जो सोने की चोरी करनेवाले के लिए शास्त्र से दिया जाता है। यह सोने का रङ्गनाथ भगवान् का बर्तन श्रीरङ्गनाथ भगवान् के पास पहुंचा दो ॥ ७२ ॥

तमेव कार्तस्वरपात्रचोरं निश्चित्य तद्दण्डविधिं विधित्सौ।
अमात्यवर्ये नरदेवमेवम् अभाषत स्वप्नमुखेन रङ्गी ॥ ७३ ॥

राजा के दीवान ने सोने के बर्तन का चोर विप्रनारायण को ही निश्चित किया और इसे ही दण्ड देने का विचार किया। इधर भगवान् रङ्गनाथ ने यह जानकर निचुलापुरी के राजा से स्वप्न में कहा कि ॥

श्रीविप्रनारायणतोषपोषं चिकीर्षुणाऽदायि मयैव तस्यै।
हिरण्मयं पात्रमसौ न दण्डचो वेश्यार्पितं मास्तु मयार्पितं स्वम् ॥

हे राजन्! श्रीविप्रनारण को परम प्रसन्न करने की इच्छा से मैं ने ही सोने के बर्तन का देवदेवी को जाकर दिया है। विप्रनारायण को दण्ड न देना चाहिये। और जो मैं बर्तन वेश्या को दे चुका हूं वह फिर मेरे यहां पीछा न होना चाहिये, उसका उसे ही दे देना चाहिये ॥ ७४ ॥

एवं वचो रङ्गपतेः प्रभाते प्रकाशयन् संसदि चोलभूपः।
व्यसर्जयद्विस्मयमानचेता विधाय विप्रं विविधोपचारान् ॥ ७५ ॥

दूसरे दिन प्रातःकाल दरवार का समय होते ही निचुलापुर के महाराज, अपने दरवार में पहुंचे। भगवान् रङ्गनाथ ने जो कुछ स्वप्न में कहा था यह अपनी सभा के सब सभ्यों से प्रकट कर दिया। राजा को भगवान् की भक्तवत्सलता पर वडा ही आश्चर्य हो रहा था। पकडे हुए विप्रनारायण को छूडा दिया और अनेक उपचारों से इनका वडा भारी सत्कार किया ॥ ७५ ॥

मत्स्वामिनाऽबोधि ममापराधो रङ्गेश्वरेणेति परं विलक्षः ।
विहाय तां तद्गतरागबन्धं समूलमुन्मूल्य सरङ्गमापत् ॥ ७६ ॥

मेरा अपराध मेरे स्वामी को मालूम हो गया, यह सोच कर हृदय में वडे लज्जित हुए और उसी समय देवदेवी का त्याग कर दिया एवं उसके प्रेम के टुकडे-टुकडे उडा कर श्रीरङ्गक्षेत्र में उपस्थित हुए ॥ ७६ ॥

श्रुतिस्मृतिव्याहृतनिष्कृतीनां क्रमादगम्यागमनाघशान्त्यै ।
पपौ ततो भागवतांघ्रितोयं भक्तांघ्रिरेणुस्स बभूव नाम्ना ॥ ७७ ॥

जो भी कुछ अगम्या के गमन के प्रायश्चित्त श्रुतियों में और स्मृतियों में कहे गये हैं, इन्होंने एक एक प्रायश्चित्त को किया। इतने पर भी इन्हें सन्तोष न हुआ तो भागवतों के चरणों का तीर्थ पान किया। उस समय से इनका नाम भक्तांघ्रिरेणु हुआ ॥ ७७ ॥

वेदान्तविद्वन्दितया च धीमान् अंशोद्भवत्वाद्वनमालिकायाः ।
प्राबोधिकीं नाम कृतिं चकार श्रीमालिकाख्यामपि रङ्गनेतुः ॥ ७८ ॥

भक्तांघ्रिरेणु भगवान् रङ्गनाथ के वन्दी थे, वेदवेदान्तों के जाननेवाले थे, दूसरे ये भगवान् के हृदय पर रहनेवाली वनमाला के अंश थे, इन दोनों कारणों को अपनी दृष्टि में रख कर इन्होंने दो प्रवन्ध वनाये पहली इसकी कृति का नाम प्राबोधिकी है, दूसरी कृति का नाम श्रीमालिका है ॥

पुरा शतानीकमुनिर्मुरारेः नामाश्रृणोच्छौनकतस्समस्तम् ।
अद्याश्रृणोद्रङ्गपतिस्स्वनाम भक्तांघ्रिरेणोस्सकलं प्रबन्धम् ॥ ७९ ॥

पहले शतानीक सुनने बेंठे थे और शौनक मूनि कहने बैठे थे। इनसे शतानीक ने भगवान् के सब नाम सुना जो कुछ ये कह सकते थे। इसी तरह अब भगवान् रङ्गनाथ के सब नाम भक्तांघ्रिरेणु ने भगवान् रङ्गनाथ को सुनाये और भगवान् रङ्गनाथ ने उनसे सुने ॥ ७९ ॥

रङ्गेशमर्चाकृतिषु प्रकामं तत्वं परं चेतसि मन्यमानः ।
बबन्ध भक्तिं महतीं स तस्मिन् पतिव्रता भर्तरि भामिनीव ॥ ८० ॥

अर्चाकृतियों के बीच, विप्रनारायण ने जो कि भक्तांघ्रिरेणु के नाम से स्मरण किये जाते हैं, अपने हृदय में रङ्गनाथ भगवान् को परतत्व माना। जैसे पतिव्रता नारी अपने पति में प्रेमभक्ति करती है इसी तरह इन्होंने रङ्गनाथ भगवान् में ही बडी भारी प्रेमभक्ति बांध ली ॥ ८० ॥

रङ्गेशभक्तांघ्रिनिविष्टमूर्धा राजीवजन्मादिशिरोर्पितांघ्रिः ।
भक्तांघ्रिरेणुः प्रसवप्रदानपरायणोऽवर्तत रङ्गभर्तुः ॥ ८१ ॥

रङ्गनाथ भगवान् के भक्तों के चरण पर इन्होंने अपने शिर रखे उनकी धूल अपने शिर पर चढाई और ब्रह्मादिकों के शिर पर इनके चरण रहे ऐसे ये भक्तांघ्रिरेणु सदा भगवान् रङ्गनाथ की पुष्पसेवा में ही तत्पर रहे ॥ ८१ ॥

अथ विषयविरक्तमैक्ष्य साक्षाद् द्विजमपि पाण्डवदूतरङ्गिदूत्यात् ।
स्वयमपि गणिका ददौ विरक्ता सहचषकेण धनानि रङ्गिणे सा ॥

जैसे कृष्ण भगवान् पांडवों के दूत बने थे वैसे ही विप्रनारायण के दूत बन कर सोने का कटोरा मुझ वेश्या को देने आये, इसी कारण विप्रनारायण मुझसे विरक्त हो गया। यह सोच कर देवदेवी को भी वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह अपना सब धन उस बर्तन के साथ ही भगवान् रङ्गनाथ को भेंट कर के उनके भजन में तत्पर हो गयी ॥ ८२ ॥

षष्ठस्सर्गः समाप्तः

सप्तमस्सर्गः

अथ चोलमहीपतेरभूत् निचुला नाम पुरी पुरातनी ।
कनकाख्यकवेरकन्यकातटिनीदक्षिणतीरसीमनि ॥ १ ॥

कनक संज्ञावाली कावेरीनदी के दक्षिणी किनारे पर चोलराजा की निचुला नाम की पुरानी नगरी थी ॥ १ ॥

मणिसौधमयूखकन्दलैः कृतबालातपसम्पदम्बरे ।
सततं सुरसिन्धुशम्बरं कुरुते यत्र रथाङ्गडम्बरम् ॥ २ ॥

इस नगरी में मणियों के गगनचुम्वी महल थे जिनकी फैलाव, आकाश के वीच में प्रभातकाल के सूर्य की किरणों की छटा दिखलाता था। चकवे सदा ही जिसे देख कर सुरनदी के पानी में आडम्वर-सा किये रहते थे ॥ २ ॥

उडुभिर्मणिभूमिबिम्बितैः जयिनो यत्र मनोभुवो निशि ।
नमितैक्षवचापपर्वणः च्युतमुक्ताफलविभ्रमो दधे ॥ ३ ॥

यहां की भूमि भी मणियों की थी इसमें रात के समय आकाश में अठखेलियां कर-कर के खिल-खिलानेवाले तारे, जैसेके जैसे ही चमकते थे जिन्हें देख कर यही भ्रम होता था कि विजयी कामदेव ने अपने ईख के धनुष के पोर नवाये थे उससे ये मुक्ताफल गिर गये हैं ॥ ३ ॥

गुरुकाव्यकलानिधिक्षमाजनिभास्वद्बुधकेतुभोगिभिः ।
अतुलाममरावतिश्रियं भुवि याऽपद्यत मन्दमन्तरा ॥ ४ ॥

जैसे गुरु-बृहस्पति, काव्य-शुक्र, कलानिधि-चांद, क्षमाजनी-मङ्गल भास्वत्-सूर्य, बुध-बुध, केतु-केतु, भोगी-राहु और मन्द-शनि से इन्द्र की अमरावती पुरी अतुल शोभा को पाती है, वैसे ही यह निचुलापुरी भी गुरु-बडा भारी, काव्यकला-कविता की रचना का चातुर्य, उसके जो निधि-खजाने के समान, क्षमाजनि—भूमि पर पैदा होनेवाले, बुध—विद्वान्, केतु

ध्वजा और भोगी–विलासी जनों से भूलोक में ही जिसकी तुलना न हो सके, ऐसी इन्द्र की पुरी अमरावती की शोभा को प्राप्त करती थीं। अन्तर इतना ही था कि वहां मन्द हैं और निचुला में मन्द–मूर्ख कोई है नहीं था ॥४॥

तपनान्वयधर्मवर्मणः कुलजः कश्चन चोलभूपतिः ।
महसा मथितारिमण्डलः सकलां तत्र शशास मेदिनीम् ॥ ५ ॥

इस पुरी का राजा सूर्यवंशी धर्मवर्मा के वंश का था। इसने अपने तेज से वैरियों के मण्डल को मथ दिया था। यह सारी भूमि पर स्वतन्त्र राज करता था ॥ ५ ॥

विनिवेशितभूभरो भुजा शिखरे यस्य भुजङ्गपुङ्गवः ।
उपवीणयतिस्म विस्मयात्स शिरःकम्पनमुल्बणान् गुणान् ॥ ६ ॥

शेष भगवान् अपने भार को इसकी भुजाओं पर रख कर इसके उत्कट गुणों को विस्मय के साथ शिर हिला कर गाया करते थे ॥ ६ ॥

समुदञ्चति यस्य सर्वतो महिते कीर्तिमये महाम्बुधौ ।
तनुते गगनं तदन्तरे शयितस्याम्बुजचक्षुषः श्रियम् ॥ ७ ॥

सबसे बडे भरे हुए इसके यशरूप महासमुद्र में नीला नीला आकाश ऐसा शोभायमान होता था, जैसे क्षीरसमुद्र में, सोये हुए कमलनयन भगवान् शोभायमान होते हैं ॥ ७'॥

तुरगोत्थितधूलिकाभरैः विजये यस्य दिशां विसृत्वरैः ।
चुलकीकृतमर्णवं पुनः करिणां दानजलैः प्रपूरिरे ॥ ८ ॥

जब यह दिग्विजय के लिए गया तो इसके साथ इतने घुडसवार थे कि जिन की घोडों की टापों की धूलि के फैलते हुए मर्त से समुद्रपानी के गड्ढे की तरह सूख गया। वह हाथियों के मद के पानी से फिर भर गया ॥ ८ ॥

तपसां विभवेन तादृशां स नृपो रङ्गिणि सक्तमानसः ।
कमलां कमलाकरोद्भवाम् उपलेभे तनयामुदारधीः ॥ ९ ॥

चोलनृपति की रङ्गनाथ भगवान् में परम भक्ति थी एवं बडे वह उदार बुद्धि के व्यक्ति थे, पवित्र तपों से इन्हें एक पुत्रीरत्न की भी प्राप्ति हुई थी। यह साक्षात् लक्ष्मी थी, तालाव के कमल से उत्पन्न हुई थी, यह योनिजा नहीं थी ॥ ९ ॥

समुपेत्य विलासकाननं विहरन्ती सहिता सखीजनैः ।
समलोकत रङ्गनायकं मृगयालम्पटमात्तयौवना ॥ १० ॥

कुछ दिन पीछे यह वालिका युवती हुई तो एक दिन सहेलियों के साथ विलास-वन में विहार करने पहुंची। उसी समय उसी जगह इसकी दृष्टि श्रीरङ्गनाथ भगवान् पर पडी वो शिकार के शौक के पूरा करने में लगे हुए थे (एवं शिकार के वेष से सजे हुए थे) ॥ १० ॥

जरतां वचसामगोचरे पुरुषे तादृशि दृष्टिगोचरे ।
अनुरागभरं विधाय सा गुरुमुत्कूलकुतूहलाऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

जिस परम पुरुष को वेद अपना विषय नहीं वना सकते वही परम पुरुष इसकी आखों के सामने उपस्थित था (फिर ऐसा कौन मन्द होगा जिसका प्रेम इसमें न हो), कमला का प्रेमस्रोत उमड चला (इसने अपना सब कुछ रङ्गनाथ भगवान् को ही समझा।) इसे इस अपूर्व मिलने का वडा ही कुतूहल था। इसी कुतूहल के साथ इसने अपने पिता से कहा कि ॥ ११ ॥

मम नास्ति मनोऽन्यपूरुषे महिला स्यामहमस्य रङ्गिणः ।
त्वमपि क्षितिनाथ तत्करं महितं ग्राहय तेन मामकम् ॥ १२ ॥

हे राजन्! मेरा मन किसी दूसरे पुरुष पर नहीं है। मैं तो इस रङ्गनाथ की ही पत्नी होना चाहती हूं। हे भूमिपते! आप भी मेरा हाथ श्रीरङ्गनाथ के हाथ से पकडवाइये ॥ १२ ॥

इति तद्वचनं निशम्य स क्षितिपालस्स्मयमानमानसः ।
विदधे विविधान् महामहान् तनयां रङ्गपतेस्तदाऽददत् ॥ १३ ॥

प्यारी पुत्री के ऐसे वचन सुनकर चोलराजा को बडा ही आश्चर्य हुआ (पर प्यारी पुत्री के आग्रह को कब अस्वीकार कर सकता था। दूसरे यह भी तो भगवान् रङ्गनाथ का अन्यतम किङ्कर था।) लडकी का व्याह श्रीरङ्गनाथ भगवान् के साथ करने की तैयारी की, पुत्री के विवाह में जैसे राजे महाराजे उत्सव किया करते हैं वैसे ही अनेकों बडे-बडे उत्सव किये और पुत्री को रङ्गनाथ भगवान् के साथ ब्याह दिया ॥ १३ ॥

दुहितुस्तपनीयतण्डुलान् त्रिशतं षष्ट्यधिकञ्च भारतः ।
स हिरण्मयवस्तुमण्डलान्यदिशत्तत्सदृशानि यौतुकम् ॥ १४ ॥

लडकी को विदा करती बार ३६० भार सोने के चावल दिये थे, इनके साथ इनसे भी अधिक भार की सोने की चीजें दी थीं। इसके ही समान और भी दहेज की चीजें दीं ॥ १४ ॥

निजरूपजितामराङ्गनाः निखिलालंकृतिसत्कृताकृतीः ।
अदिशत्परिचारिकाश्शतं स तदाऽऽरातिकमङ्गलोचिताः ॥ १५ ॥

इसके सिवा महाराज चोल ने ऐसी सौ दासियां दीं जिन्होंने अपने रूपलावण्य से देवस्त्रियों को भी जीत रखा था जिनका कि सुन्दर शरीर अशेष अलङ्कारों से अलंकृत था जो कि रङ्गराज भगवान् की आरती उतारने के योग्य थीं ॥ १५ ॥

मणिमण्डपसालगोपुरप्रमुखानेकनिवासकल्पनैः ।
सकलानि धनानि रङ्गिसात्कलयामास स चोलभूपतिः ॥ १६ ॥

इसके वाद चोलराजा ने रङ्गनाथ भगवान् के लिए वडे-वडे मणियों के मण्डप बनवाये, बडे बडे प्राकार बनवाये, बडे-बडे दरवाजे बनवाये एवं और भी वहुत से निवासस्थान बनवा दिये यहां तक कि जो भी कुछ खजाने में था, वह सब श्रीरङ्गनाथ भगवान् के सेवाकार्यों में ही लगा दिया ॥ १६ ॥

श्री पाणनाथ सूरि का वैभव

अथ तत्र कुलेऽन्तिमे रमारमणोरस्स्थललाञ्छनांशजः ।
समजायत पाणसंज्ञकः सुकविः कार्तिकमासि वैदभे ।। १७ ।।

इसी देश में भगवान् के श्रीवत्स के अंश से एक भव्य आत्मा नें कार्तिक महिने के रोहिणी नक्षत्र में अन्तिम वर्ण शूद्र के घर जन्म लिया। यह जन्म से ही महाकवि था। इसका नाम पाणनाथ रखा गया था ।। १७ ।।

जननीजठरादुपेयिवान् जगतीं रङ्गकटाक्षगोचरः ।
न चकार कदाऽपि रोदनं भगवन्नामपदानि कीर्तयन् ।। १८ ।।

श्रीरङ्गनाथ भगवान् का इसपर सदा ही कृपाकटाक्ष रहा करता था, जवसे यह मां के गर्भ से भूमि पर आया, उस समय से लेकर कभी रोना तो जानता ही नहीं था। वचपन से ही इसका एक यही काम था कि भगवान् के नाम के पदों को गाना ।। १८ ।।

वचसा स्तुततद्गुणावलिः मनसा ध्याततदंघ्रिपङ्कजः ।
निजपाणितलेन वल्लकीं कलयन् यो भजतिस्म रङ्गिणम् ।। १९ ।।

यह रोज वाणी से भगवान् रङ्गनाथ के गुणगण कह कहकर स्तुति किया करता था, मन से उनके चरणकमलों का ध्यान किया करता था, अपने हाथों से वीणा को वजाया करता था, इस प्रकार यह सदा ही श्रीरङ्गनाथ भगवान् के भजन में तत्पर रहा करता था ।। १९ ।।

स्थिरभक्तितया विडम्बयन् श्वपचं कैशिकगानलम्पटम् ।
हृदि रङ्गपतिं गतिं पराम् अपनीपद्यत गायकाग्रणीः ।। २० ।।

पहले एक श्वपच जाति में भक्त हुआ था जो सदा कैशिक नाम के गाने में ही लगा रहता था, भगवान् के ही गुणों को गाया करता था, पर यह पाण उसे भी मात दे गया। इसकी भक्ति स्थायी थी, किसी समय भी दूर नहीं होती थी, साधारण ही नहीं किन्तु वडे वडे गानेवाले इसके

सामने मात हो जाया करते थे। इसने अपने हृदय में वारंवार रङ्गनाथ भगवान् को ही परमगति जाना ॥ २० ॥

स हि रङ्गमुपेत्य दक्षिणं सरितस्सह्यभुवस्तटान्तिकम् ।
अधिमध्यनिशं स रंगिणं समगायन्मणिवीणयाऽन्वहम् ॥ २१ ॥

इसका यह रोज का कार्य था कि आधी रात के बाद रङ्गक्षेत्र जा, कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खडा हो, मणि जटित सुन्दर वीणा को बजा कर रङ्गनाथ भगवान् के गुण गाना। इस कार्य में इसने कभी आलस्य नहीं किया ॥ २१ ॥

विनतश्रुतिबन्धुरस्वरप्रकटग्रामविशेषभास्वरम् ।
समयोचितरागमातनोत्स कविर्गानमुदग्रमूर्च्छनम् ॥ २२ ॥

एक दिन आधी रात के बाद रोज की जगह पहुंच कर उस समय की रागरागिनी गा रहे थे। उस समय का इनका गाने का स्वर ग्रामश्रुति, मधुर तथा उच्च स्थायो में थे एवं ऊंची मूर्छना थी ॥ २२ ॥

श्रवणामृतमस्य शृण्वता सरसं गानमहीन्द्रशायिना ।
अनुरागभरस्तदा श्रिया अपि निद्राऽनलसेन दर्शितः ॥ २३ ॥

इसका गाना परम सुरीला था, मिठास भी पूरा था, कानों के भीतर जाते ही ऐसा मालूम होता था मानो अमृत छान दिया हो। इसके सरस गाने के सुनने के समय भगवान् नींद लेना तो जहां तहां रहा, नींद का आलस भी नहीं आने देते थे। और तो क्या इस भक्त के गाने को सुनने में रङ्गनाथ भगवान् ने लक्ष्मीजी से भी अधिक प्रेम दिखाया ॥ २३ ॥

तदुदीरितगीतमाधुरीश्रवणामोदविकासि रंगिणः ।
कमलामुखपद्मभृंगतां कलयामास कटाक्षवीक्षणम् ॥ २४ ॥

भक्त पाण के गाये हुए गीति के माधुर्य सुनने के आनन्द से खिले हुए श्रीरङ्गनाथ भगवान् का कटाक्ष वीक्षण महालक्ष्मीजी के मुख कमल का भौंरा बन गया था ॥ २४ ॥

कमला मधुरां निशम्य तत्कलितां गीतिमुवाच रङ्गिणम् ।
नय गायकमन्तरंगतामिति हृद्यं विहितास्पदं बहिः ।। २५ ।।

लक्ष्मीजी, पाणनाथ की मीठी गीति को सुनकर रङ्गनाथ भगवान् से बोली कि आपका प्यारा गायक जो आपकी गोष्ठी से बाहिर रह रहा है, इसे अपना अन्तरङ्ग वना लो। यह वाहिर रखने के योग्य नहीं है ।।२५।।

स तथास्त्विति लोकपूर्वकं प्रति सारंगमुनीन्द्रमब्रवीत् ।
भवदंसरथेन गायकं बहिरासीनमिहानयेति नः ।। २६ ।।

भगवान् ने लक्ष्मीजी की वात को स्वीकार करके श्रीलोकसारङ्ग मुनीन्द्र से कहा कि अपने कन्धे के रथ पर विठाकर उसे ले आओ जो कि हमारा गायक वाहर खडा हुआ गा रहा है ।। २६ ।।

इति रंगिनिदेशतश्शुकः स मुनिः प्राप्य कवेरजातटम् ।
विनिवेश्य निजांसयोर्बलात् अनयत्तं तरसा तदन्तिकम् ।। २७ ।।

लोकसारङ्गमुनि का दूसरा नाम शुक भी है। रङ्गनाथ भगवान् की आज्ञा मिलते ही इन्हें क्या देर थी, झट कावेरी के दक्षिणी किनारे पर पहुंचे जहां कि पाणनाथ वीणा पर भगवान् की गीतियों को गा रहा था। यह कन्धे पर चढ कर चलने के लिए तैयार नहीं था, पर शुकमुनि इसे बलपूर्वक कन्धे पर चढा कर शीघ्र ही भगवान् रङ्गनाथ के पास ले आये ।। २७ ।।

स तदंसगतो रमासखं मनसा रंगशयं विभावयन् ।
चरणादिकिरीटवर्णनैः दशपद्यैः कृतिमाह रंगिणः ।। २८ ।।

उसी समय कन्धे पर बैठे हुए ही पाणनाथ ने मन से ही रङ्गनाथ भगवान् का ध्यान करके रङ्गनाथ भगवान् के चरणों से लेकर मुकुट तक के वर्णन में दश पद्य बना कर कह दिये ।। २८ ।।

श्री परकालसूरि का वैभव

अथ क्वापि कवेरकन्यकासरितो रोधसि चोलमण्डले ।
परिरम्भपुरी पयोनिधेः प्रथमस्याजनि पश्चिमे तटे ।। २९ ।।

पूर्वी समुद्र के पश्चिमी तट पर कावेरी नदी के किनारे चोलदेश में परिरम्भपुरी नामक एक नगर है ।। २९ ।।

स्वतपःपरिपाकसम्पदा कमला बिल्ववनान्तरे पुरा ।
करुणापरिपूर्णचक्षुषा घनमालिङ्गचत यत्र विष्णुना ।। ३० ।।

यहां बिल्ववन के बीच में श्रीमहालक्ष्मीजी की तपस्या से प्रसन्न होकर करुणापरिपूर्ण नेत्रवाले भगवान् ने श्रीलक्ष्मीजी का गाढ आलिङ्गन किया, इसी कारण इसका नाम परिरम्भपुर हुआ ।। ३० ।।

उपकण्ठगते उभे शुभे परितः काञ्चननूपुरापगे ।
नवहारलताविडम्बनं विदधाते भुवि यत्र निर्मले ।। ३१ ।।

इस पुरी के समीप सुन्दर दो नदियां हैं, एक का नाम काञ्चन है, दूसरी का नाम नूपुर है, इनका पानी बडा ही स्वच्छ है, ये दिनों इस पुरी को ऐसे शोभायमान करती थीं मानों नये हारों की लतायें किसीके गले की शोभा बढा रही हो ।। ३१ ।।

कृतमुख्ययुगेष्वनुक्रमादुदभूद्यत्र हरिश्श्रुतीश्वरः ।
भुवि कर्दमवेधसस्तपःपरिणामैर्वसुवैरमेघयोः ।। ३२ ।।

कर्दम प्रजापति तथा वसु और वैरमेघ के तप से सतयुग से लेकर तीनों युगोंमें, इसी जगह भगवान् के तीन अवतार जुदे जुदे नक्षत्रों में हुए ।।

अथ काचिदभूत्तदन्तिके कमलापूर्णपुरी गरीयसी ।
कमलारमणाक्षिविभ्रमैः करुणार्द्रैः परिपूर्णवैभवा ।। ३३ ।।

उसके समीप ही कमलापूर्ण पुरी नामक एक बडा नगर था । कमलापति भगवान् की इस नगरी पर पूर्ण कृपादृष्टि थी जिससे इसके वैभव में कोई कमी नहीं थी ।। ३३ ।।

समजायत तत्र पादजप्रमुखः कश्चन नीलनामकः ।
पुरुषोत्तमकार्मुकांशजस्स्फुरिते कार्तिककृत्तिकोडुनि ।। ३४ ।।

इस नगरी में शूद्रों के प्रसिद्ध कुल में एक नीलनामक पुरुष उत्पन्न हुआ यह वैकुण्ठवासी भगवान् के धनुष के अंश से उत्पन्न हुआ था। यह कार्तिक महीना और कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न हुआ था ।। ३४।।

जनने भगवन्निरीक्षणाद्दधते यत्र पदं तिरोहिताः ।
अरणाविव शुष्मणः कणा भगवद्ध्यानपुरस्सरा गुणाः ।। ३५ ।।

जन्म के समय हीं भगवान् ने दया दृष्टि से इसे देखा था, इसी कारण इसमें भगवान् के ध्यान से लेकर जितने भी भागवतों के गुण हैं वे सब इस तरह छिपे हुए थे जैसे अरणि में आग के कण छिपे रहते हैं ।। ३५ ।।

महिला मदनं वनीपकाः सुरवृक्षं परिपन्थिनोऽन्तकम् ।
कवयश्च चतुष्कवीश्वरं यमुशन्त्येकमनेकधा जनाः ।। ३६ ।।

नील इतना सुन्दर था जिसे स्त्रियां कामदेव ही समझती थीं, दानी इतना वडा था जिसे भिक्षुक कल्पवृक्ष जानते थे, जैसा सुन्दर और दानी था वैसा ही वहादुर भी था कि वैरी लोग अपना काल समझते थे, पूर्वोक्त तीनों गुणों के साथ साथ मस्तिष्क शक्ति भी खूब थी। यहां तक कि कवि लोग चार तरह की कविता करनेवाले कवियों में इसे पहली कोटि का कवि मानते थे ।। ३६ ।।

महती करवालवल्लिका प्रथते यस्य करप्रकम्पिता ।
अरिभीरुदृगम्बुर्वधितान् कुरुते कीर्तिविवर्तकोरकान् ।। ३७ ।।

इसके हाथ में वडी भारी तलवार वल्ली झमझमाया करती थी। इसने कीर्तिरूपी कलियों को, वैरियों की स्त्रियों की आखों के पानी से सींच-सींच कर वढाया था ।। ३७ ।।

विनिवेशितमेदिनीभरः जयिना चोलमहीश्वरेण यः ।
प्रसरैर्महसां महीयसाम् अकृतालंघितशासनान् जनान् ।। ३८ ।।

विजयी चोलराजा ने इसे एक प्रान्त का प्रधान शासक बना दिया। इसने शासन का कार्य हाथ में लेते ही ऐसा प्रभाव फैलाया जिससे कोई भी इसकी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर सकता था ।। ३८ ।।

मरुदग्रगमास्तुरङ्गमाः करिणो भिन्नकटास्सकङ्कटाः ।
विमतेषु भटा मदोद्धटाः सदने यस्य रमा मनोरमा ।। ३९ ।।

इसके घुडसाल में ऐसे ऐसे शीघ्रगामी घोडे रहते थे जो पवन से भी आगे दौड जाते । बडे बडे गण्डस्थलवाले कवच से ढके हुए हाथी थे । इसके सैनिक भी वैरियों के विषय में मदमाते भट थे। इसके घर में मानों लक्ष्मी स्वयं वास करती थी ।। ३९ ।।

विहरन्मदसिन्धुरोद्धुरः विमतासह्यपराक्रमक्रमः ।
स शशास महीं महामनाः शरणार्थिक्षितिभृत्कुलाकुलः ।। ४० ।।

खुला विचरनेवाला मदमत्त हाथी जैसे उद्धत होता है इसी तरह परकाल भी था। इसके पराक्रम के सञ्चार को वैरी सह नहीं सकते थे । यह परम तेजस्वी था । इसके यहां शरण चाहनेवाले राजाओं के अनेक परिवार सदा पडे रहा करते थे, ये धर्म-नीति के साथ राज्य करता था।

परिरम्भपुरान्तिके श्रिया प्रथितं नागपुरं तदाभवत् ।
कुरुते भुवि यत्र सन्निधिं हरिरेकादशधामसु स्वयम् ।। ४१ ।।

उस समय परिरम्भपुर के समीप ही एक नागपुर नामक नगर था जो अपनी श्री के लिए दूर दूर तक प्रसिद्ध था, इस पुर में भगवान् के ग्यारह मन्दिर बने हुए हैं जिनमें स्वयं भगवान् विराजते हैं ।। ४१ ।।

सितपुष्करणीति विश्रुता सरसी काचिदभूत्कुमुद्वती ।
विकचाम्बुजभूरिसौरभप्रसरान्धीकृतभृङ्गसंकुला ।। ४२ ।।

इस नगरी में सित पुष्करणी नाम की कोई तलैया थी । जिसमें कुमुदिनी और कमल विशेष रूप से थे । इनके फूल खिले रहते थे जिनसे बडी मनोहर सुगन्ध होती थी । जिसके मारे भौंरों का समूह अन्धा हो कर गुञ्जार किया करता था ।। ४२ ।।

कलहंसकदम्बकस्वरप्रकरो यत्र ददौ विकस्वरः ।
जलकेलिमुदागताप्सरःपदभूषारवनिर्विशेषताम् ॥ ४३ ॥

इस सर में सुन्दर बोलनेवाली बतकों की टोलियां बडे जोर से टिटाती करती थीं । उनका टिटयाना, जलक्रीडा के शोक से आयी हुई अप्सराओं के पैरों के जेवर के शब्द के साथ मिलकर एक हो जाया करता था ॥ ४३ ॥

जलकेलिकृतां कलेवरादनुलेपेऽप्सरसामपि च्युते ।
अगमत्पुनरङ्गरागताम् अमलं यत्र च कौमुदं रजः ॥ ४४ ॥

जल में खेलते खेलते अप्सरसाओं के शरीर से लगा हुआ कस्तूरी कुमकुम आदि धुल जाता था, तो वहां कुमुदों के सुन्दर रज ही उनके शरीर का दुबारा अङ्गराग बन जाता था ॥ ४४ ॥

समजायत दिव्यकन्यका सरसः काञ्चनकैरवात्क्रिया ।
परकालविबोधदित्सया भुवि गच्छेति मुरारिणोदिता ॥ ४५ ॥

इस सर के सोने के कुमुद से एक दिव्यकन्या उत्पन्न हुई । यह वैकुण्ठ वासिनी क्रिया के अंश से उत्पन्न हुई थी, इसका इस प्रकार जन्म लेने का यही प्रयोजन था कि परकाल को बोध दिया जाय । इसे भगवान् की आज्ञा हुई थी, इसी लिए इसने भूमण्डल पर जन्म लिया था ॥ ४५ ॥

सरसीतटमेत्य कश्चन स्नपनाद्भागवतो भिषक्तमः ।
अवलम्बितमानुषीतनुं रुचिरां तत्र ददर्श बालिकाम् ॥ ४६ ॥

इस सर में एक वैष्णव स्नान के लिए आये जो स्वयं अच्छे वैद्यों के अग्रणी थे इन्हें स्नान के बाद किनारे पर एक सुन्दर बालिका पडी मिली जिसका सारा शरीर मनुष्य का सा था, पर सुन्दरता में देवियों से भी बढ-चढ कर थी ॥ ४६ ॥

अनपत्यतया स्वयं मुदा भरितो विस्मयमानमानसः ।
परिगृह्य स बालिकां गृहे प्रददौ पोषयितुं स्वयोषिते ॥ ४७ ॥

इस वैद्य के कोई सन्तान नहीं थी, लडकी के मिलते ही इसके रोम रोम प्रसन्न हो गये, पर हृदय में यह विस्मय भी था, कि यह लडकी यहां आयी कहां से। पीछे कुछ सोच कर उठा लाये और घर आकर पालन-पोषण के लिए अपनी पत्नी को सौंप दिया ॥ ४७॥

सममङ्गनया प्रहृष्टया कुमुदारण्यसमुद्भवेति ताम् ।
कुमुदोपपदां सवल्लिकां अभिधानेन चकार चारुणा ॥ ४८ ॥

उनकी पत्नी इस अपूर्व बालिका को देख कर परम प्रसन्न हुई और यह बालिका कुमुदारण्य में हुई थी, इस कारण इस सुन्दरी का "कुमुदवल्ली" यह सुशोभन नाम रख दिया ॥ ४८॥

भवने भिषजः क्रमेण सा हरिभक्त्या सह वृद्धिमेयुषी ।
मदनागमतत्वशंसिनीम् अभजद्विश्वविमोहिनीं दशाम् ॥ ४९ ॥

इन्हीं वैद्यराज के घर में धीरे धीरे यह बढने लगी। ज्यों ज्यों यह बढती थी त्यों त्यों इसकी भगवद्भक्ति भी बढती थी। कुछ दिन बाद यह ऐसी युवती हुई कि जिसे देख कर सभी जन मोहित हो जाते। विना कहे ही इसका शरीर यह वता देता था कि मदन के आने का क्या मतलब है। इस कुमुदवल्लिका की युवावस्था की सुन्दरता का तो कहना ही क्या था, अद्वितीय सुन्दरी हुई ॥ ४९ ॥

पितरौ प्रथमानयौवनाम् अपरिज्ञातकुलामिमां पुनः ।
विदधीवहि कस्य वल्लभाम् इति चिन्ताकुलितावतिष्ठताम् ॥ ५० ॥

इसकी इस दशा को देख कर इसके माता-पिता विचार करने लगे कि यह तो पता नहीं कि यह किस घराने में पैदा हुई है, फिर इसका विवाह किसके साथ करें। लडकी युवती हो गयी है, विवाह होना ही चाहिये—यह चिन्ता उन्हें रात-दिन सताने लगी ॥ ५० ॥

परमाद्भुतरूपसम्पदं सुमुखीं चारुमुखां निशम्य ताम् ।
तरलीकृतमानसस्तया परकालस्समचिन्तयत्तदा ॥ ५१ ॥

कुमुदवल्ली के सौन्दर्य-लावण्य का शोर दूर दूर तक मच गया था, पहुंचते पहुंचते यह वात परकाल के भी कानों तक पहुंच गयी, इसके अत्यद्भुत रूप सौन्दर्य की वातें सुनकर परकाल का भी चित्त चला। यहां तक कि परकाल कुमुदवल्ली के विषय में चिन्तातुर रहने लगे, और सोचने लगे कि ॥ ५१ ॥

अनपत्यमुशन्ति तं चिरादगदङ्कारकमेव देहिनः ।
तनयाऽस्ति न नूनमौरसी कथमासीदियमस्य कन्यका ॥ ५२ ॥

वैद्यराजजी को तो सव लोग सन्ततिरहित कहते हैं। मैं वहुत दिन से यह सुनता चला आ रहा हूं। तव उसके लडकी कहां से आयी। यह लडकी उसके वीर्य से पैदा हुई तो नहीं हैं, फिर यह उसके यहां आई तो कहां से आयी? उसकी लडकी ही कैसे कहलाई?॥ ५२ ॥

इति चेतसि चिन्तयन् गृहं भिषजः प्राप यदृच्छयैव सः ।
अजनि स्मरबाणगोचरः तनयां तत्र समीक्ष्य तादृशीम् ॥ ५३ ॥

एक दिन ऐसा विचार करते हुए अकस्मात् वैद्यराज के घर पर पहुँच गये, फिर क्या था वहां कुमुदवल्ली को देखते ही काम के तीरों के निशान वन गये ॥ ५३ ॥

किमु वासवजालपिच्छिका किमु योग्यक्षकवाटकुञ्चिका ।
इयमत्यमराङ्गनारुचिः किमनङ्गस्य निदेशशासनम् ॥ ५४ ॥

मन में सोचने लगे कि यह कोई इन्द्रजाल की तूलिका है या योगियों के इन्द्रियगण की किवाडों को खोलने की ताली है। ऐसी शोभा तो देवस्त्रियों में भी नहीं देखी। यह देवियों से भी अधिक सुन्दर है, कहीं यह कामदेव का आज्ञापत्र तो नहीं है॥ ५४ ॥

इति तां विमृशन्परान्तकः भिषजं प्राह स सान्त्वपूर्वकम् ।
इयमद्भुतकन्यका कथं मुनिकल्पस्य तवात्मजाऽभवत् ॥ ५५ ॥

वह ऐसे विचारते हुए वैद्यराजजी से बडी ही मीठी वाणी से बोले कि महाराज! आप तो मुनियों के समान हैं। यह बताइये कि यह अद्भुत बालिका आपकी कन्या कैसी हुई ॥ ५५ ॥

इति तेन समीरितो भिषक्कथयामास यथा सुतागमम् ।
कुमुदोत्पलषण्डमण्डितां सरसीं स्नातुमवापमेकदा ॥ ५६ ॥

परकाल के ऐसे वचन सुन कर जैसे उन्हें लडकी मिली थी, वह सब कथा कह दी कि एक दिन मैं कुमुद और उत्पलों के समुदाय से मण्डित एक तलैया में स्नान करने को गया था, वहां यह लडकी मुझे मिली ॥

कुमुदोदरजामिमां ततः सुमुखीं प्राप्य सुतामतानिषम् ।
अनया प्रजयेति निर्भराम् अपनेष्याम्यनपत्यताशुचम् ॥ ५७ ॥

यह सुन्दर मुंहवाली बालिका कुमुद के उदर से हुई ऐसा समझता हुआ मैं इसे अपने घर ले आया। मैं ने सोचा कि मेरे कोई सन्तान नहीं है, इस लडकी ही से अपने निपुत्रपन के दुःख को दूर कर लूंगा ॥

महितस्य यथाऽऽश्रमेऽप्सरःप्रभवा कण्वमुनेश्शकुन्तला ।
मम चायतने तथाऽप्सरःप्रभवा सेयमवर्धतात्मजा ॥ ५८ ॥

जैसे पहले महात्मा कण्व के आश्रम में मेनका अप्सरा से विश्वामित्रजी द्वारा उत्पन्न हुई शकुन्तला कण्व की पुत्री के रूप में पली थी, इसी तरह यह भी अप्सरा से पैदा हुई मेरी लडकी है, मेरे ही घर इतनी बडी हुई है ॥ ५८ ॥

इयमप्यनघा विवृण्वती वपुषा मन्मथबान्धवं वयः ।
पुरुषेण मनोनुरोधिना भुवि केनापि कवे गृहिष्यते ॥ ५९ ॥

हे कवे! यह निष्पाप सीधी साधी मेरी बेटी, युवावस्था प्राप्त हुई है, कोई न कोई इसके मनोनुकूल पुरुष कभी न कभी इसका पाणिग्रहण कर ही लेगा। उस समय पर मैं इसका विवाह करके इससे उद्धार पाऊंगा ॥ ५९ ॥

इति भाषिणमुज्जगाद तं परकालः परितुष्टमानसः ।
तनया स्वमतानुवर्तिनो मम भार्या भवतु त्वदाज्ञया ॥ ६० ॥

परकालजी यह सुन कर बडे ही प्रसन्न हो वैद्य से बोले जो यह लडकी चाहती है, उसे मैं व्याह करने के लिए तैयार हूं। भविष्य में ही जो यह कहेगी वही मैं करूंगा। इसके कहने से कभी बाहिर न होऊंगा। आपकी आज्ञा में यह मेरी ही भार्या हो जाय ॥ ६० ॥

स तथेति भिषक्तमस्तदा परकालं पुनरप्यभाषत ।
श्रुणु शैशव एव कल्पितः परमोऽस्या नियमोऽस्ति कश्चन ॥ ६१ ॥

परकाल के ये वचन सुन कर वैद्यजी बोले कि मैं तो इसमें राजी हूं, पर इसने अपने वचपन से ही एक प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे भी आप सुन लें; यदि उसे आप पूरी कर सकेंगे, तो यह आपके साथ अवश्य ही विवाह कर लेगी। वह प्रतिज्ञा यह है कि ॥ ६१ ॥

भुजयोर्युगले तु यः पुमान् भगवच्छंखसुदर्शनाङ्कितः ।
उपहूय यदृच्छयाऽऽगतानखिलान् भोजयते च वैष्णवान् ॥ ६२ ॥

मैं उसी पुरुष के साथ विवाह करूंगी जिसके दोनों भुजाओं में शंखचक्र के चिह्न होंगे यानी जो शंख-चक्राङ्कित होगा। इसके साथ जो यह भी रोज कर सके कि जितने भी वैष्णव आ जायें उन सबको आनन्द के साथ भोजन करा सकें ॥ ६२ ॥

भजते पतिमीदृशं सुता मम तस्येति वचो निशम्य सः ।
सहसैव निरस्य शैवतामतुलां वैष्णवतामुपागमत् ॥ ६३ ॥

ऐसे पुरुष को ही यह अपना पति बनावेगी दूसरे को नहीं। वैद्यराज के ऐसे वचन सुन कर परकाल ने उसी समय बिलकुल शैवमत छोड दिया और अनन्य वैष्णव हो गये ॥ ६३ ॥

भिषजस्तनयां प्रसेदुषः ज्वलनस्योदवहत्स सन्निधौ ।
हृदि चारुकरे च कौतुकं दधदङ्गीकृतवैष्णवाकृतिः ॥ ६४ ॥

परकाल के वैष्णव हो जाने तथा यदृच्छागत अखिल वैष्णवों को भोजन कराने की प्रतिज्ञा करने पर वैद्यजी ने मण्डप तैयार कराया। उस में ही अग्नि प्रज्वलित की। जैसा विवाह होम आदि होता है, वह सब करके लडकी को परकाल को समर्पित किया ॥ ६४ ॥

सहितः परिणीतया तया प्रतिपद्य स्वपुरं परान्तकः ।
अनिवारितमन्नदानतः सकलान् भागवतानुपाचरत् ॥ ६५ ॥

विवाह के बाद परकाल अपनी बहू को लेकर अपनी पुरी में चले आये। आते ही नियम प्रारम्भ कर दिया, जो वैष्णव आते थे उन सबों को ये भोजन कराया करते थे। इनका अन्नदान कभी बन्द नहीं होता था ॥ ६५ ॥

विहिताभ्यवहारसत्क्रियं भगवद्भक्तसहस्रमन्वहम् ।
अविधाय कदापि भुज्यते न मयेत्याहितसंविदास सा ॥ ६६ ॥

इसके घर में आने के बाद कुमुदवल्ली की तो यह प्रतिज्ञा ही थी कि सत्कार के साथ एक हजार वैष्णवों को भोजन करा उनका सत्कार करके पीछे भोजन करूंगी, विना ऐसा किये भोजन न करूंगी। करती भी वह यही थी, विना एक हजार वैष्णवों को भोजन कराये तो इसने कभी भोजन ही नहीं किया। यदि अधिक भोजन कर जायं तो फिर इसके आनन्द का कहना ही क्या है ॥ ६६ ॥

स तथेति धनैर्निजैस्समं द्रविणं देयमपि क्षितीन्दवे ।
अपि राज्यभवं समर्पयद्धरिभक्ताभ्यवहारकर्मणे ॥ ६७ ॥

इसी तरह कुछ ही दिनों में जो भी कुछ परकाल के पास धन था वह सब वैष्णवों की भोजन चर्या में लगा दिया। जो भी कुछ राजा को देना था, वह भी इसी काम में लग गया। जो कुछ राज से आय हुई वह भी श्रीवैष्णवों के भोजन आदि में लग गयी ॥ ६७ ॥

अथ राज्यसमुद्भवं धनं निखिलं हर्तुमथैष चोलराट् ।
निजशासनपूर्वमादिशत्परकालं प्रति जांघिकान् रुषा ॥ ६८ ॥

जब चोलराज के पास नियत धनराशि न पहुंची तो उसने परकाल से जबरदस्ती लेने का विचार किया। परकाल के पास एक छोटीसी पैंदल सिपाहियों की टुकडी भेजी जिसे अपना आज्ञापत्र भी लिख कर दे दिया था। हमारा देय धन इसको समर्पित कर दो, नहीं तो अच्छा न होगा। यह पैंदल सैनिक आपसे जबरदस्ती वसूल कर लेगा॥ ६८॥

प्रतिपद्य परान्तकान्तिकं प्रणतास्ते नरपालशासनम्।
प्रथमं प्रणिधाय तत्परं तमशेषं द्रविणं ययाचिरे॥ ६९॥

सिपाही परान्तक के पास पहुंचते ही विनम्रतापूर्वक परान्तक को नमस्कार किया। पीछे राजा का शासनपत्र दिखा कर जो भी कुछ राजा का उन पर पावना था सबको एक ही साथ मांगा॥ ६९॥

सततं हरिभक्तसात्कृतद्रविणत्वात्सुतरामकिञ्चनः।
स्वभटैर्निरकासयद्बलाद्बहिरासेधकृतस्स जांघिकान्॥ ७०॥

पर परकाल के पास था क्या? जो भी कुछ था उसे भगवान् के भक्तों की सेवा में लगा चुके थे, देना चाहते तो भी क्या देते, पास तो कुछ भी रहा ही नहीं था। सैनिकों ने धन लेने के लिए रोब गांठा। इन्होंने झट अपने बहादुर सिपाहियों से उन्हें अपने राज्य से बाहर निकलवा दिया।

परकालनिराकृताः क्रुधा क्षितिपालाय सभामुपेयुषे।
अतिलंघितशासनञ्च तं प्रहृतान् स्वानपि ते न्यवेदयन्॥ ७१॥

निकाले जानेवाले चोलमहाराज के सिपाही थे, परकाल द्वारा अपमान के साथ निकाले जाने पर इन्हें क्रोध होना नितान्त स्वाभाविक था। वे सभाभवन में बैठे हुए चोलमहाराज के पास आये। शासन न मानने की बात कह कर अपने अनादर की कहानी सुना दी। पीछे जो भी कुछ परकाल के सैनिकों के हाथ से पीटे गये थे, उसको भी कह दिया।

कुपितस्स महीपतिस्तदा निजसेनाधिपतिं व्यसर्जयत्।
अधुनैव निबध्य तं बलादवलिप्तं त्वमिहानयेति तम्॥ ७२॥

यह सुनते ही राजा को बडा क्रोध हुआ; शीघ्र ही अपने सेनापति को भेजा कि इसी समय घमण्डी परकाल को बांध कर ले आओ जिसने

मेरे शासन न मान करके मेरे सैनिकों के साथ इतना अभद्र बर्ताव किया है ॥ ७२ ॥

स तुरङ्गतरङ्गमालया प्रचलच्चामरफेनजालया ।
मदसिन्धुरमन्थशैलया सहितस्सैन्यसमुद्रवेलया ॥ ७३ ॥

सेनापति अकेला नहीं था, निर्मर्याद सेना समुद्र भी इसके साथ था। इस सेनारूपी समुद्र की तरङ्गें शीघ्रगामी घोडे थे, ढुलते हुए सफेद सफेद चामर ही इसमें फेन का ढिघ था, और बडे बडे मदमत्त हाथी ही मन्थराचल पर्वत थे । इस तरह समुद्र की सब वातें इस सेना में उपस्थित थीं ॥ ७३ ॥

सहसा न्यरुधच्चमूपतिः सह साटोपभरैः परद्विषः ।
नगरीमथ सोऽपि निर्ययौ नगरीयः परिवारसंवृतः ॥ ७४ ॥

जो सैनिक पूरे आडम्बर के साथ सेनापति के साथ आये थे उनसे सेनापति ने परकाल की नगरी को घिरवा दिया। परकाल ने देखा कि सेनापति ने सेना के साथ मेरी नगरी को घेर लिया, अब मुझे कोट में बैठ कर न लडना चाहिये। युद्ध के लिए नगर के बाहिर आ जाना चाहिये। झट अपने थोडे वीरों को साथ लेकर नगरी से बाहिर लडने निकल पडे ॥ ७४ ॥

अधिरूढतुरङ्गपुङ्गवः परकालः करवालधारया ।
द्विरदान्नखरेखया यथा मृगराजस्स तथाऽभिनद्भटान् ॥ ७५ ॥

उस समय परकाल अच्छे घोडे पर सवार थे, हाथ में निराली तलवार लगी हुई थी। बाहिर आते ही तलवार की धार से चोल के सैनिकों को ऐसा चीर डाला जैसे शेर अपने पैने नाखूनों की नोंक से हाथियों को चीर डालता है ॥ ७५ ॥

परकालभुजापराक्रमाक्रमणापोढसमस्तडम्बरः ।
अपलायत वाहिनीपतिः सह सैन्येन भिया रणाङ्गणात् ॥ ७६ ॥

परकाल की भुजाओं के पराक्रमण से सेनापति का सब आडम्बर दूर हो गया, अन्त में जब परकाल की मार न सह सका तो बची-खुची सेना को लेकर युद्धस्थल से भाग गया ॥ ७६ ॥

विद्राणे धरणीपतेस्सह ध्वजिन्या
सेनान्यां प्रतिभटमेव चोलभूपम् ।
मन्वानो मनसि परान्तको भटानां
सामग्रीमकुरुत विक्रमोद्भटानाम् ॥ ७७ ॥

सेना के साथ सेनापति के भाग जाने पर, परकाल ने सोचा कि अब तो मेरी चोलमहाराज के साथ पूरी शत्रुता हो गयी अब मुझे हाथ पर हाथ रख कर न वैंठना चाहिये। यह सोच कर यह भी वीर सिपाही तथा युद्ध का सामान इकट्ठा करने लगे ॥ ७७ ॥

कायेन वेपथुमता नमता मुखेन
कण्ठेन गद्गदभृता स वरूथिनीशः ।
पूर्वं शशंस परकालबलावलेपं
वाचा तदीयकथनं पुनरुक्तमासीत् ॥ ७८ ॥

जिस समय सेनापति चोल महाराज के पास पहुंचा, उस समय उसका शरीर थरथर कांप रहा था, मुंह पर नम्रता के चिह्न विराज रहे थे, कण्ठ से पूरी वाणी नहीं निकलती थी। इन लक्षणों ने इसकी पराजय और परकाल की शक्ति तो चोल महाराज को पहिले ही वता दी। पीछे जो भी कुछ समाचार कहा, वह दुवारा कथन सा ही हुआ ॥ ७८ ॥

इत्थं तस्मान्निजपरिभवं शुश्रुवांश्चोलभूपः
जातक्रोधज्वलनजनितज्वालनीराजिताक्षः ।
जन्योदन्तश्रवणजनितोद्दामनिस्सीमनाना-
सेनो जेतुं जिगमिषुरभूत्पादजातप्रवीरम् ॥ ७९ ॥

इस प्रकार चोल राजा ने सेनापति के मुंह से जो अपनी पराजय सुनी, उससे उन्हें क्रोधाग्नि उत्पन्न हुई जिसके मारे उनकी आखें लाल लाल जलने लगीं। और समाचार सुनने से तो इनके क्रोध की सीमा ही नहीं रही। झट ही चतुरङ्गिणी अनेक सेनाओं को साथ लेकर, परकाल को जीतने जाने की इच्छा की ॥ ७९ ॥

सप्तमस्सर्गः समाप्तः ।

अष्टमस्सर्गः

अथ समस्तनरेन्द्रनिषेवितः पृतनया सह चोलमहीपतिः ।
कृतमुखो रणकर्मणि निर्ययौ उरगभीरगभीरभुजद्वयः ॥ १ ॥

चोलमहाराज साधारण बलवान् नहीं थे, ये भी अच्छे अच्छे बलवानों में अपना नाम रखते थे, इनके दोनों भुजदण्ड डरावने सांप की तरह गम्भीर थे, ये भी अपने दरबार के सब राजाओं को साथ लेकर सेना के साथ युद्ध के लिए चल दिये ॥ १ ॥

मुदितसैनिकसंभ्रमसंभृतः मुखरयन् कुलशैलगुहामुखम् ।
समरतूर्यरवोऽजनि भैरवः घनघनाघननादधुरन्धरः ॥ २ ॥

ऐसी बडी लडाई का मौका बहुत दिनों में आया था, इस कारण सैनिकों में उल्लास की अपूर्व धारा बह रही थी, इसी कारण इन्हें सम्भ्रम हो गया था, और तो क्या, इनके सिंहनाद के शब्दों के मारे कुलपर्वतों की गुफाएं गूंजने लग गयी थीं जैसे बरसते समय सघन मेघों की घनघोर गर्जना होती है, उसी तरह उस समय लडाई के जुझाऊ बाजों का घोर शब्द होने लगा ॥ २ ॥

कवचितास्समरारभटीस्फुरत्पृथुभुजाः परकालजिगीषवः ।
अभिननन्दुरशेषचमूचराः ततरवास्तरवारिलसत्कराः ॥ ३ ॥

सबको परकाल के जीतने की इच्छा है, हारकर तो कोई आना ही नहीं चाहता। सबके हाथ तलवारों से सुशोभित हैं, वीरता के मदों में मत्त होकर सब ही जोर से शोर कर रहे हैं, कवच पहिने हुए हैं, इनकी भुजाएं खूब मोटी हैं जो युद्ध की खुशी के मारे उछल रही हैं, युद्ध करने की सबको प्रसन्नता है, ऐसा कोई भी नहीं है जो जाते जो युद्ध के लिए तैयार न हो ॥ ३ ॥

कटतटोद्गतदानपयोधरा कदलिकावनचारुकलेवराः ।
उदचरन् गिरिवज्जयसिन्धुरा घनमदा नमदायतपुष्कराः ॥ ४ ॥

सेना के हाथियों का क्या कहना है, पर्वत के समान तो ऊंचे हैं। गण्डस्थल के किनारों पर झलकते हुए मद के पानी को धारण किये हुए हैं। सबके सब मद से मत्त हैं, हाथियों के शरीर कदलीवन की तरह सुन्दर हैं, सब जीत के ही हैं तथा स्वयं भी जिस युद्ध में गये हैं जीत कर ही घर आये हैं ॥ ४॥

गतिविशेषविदायकसादिनः गरुडगन्धवहाशयवेगिनः ।
चलितचामरडामरमूर्तयः चतुरगास्तुरगाः पथि निर्ययुः ॥ ५ ॥

घोडे भी युद्ध स्थल के मार्ग में चलने लगे, ये शिथिल नहीं थे, किन्तु इतने शीघ्रगामी थे कि गरुड हवा और मन की वराबरी करते थे, उन घोडों को उनके सवार नचाते हुए जा रहे थे, सबके शरीर पर चामर लगे हुए थे जिससे इनका लम्वा सा शरीर अच्छा शोभायमान हो रहा था। इनके सवार वडे होशियार थे। घोडे भी वडे होशियारी के साथ चलते थे ॥ ५॥

मदमतङ्गजसंहतिबृंहितैः हयकदम्बकजृम्भितहेषितैः ।
सुभटसिंहरवैः पटहस्वनैः सुमुखरा मुखराजिरभूद् दिशाम् ॥ ६ ॥

मदमत्त हाथियों की टोलियां जोर जोर से अपना वृंहित शव्द कर रही थी, घोडों की कतार भी कभी हिनहिनाती थी, शूरवीर अपना जुदा ही सिंहनाद करते चलते थे, जुझाऊ वाजे वज रहे थे, इसके मारे दिशाओं के मुख शव्दायमान हो गये थे ॥ ६॥

चुलकिताखिलसिन्धुपयोभरा पिहितपुष्पवदंशुकदम्बका ।
अकृत धूलिरनल्पपताकिनीसमुदिता मुदितास्सुरयोषितः ॥ ७ ॥

सेना के पैरों की धूलि ने सारे ससुद्रों को चुल्लुभर पानी के समान कर डाला, सूर्य और चांद की प्रभा विलकुल छिप गयी, यह थोडी सेना नहीं थी, बडी भारी सेना थी, जिसे देखने के लिए देवस्त्रियाँ आकाश में इकट्ठी हो देख देख कर आनन्द मानने लगी थीं ॥ ७॥

विविधहेतितरङ्गवतो रवक्षुभितसर्वदिशः पृतनोदधेः ।
गजकदम्बकगण्डभवैरभूदुपगतापगता मदवारिभिः ॥ ८ ॥

इस सेनासमुद्र के शोर से सब दिशाएं क्षुभित हो गयीं। अनेक हथियार इसमें तरङ्गों के समान शोभा दे रहे थे। इसमें हाथी इतने थे कि जिनके गण्डस्थल के मदजल की नदियां बहती हुई इस सेनासमुद्र में गिरती थीं ॥ ८॥

परविदारणकेलिपटीयसी नगणितासुभरा सुभटावलिः ।
वपुरलङ्करणग्रहणे मरुद्वरतनोरतनोदभिलाषिताम् ॥ ९ ॥

सेना में कितने महाबल वीर थे, इनकी तो कोई गणना ही नहीं थी। सब शूरवीर वैरी के विदारण के खेल में महाचतुर थे, इन्हें देख कर देवाङ्गनाओं को, वस्त्रभूषण पहिनने की इच्छा होती थी ॥ ९॥

समधिरूढतुरङ्गमपुङ्गवः वपुषि विस्फुरदुत्कटकङ्कटः ।
नृपकुमारगणो निरगात्पुरात्समरसीमरसी विविधायुधः ॥ १० ॥

बडे शूरवीर राजकुमार, अच्छे अच्छे घोडों पर सवार थे। अपने अपने शरीर पर बडा दृढ सुन्दर कवच पहिने हुए थे, सब हथियारों से लैस थे। युद्धस्थल में जाने का सबको उत्कण्ठा थी, सब ही लडाई के लिए नगर से चल दिये ॥ १०॥

धृतसितातपवारणचामरं परमया रमया विलसद्भुजम् ।
अनुजगाम चमूः प्रलयाम्बुभृत्समरुता मरुतामधिपं भुवः ॥ ११ ॥

चोल महाराज के सिर पर सफेद छत्र विराज रहा था, चामर ढुलते थे, परम शोभा से भुजाएं शोभायमान हो रही थीं, राजा के पीछे पीछे विशाल वाहिनियां इस प्रकार चली आ रहीं थीं, मानो शब्द करते हुए प्रलयकाल के मेघ चले आ रहे हैं ॥ ११॥

तमवगम्य नृपं सह सेनया मुदितयोदितयोगविलासया ।
विहितनिर्गममस्य स सैनिकः स्वपुरतः पुरतः परजिद्ययौ ॥ १२॥

परकाल को इस वात का पता चल गया कि चोलमहाराज विशाल वाहिनी लेकर मेरे नगर पर चढे चले आ रहे हैं, इन्होंने भी झट अपनी सेना को तैयार होने के लिए आज्ञा दे दी, परकाल की सेना भी लडाई की भूखी थी, सुनते ही प्रसन्न हो अपने सामरिक सामान से सज्जित होने लगी। यह भी अपनी सेना को साथ लेकर अपने नगर से राजा के सामने चल दिये कि मार्ग में ही उन्हें रोक कर युद्ध करूँगा ॥ १२॥

सपदि चोलधराधिपसैनिकं प्रति ययौ परकालवरूथिनी ।
प्रियमिव प्रमदाऽऽगतमुद्धताऽनकरवाकरवाललसत्करा ॥ १३ ॥

परकाल की सेना में भी चोलमहाराज की सेना की तरह जीत के नगाडे वज रहे थे। सव के हाथों में तलवार झमझमा रही थी जिससे हाथ अच्छे लगते थे, परकाल की सेना के मदमाते भट चोलमहाराज की सेना को देखते ही उसपर ऐसे टूटे जैसे चिरवियुक्त प्यारे को देखते ही मदमाती स्त्री उसके आलिङ्गन को झपटती है ॥ १३॥

अभिययौ सुभटस्सुभटं करी करटिनं तुरगश्च तुरङ्गमम् ।
इति मिथः परकालमहीन्द्रयोः समरसाऽमरसाक्षिमती चमूः ॥१४॥

दोनों की सेनाएं एक से रसवाली थीं, दोनों सेनाओं को लडाई लडने की चाह थीं, दोनों के साक्षी देवता थे जो आकाश में अपने विमानों पर बैंठे रणकौतुक देख रहे थे, देखते देखते वीर से वीर, हाथी से हाथी और घोडे से घोडा भिड गये ॥ १४॥

अथ सुपर्ववधूकरलम्बितं मरुदनोकहमाल्यकदम्बकम् ।
व्यरचयद्दिवि वीरभटस्वयंवरणतोरणतो रणतोषणम् ॥ १५ ॥

युद्ध स्थल में मरते दम तक रणकौतुक दिखाते हुए जो वीर मरते थे, वह तत्क्षण स्वर्ग में पहुंचते थे, वहां देवाङ्गनाएं प्रसिद्ध सुर-तरुओं के सुगन्धित फूलों की मालाएं हाथ में लिये हुए अपने आप उन्हें पति वरती थीं, जिससे उनके युद्धस्थल में किये हुए श्रम का अपनोद होता था तथा रण की तुष्टि भी उन्हें इसीसे मिलती थी ॥ १५॥

असिलतामधिकण्ठमपातयत्समरसीमनि कश्चन कस्यचित् ।
दिवि च तस्य तदैव सुराङ्गना वरणकारणकाल्पिकमालिकाम् ।।

युद्धरङ्ग में एक किसी के कण्ठ पर लता के समान तलवार गिरायी, फिर उधर उसी समय देवाङ्गना ने स्वयंवर की माला उसके गले में डाल दी ।। १६ ।।

पतितयोपरिवीरनिकृत्तया समिति कन्धरया मददन्तिनः ।
नटदुदग्रकबन्धमभादिभाननसमानसमाहितविभ्रमम् ।। १७ ।।

किसी वीर का शिर कट गया था, पर उसने युद्ध नहीं छोडा था, इतने में उसके ऊपर एक हाथी का शिर और कट कर गिरा गया, हाथी का शिर और मनुष्य का कबन्ध दोनों मिलकर छटपटाते हुए ऐसे मालूम होते थे कि मानों गणेशजी नाच रहे हैं ।। १७ ।।

पतितमश्वशिरश्शरकर्तनात् अधिकबन्धमनीकदिदृक्षया ।
भुवि समागतकिंपुरुषाकृतिच्छविकलाऽविकलाभमशोभत ।। १८ ।।

किसीके कबन्ध पर घोडे का शिर तीर से कट कर गिर गया। ये दोनों मिलकर ऐसे मालूम होते थे मानों सेना देखने की इच्छा से किंपुरुष युद्धस्थल में चला आया है। (हाथी के शिर को मनुष्य के कबन्ध पर पड जाने से कुछ अन्तर तो रह जाता है, पर मनुष्य के कबन्ध पर घोडा का शिर पडने से तो किंपुरुषाकृति होने में कोई भेद भी नहीं रहता।) ।। १८ ।।

सुभटखड्गलतादलितोन्मदद्विरदमस्तकनिस्सृतमौक्तिकम् ।
अकृत लाजविमोक्षरुचिं महाहवरमावरमाल्यसमर्पणे ।। १९ ।।

वीरों की तलवारों के वारों से मदमत्त हाथियों के क़टे हुए माथों से मुक्ता निकल कर ऐसे जमीन पर गिरकर शोभित हो रहे हैं, मानों महायुद्ध की लक्ष्मी के वरमाल पहिनाने में लाजहोम हो रहा हो ।। १९ ।।

युधि परस्परमुक्तमहायुधाहतिविधाजनिता हुतभुक्कणाः ।
सुभटरोषकृशानुकणोल्बणा रुरुचिरे रुचिरेचितदिक्तटाः ॥ २० ॥

जब दो आयुध चलानेवाले वहादुर आपस में युद्ध करते थे तो दोनों के आयुध आपस में भिड जाते थे, तब उन आयुधों के संघर्ष से आग के कण निकलते थे, जिससे दिशाएं प्रकाशित हो जाती थीं, ये ऐसे मालूम होते थे मानो वीरों की क्रोधाग्नि की चिनगारियां निकल रही हैं ॥ २० ॥

करधृतासिलतो धृतकङ्कटः समधिरूढहयस्स परान्तकः ।
समरमध्यमियाय सरो यथा गजवरो जवरोषमदोद्धतः ॥ २१ ॥

हाथ में तलवार लिये हुए तथा शरीर में कवच पहिने हुए घोडे पर चढे परान्तक, युद्धस्थल के वीच में ऐसे पहुंच रहे थे जैसे वेग के साथ आये हुए क्रोध से मदमाता हाथी तालाव के वीच में पहुंचता है ॥ २१ ॥

समिति चोलमहीश्वरसैनिकं क्षयमनीनयदंघ्रिभवाग्रणीः ।
करविधूतमहासिलतो दवं दवशिखीव शिखीव भुजङ्गमम् ॥२२॥

पादज शिरोमणि परकाल ने थोडे से समय में ही चोलमहाराज के अधिकांश सैनिकों को समाप्त कर दिया। इनके हाथ की तलवार चारों ओर काटती हुई घूम रही थी। जैसे वन को दावानल थोडे से ही समय में स्वाहा कर देता है, मयूर सांप को समाप्त कर देता है, इसी तरह परकाल ने भी चोल महाराज के सैनिकों को प्रायः समाप्त कर दिया ॥ २२ ॥

प्रवहतिस्म परान्तकसन्ततक्षतचमूचररक्तमयी सरित् ।
वदनपद्मवती कचशैवलस्तबकिनी बकिनी नृकरोटिभिः ॥ २३ ॥

परान्तक ने चोलमहाराज के सैनिकों पर लगातार इतने वार किये थे जिससे सैनिकों के खून की नदी वह निकली। इस नदी में मनुष्यों के मुखडे कमल की तरह दीखते थे वालों के गुच्छे ही सैवाल के गुच्छे वने हुए थे, खोपडियां ही इस नदी के वगलें थीं ॥ २३ ॥

युधि निपीय शिरश्चषकोद्धृतं रुधिरशीधु पिशाचकदम्बकम् ।
नटनकर्म सह प्रमदाजनैः अतनुतातनुताललयोद्धतम् ॥ २४ ॥

अनेकों पिशाचों ने, शिर के कपाल में लोह की मदिरा रखकर पी लिया, पीछे अपनी पिशाचिनियों के संग लयताल के साथ नाचने लगे ॥ २४ ॥

निजचमूं परकालनिर्बर्हितां समिति वीक्ष्य स चोलधराधिपः ।
अभियर्यौ तमशेषनृपैस्समं हयनिकायनिकामकृतश्रमैः ॥ २५ ॥

जब चोलमहाराज ने यह देखा कि मेरे अधिकांश सैनिकों को परकाल ने मार डाला है तो उनसे न रहा गया। झट अपने बचे खुचे राजकुमारों को साथ ले परकाल से युद्ध करने आगये। महाराज के साथ के राअकुमार पहिली कोटि के घुडसवार थे, ये सब तरह के घोडों पर चढना जानते थे एवं इस युद्धक्षेत्र में भी घोडों पर ही सवार हो कर आये थे ॥ २५ ॥

परिघबाणकृपाणगदाधनुःपरशुपट्टसकुन्तमुखायुधैः ।
निबिडिताङ्गमतन्वत भूभुजः परयमं रयमन्धरवाजिनम् ॥ २६ ॥

यद्यपि परकाल का घोडा, युद्धभूमि में वेग के साथ अपना कार्य कर रहा था, पर चोलमहाराज के साथी राजों ने परकाल को चारों ओर से घेर लिया। किसीने परकाल को फरसा मारा तो किसीने पैने पैने तीरों का ही निशाना बनाया, किसीने तलवार का ही हाथ जमा दिया, किसीने गदा मारा तो किसीने धनुष ही मार दिया, किसीने दूर से भाला ही फेंककर मारा, किसीने परिघ ही मार दिया। इनके सिवाय और भी बहुतसे हथियारों का परकाल पर वार किया गया जिससे परकाल का शरीर चलनी की तरह भिद गया ॥ २६ ॥

करविहारकृता महताऽसिना धरणिपालसमूहमपातयत् ।
परजिदम्बुधिघोषविडम्बनस्वनकलाऽनकलालितसङ्गरे ॥ २७ ॥

युद्ध में ऐसे ऐसे नगाडे वज रहे थे जिनके सामने समुद्र या मेघ की गर्जना क्या चीज है, यद्यपि परकाल घायल हो चुके थे, पर इन्हें अपने घायल होने की रत्ती भर भी परवा नहीं थी। अपनी तलवार से अनेकों राजाओं को परकाल ने भी मार गिराया ॥ २७ ॥

इति विधूतकृपाणलताहतैः अवनिनाथचमूचरमूर्धभिः ।
निविडितां परकालविभुस्समिद्वसुमतीं सुमतीन्दुररीरचत् ॥ २८ ॥

इस समय परकाल ने यहां तक किया कि चारों ओर को चलनेवाली तलवार से चोलमहाराज की सेना के नायकों के शिर काट काट कर युद्ध भूमि में पटक दिये, जिससे चारों ओर शिर ही शिर दीखने लगे ॥ २८ ॥

निजचमूं युधि दुस्सहतेजसा परजिता प्रसमीक्ष्य पराजिताम् ।
तमनयेन जिगीषुरपाहरत्समरतोऽमरतोषकरोदयः ॥ २९ ॥

जव चोलमहाराज ने देखा कि दुस्सह तेजवाले परकाल ने मेरी सेना को पराजित कर दिया है, तव मुझे किसी भी छल से इसे अपने काबू करना चाहिये इस इच्छा से प्रेरित हो किसी तरह परकाल को बुलाकर युद्धस्थल से दूर ले गये। चोल महाराज साधारण वलवान् नहीं थे, किन्तु इनके भुजवल से देवताओं को भी तोष होता था ॥ २९ ॥

अथ परान्तकमाहवलंपटं न करवाणि किमप्यहितं तव ।
इति स सत्यपुरस्सरमाह्वयद्धनयशा नयशालिपराक्रमः ॥ ३० ॥

परकाल खूव घायल हो चुके थे, पर लडना नहीं वन्द करते थे (आत्मसमर्पण तो जहां तहां रहा)। चोलमहाराज जैसे वलवान् थे वैसे ही नीतिकुशल भी थे। (वह वीरों का सम्मान करना जानते थे) परान्तक से बोले कि तुम मेरे पास सुलह खाने आये तो मैं तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न करूंगा, यह मैं सत्य की शपथपूर्वक कहता हूं, यह कहते हुए अपने पास परकाल को बुलाया ॥ ३० ॥

सह बलेन तथेति परान्तकः सविधमागतवान् मनुजेन्दुना ।
समभिनन्दितसङ्गरडम्बरः स जगदे जगदेकधनुष्मता ॥ ३१ ॥

परकाल चोलमहाराज की बात को स्वीकार करके, बचे खुचे सैनिकों के साथ महाराज के पास चले आये, जिसके बराबर दूसरा कोई धनुषधारी इस संसार में नहीं है, ऐसे भूमण्डल के चांद चोलमहाराज ने परकाल के युद्धकौशल की बडी प्रशंसा की। पीछे परकाल से बोले कि ॥ ३१ ॥

अविनयानहमत्र सहे बहून् तव पराक्रमकेल्यभिनन्दितः ।
सपदि राष्ट्रहृतं मम दीयतां शुभवता भवता सकलं धनम् ॥३२॥

युद्धभूमि में तुम्हारे पराक्रम के खेल से मैं प्रसन्न हूं, इसीलिए तुम्हारी सब धृष्टता को सहन करता हूं, पर तुम जैसे आदमी को राष्ट्र का धन न रखना चाहिये, मेरा जो भी कुछ तुम पर पावना है उसकी पाई पाई चुका दो ॥ ३२॥

इति निगद्य चकार परान्तकं वसुमतीन्दुरमात्यवशं रुषा ।
तमवकृष्य बलात्सचिवो रमापुरमयाद्रमयाश्रितकेशवम् ॥ ३३ ॥

यह कह कर राजा ने क्रोध से परकाल को मन्त्री के हाथ में सोंप दिया। मन्त्री गिरफतार करके वलपूर्वक (तिरुवालि तिरुनगरी) राजधानी में ले लाया, जहां रमा भगवान् की स्वयं उपासना करती है ॥ ३३ ॥

सपदि यत्र धनाहरणोत्सुकः त्रिदिवसं स तिरस्कृतभोजनम् ।
उपरुरोध निजैरनुजीविभिः परमुदारमुदाहर नो हरेः ॥ ३४ ॥

मन्त्री को परकाल से धन लेने की बडी उत्सुकता थी, इस कारण तीन दिन तक परकाल को भोजन तक नहीं करने दिया और अपने नौकरों से चारों ओर घिरवा रखा—हंसते हुए कहा, कि भगवान् के सिवा दूसरा कोई उदार नहीं हैं—अब भी ऐसा कहोगे क्या? ॥ ३४ ॥

अकृतभोजनमार्तमधोक्षजः निशि तमित्यवदत्करुणानिधिः ।
क्षितिभुजे दिश वित्तपरम्परां त्वमधिकामधिकाञ्चि मयार्पिताम् ॥

भगवान् अपने भक्त को कब दुःखी देख सकते थे, क्यों कि भगवान् तो करुणा के समुद्र हैं, उनकी दया उनके भक्तों पर न हो, यह हो नहीं

सकता। परकाल को कई दिन विना भोजन किये हो गये थे, भूख से व्यथित थे, रात में स्वप्न में आकर वरदराज भगवान् ने कहा कि काञ्ची में मैं तुझे धन दूंगा और तुम राजा को चुका देना ॥ ३५॥

उषसि कारुणिकस्य हरेर्गिरा तमधिकाञ्चि ददामि भवद्धनम् ।
इति वदन्तममात्यवरोऽनयन्महितया हितया सह सेनया ॥ ३६ ॥

प्रातःकाल भगवान् की आज्ञा के अनुसार परकाल ने मन्त्री से कहा कि मैं तुम्हें कांची में धन दूंगा, ऐसा कहने पर मन्त्री परकाल को सेना के साथ कांची ले गया, जो वडी भारी हितकारी सेना थी ॥ ३६॥

धनमवेक्ष्य न तत्र शुचाऽऽकुलं परजितं वरदः कृपयाऽवदत् ।
वसति संप्रति वेगवतीतटे तव धनं वधनं द्विषतामिति ॥ ३७ ॥

कांची जाने पर भी जव परकाल को धन न मिला तो शोक के मारे व्याकुल हो गये, कांचीवासी वरदराज भगवान् परकाल की व्याकुलता को न सह सके। रात को स्वप्न में कह गये कि वेगवती के किनारे तेरा धन है, जो कि वैरियों का नाशक है उस धन को वैरियों को दे कर पीछा छुडा ले ॥ ३७॥

वरदराजवचोमुदितस्तदा निधिमवाप्य स वेगवतीतटे ।
नृपधनं प्रतिपाद्य ततोऽग्रहीत्स्वधनशोधनशोभनपत्रिकाम् ॥ ३८ ॥

वरदराज भगवान् के वचन सुनकर वह प्रसन्न हुए वेगवती के किनारे गये। वहां इन्हें यथेष्ट धन निधि मिल गयी। वहां से ले कर जितना चोलमहाराज को देना था, वह मन्त्री को दे कर चुकता फारखती की रसीद लिखा ली ॥ ३८॥

परिगृहीतधनस्सचिवाग्रणीः परजिता सह चोलमहीपतेः ।
सविधमेत्य यथावदुदीरयद्धनमदान्नमदार्त्यपनोदिने ॥ ३९ ॥

प्रधानामात्य ने धन ले कर परकाल को बन्धन से मुक्त कर दिया और परकाल को साथ ले कर चोलमहाराज के पास आया और नमते

हुए पुरुषों के दुःखों को मिटानेवाले चोलमहाराज से सब बात कह सुनाई जैसे कि परकाल से धन मिला था और धन भी राजा को दे दिया ॥३९॥

प्रमुदितो नृपतिर्धनमर्पितं तदवलोक्य न कोशगृहे तदा ।
अनुकृताच्युतदत्तपटोज्ज्वलद्द्रुपदजं पदजं सममन्यत ॥ ४० ॥

राजा बडा प्रसन्न हुआ, धन कोश में भिजवा दिया, पर वो धन कोश में पहुंचते ही लुप्त हो गया। यह देख कर चोलमहाराज ने सोचा कि जैसे द्रौपदी का वस्त्र भगवान् ने बढाया था, इसी तरह परकाल को भी धन देकर उसका अनुग्रह किया है। यह भगवान् का परम भक्त है। भगवान् ने इसका दुःख द्रौपदी की तरह ही दूर किया है ॥४०॥

तमवधार्य मुरारिपरायणं नृपवरोऽकृत तस्य सभाजनम् ।
तदुपवासभवाघतमोभिदा दिनकरानकरानपि विप्रसात् ॥ ४१ ॥

सुयोग्य राजा ने परकाल को भगवान् का परम भक्त समझकर उसकी पूजा की एवं परकाल के भूखे रखने के पापरूपी तम को नाश करने के लिए सूर्यसम उत्तम धन को ब्राह्मणों के लिए दान दिया जिससे पापरूपी तम का नाश हो ॥४१॥

अथ वितीर्णमहीपतिलाञ्छनः क्षितिपतिर्विससर्ज परान्तकम् ।
स पुरमेत्य ददौ कुमुदोद्भवावदनमोदनमोषधिनाथवत् ॥ ४२ ॥

इतना ही नहीं, राजा ने परकाल के लिए राजचिह्न भी दिये एवं परम सम्मान के साथ पुरी को बिदा किया। वहां पहुंच कर परकाल ने कुमुदवल्ली को ऐसा खिलाया जैसे कि चांद कमलिनी को खिलाया करता है ॥४२॥

आसाद्य कैरवलतामयमित्यवादीत्
ऋद्धक्षितीन्द्रजनिता विपदस्समस्ताः ।
श्रीवैष्णवार्हणविधामुदितस्य दृष्ट्या
नारायणस्य नमदार्तिभिदस्समस्ताः ॥ ४३ ॥

श्री परकाल ने कैरवलता के पास पहुंच कर उन सब आपत्तियों को कह सुनाया जो राजा के क्रोध होने से आयीं थीं एवं श्रीवैष्णवों की पूजा से प्रसन्न हुए अपने शरणागतों के कष्टों को मिटानेवाले नारायण की दया से जैसे जैसे वे मिटीं, वह भी सब समाचार कह सुनाया ॥४३॥

भूयोऽपि भूपतिधनं न कदापि हर्तुं
युक्तं ममेति दयितः कुमुदोदयायाः ।
चौर्याहृताध्वगधनोऽतनुतान्नदानात्
श्रीवैष्णवान्निधिरुदग्रमुदो दयायाः ॥ ४४ ॥

अब मुझे कभी भी राजस्व न लेना चाहिये, यह सोच कर दया के निधि परकाल ने पथिकों के चोरी से लिये गये धन से अन्नदान देकर श्रीवैष्णवों को प्रसन्न किया ॥४४॥

क्रुद्धावनीभृदनिलाशनभोगभीरं
कोदण्डदण्डमतुलं तदनीकिनीनाम् ।
दृष्ट्वा वपुश्च रुचिधूतनभोगभीरं
के वा न बिभ्यति पथि स्फुटमध्वनीनाः ॥ ४५ ॥

क्रोध के आवेग से वडे-से फन को फैलाये हुए पहाडी सांप के शरीर के समान भयङ्कर तो परकाल की सेना का निराला धनुष दण्ड था, परकाल का शरीर भी असाधारण था जिसकी आभा से आकाश की गम्भीरता तुलती थी, ऐसा कोनसा पथिक होगा जो इन्हें देख कर न डरता हो ॥४५॥

योधानजीघटदुदग्रकृपाणपाणीन्
दानेन धूतसुमनोविटपीवरेण ।
सर्वाध्वनीनधनसंहृतये सनाथो
दोस्तेजसा सनलिनीविटपीवरेण ॥ ४६ ॥

सारे पथिकों के धन हरने के लिए परकाल ने कल्पवृक्ष को भी मात करनेवाले दान से बहुत से असिधारी सैनिकों को प्रसन्न करके इकट्ठा किया था ॥४६॥

कान्तारवर्त्मसु मनोज्ञरसालसाल-
हिन्तालतालकतमालशरासनेषु ।
आक्रीडदध्वगधनापनिनीषु तस्य
पादान्तमुक्तकरवालशरासनेषु ॥ ४७ ॥

दुर्गम मार्ग में सुन्दर आम, साल, हिन्ताल, ताल, तमाल, कासों और आम के वृक्षों के बीच पथिकों के धन को हर लेने की इच्छा से परकाल तलवार और धनुषबाण लटकाये हुए जंगली राहों में चक्कर लगाते थे ॥ ४७ ॥

स्वैरं व्यचारि करवालकरेण तेन
क्लृप्ताध्वनीननिवहद्रविणादरेण ।
कान्तारवर्त्म सकलं परिपन्थिलोक-
ध्वान्तापनोदनबृहद्द्रविणाऽदरेण ॥ ४८ ॥

परकाल तलवार हाथ में लेकर वन में स्वच्छन्द विचरते थे, इनकी लालसा पथिकों के समुदाय के धन में थी, शत्रुरूपी अन्धकार को हटाने में सूर्य के समान तेजस्वी बलवान् और निर्भय थे ॥ ४८ ॥

स द्वीपिनां कुलमभून्मृगयाचिकीर्षुः
कान्तारसीमनि घनप्रभवारवाणाम् ।
अग्रे कदाचिदधिरूढहयस्समीक्ष्य
तन्वंस्तनुं नवघनप्रभवारवाणाम् ॥ ४९ ॥

कभी घोडे पर चढे हुए एवं नये बादलों का सी कवच शरीर में पहिने हुए मेघ के समान गरजन करनेवाले सिंहों के शिकार करने की इच्छा से जंगली मार्गों में चक्कर लगाते थे । मेघ के समान गर्जनेवाले अच्छे अच्छे बाघों की सन्तति को देख कर शिकार करने की इच्छा से उसके सामने हुए ॥ ४९ ॥

नृत्तोद्धतालसकलापमयूरसेनम्
आसाद्य तस्य सुभटा वनमात्तचापाः ।
आज्ञावशेन सकलापमयूरसेन-
सानायिकास्तत इतो मृगयांचिकीर्षोः ॥ ५० ॥

जालवालों को साथ लिये हुए इधर उधर वीर, नाचते हुए मोरों की उठी हुई चमकती बडी बडी पूँछों की शोभावाले वन में घुस गये ॥ ५० ॥

आकर्णकृष्टधनुराहतमाशुगेन
तारक्षवं समुदयं स ततान तेन ।
सैन्येन यद्गतिविलोकनविस्मितेन
सम्पादितस्समुदयं स ततान तेन ॥ ५१ ॥

परकाल ने कान तक धनुष खींच कर उसपर शीघ्रचारी तीरों का सन्धान करके वहुत से तेंदुलों के झुंड मारकर डाल दिये, परकाल की उस गति को देख कर चकित हुई सदा नमन करनेवाली सेना ने परमानन्द माना ॥ ५१ ॥

तज्जीवितानि न जहार नितान्ततान्य-
न्नागाङ्गनादरविदारणदभ्रभावम् ।
चक्रे पुनस्समदहस्तिकुलं विहस्तं
शातेषुणाऽदरविदा रणदभ्रभावम् ॥ ५२ ॥

परकाल के हृदय में निरन्तर दुःखी हुई हथिनियों के भय को दूर करने की कुछ इच्छा थी, इस कारण हाथियों को जान से न मारा, किन्तु जिन मदोन्मत्त हाथियों के जी में युद्धभाव देखा, ऐसे गर्जते हुए मेघ के समान नीले हाथियों की सूंढें, भय के न जाननेवाले पैने तीरों से काट डालीं ॥ ५२ ॥

एणास्सचापमपि वीक्ष्य मुकुन्दभक्त-
पालीसभाजनमहोदयमानहृद्यम् ।
निश्शङ्कमासत हरिः कृतवान्कटाक्ष-
विन्यासभाजनमहो दयमानहृद्यम् ॥ ५३ ॥

दयालु भगवान् ने इस परकाल को अपने कृपाकटाक्ष का भाजन बनाया है, एवं भगवान् की भक्तगोष्ठी के आरधनारूपी उत्सव से इसका

हृदय उत्साहित होता है, यह सोच कर मृग परकाल के हाथों में चढा हुआ धनुष देख कर भी निर्भय विचरते थे ॥ ५३ ॥

आसीत्स यत्र समये पुरतः प्रयात
भूदारसंहननमुद्धतवाञ्छितेन ।
बाणेन यत्र हरिमापदितं मदेक
भूदारसंहननमुद्धतवाञ्छितेन ॥ ५४ ॥

जिस समय सामने जाते हुए सूकरों के गोल को पैने तीरों से मार रहा था, उस समय वहां मद से विचरता हुआ शेर मिल गया, वहां सूकरों का मारना तो छोड दिया और उद्धत शेर को मारने लगा। क्यों कि परकाल के हृदय का अभीष्ट उद्धत को मारना था, अन्य नहीं। इसीलिए शिकार भी करता था ॥ ५४ ॥

आकृष्टचापमभिनन्दयतिस्म काचि-
त्सारङ्गतामरसदृक् क्षमया समेतम् ।
स्वैरं दृशा स किलकिञ्चितया नु कृष्ण-
सारंगताऽमरसदृक्षमयासमेतम् ॥ ५५ ॥

किसी हिरण की कमलनयनी ने यह समझ कर कि कृष्णसार को प्राप्त हुए मैं ने आज देवसदृश इस कृष्णसार भक्त परकाल को प्राप्त कर लिया, इसी भाव से धनुष चढाये हुए पर हृदय के देवसम क्षमाशील परकाल का भावगर्भित दृष्टि से अभिनन्दन किया। कृष्णसार का तात्पर्य मृग और श्रीकृष्ण ही हैं, सार जिसका ऐसा भक्त होता है ॥ ५५ ॥

नमितान् चकार शरभानमितान्
पततां बिभेद कुलमुत्पतताम् ।
हरिणानरुन्ध सदृशो हरिणा
नगजानसोढ समहानगजान् ॥ ५६ ॥

अनेकों शरभजाति के पशुओं को नवा हुआ कर दिया एवं अनेकों उडते हुए पक्षियों के कुल भेद डाले, विष्णुभगवान् के समान परकाल ने अनेकों हरिण रोक लिये तथा वह वो महान् परकाल, पर्वत पर पैदा हुए हाथियों को तो सह ही न सका ॥ ५६ ॥

करिणो विलेपुरथ शीकरिणः विवशाः क्षणेन कतिचिद्विवशाः ।
दमितः पपात भुविसादमितस्तरुतः पतत्रिगण आत्तरुतः ॥ ५७ ॥

हथिनियों से वियुक्त हुए क्षणमात्र में विवश हुए कुछ एक सूंड़ से पानी टपकानेवाले मदमत्त हाथी रोने लगे। दमन किये जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ रोता हुआ पक्षिसमुदाय, पेड से भूमि पर गिर पडा ॥ ५७ ॥

रसालसानामिषुभिर्निशातैः रसालसालादितरूषितानाम् ।
कलापिनामेष जहार शौर्यकलापिनाकिप्रतिमः कलापम् ॥ ५८ ॥

वीरता की कला में शिव की वराबरी के परकाल ने, रस से आलसाये हुए एवं आम और ताल आदि के वृक्षों पर बैठे हुए बडी बडी पूँछ के मोरों की पूंछें पैने पैने तीरों से काट लीं ॥ ५८ ॥

विहाय साधून् स शरेण रुद्धिविहायसार्ऽहिस्त मृगान्शरारून् ।
घनाघनानीलहयाधिरूढः घनाघनाशी मुरहेव दैत्यान् ॥ ५९ ॥

"मार लो मार लो" करनेवाले दैत्यों को मिटानेवाले, नील सरोरुह के से शरीरवाले भगवान् जैसे असुरों का वध करते हैं, सुरों का नहीं, इसी तरह मेघ के से रंगवाले घोडे पर चढे हुए परकाल ने भी साधु मृगों को नहीं मारा, किन्तु आसमान को भी अवरुद्ध करनेवाले तीरों से हिंसक मृगों की ही हत्या की ॥ ५९ ॥

कुर्वतेव भयवाचमरीणां सायकेन रणता चमरीणाम् ।
वालधीन् स जगृहे लसमानान् कांतिकेन्दुकरजालसमानान् ॥६०॥

वैरियों को भयकारी वाक्य बोलते हुए की तरह शब्द करनेवाले सायक से चमरियों की शरदपूर्णिमा के चांद की किरणों के समान चमकते हुए बालों की पूछों के गुच्छों को काट लिया ॥ ६० ॥

तद्बलं युधि जिताऽऽत्तरवारि स्वीचकार विलसत्तरवारि ।
हास्तिकं विहितदुस्तरवारिस्फोतपुष्करलसत्तरवारि ॥ ६१ ॥

हाथों में चमकती तलवार लिये हुए बडे बडे तलवारधारी तथा मार से रोते हुए वीरों के विजेता सैनिकों ने उन हाथियों के समुदाय को स्वीकार किया जिनकी बडी बडी सूंडों से चमकता हुआ पानी टपक रहा है जिन्होंने गज-बन्धनी को तोड दिया है ॥ ६१ ॥

किङ्कराः परविरामधुराज्ञा रोहितश्रुतिसुधामधुराज्ञाः ।
मुञ्चतेति कथिता मधु राज्ञा मुक्तमस्य हि दयामधुराऽऽज्ञा ॥ ६२ ॥

शत्रुनाश की धुराका जाने वाले रोहित मृग की कर्णामृत के समान जो वचन है, ऐसी आज्ञावाले परकाल के सैनिक को परकाल ने कहा कि छोड दो, उसी समय उन्होंने उन रोहित मृगों को छोड दिया, क्योंकि मीठी दया से सनी हुई परकाल की आज्ञा होती थी ॥ ६२ ॥

आबभौ स धनुषा नमितेन क्रुद्धपन्नगसमानमितेन ।
सिंहमाशु मृगराजयशस्तः त्याजयन् परचमूजयशस्तः ॥ ६३ ॥

जिनकी कि समता क्रुद्ध हुए सांप से की जाती है, ऐसे नवाये हुए धनुष से शत्रुसेना की विजय से प्रशंसा को प्राप्त हुए परकाल ने सिंह को मृगराज के यश से शीघ्र ही छुडा दिया ॥ ६३ ॥

सुदृशां हृदि स्मरचयं रचयन् जनलोचनोत्सवपुषा वपुषा ।
विजहार भिन्नमृगया मृगयाकलया ससारसवने स वने ॥ ६४ ॥

परकाल जनों के नेत्रों के उत्सव को पुष्ट करनेवाले शरीर द्वारा सुलोचनाओं के मनों में काम के वेग को पैदा करता हुआ, जिस मृगया में मृग मारे जाते हैं, उसको करता हुआ उस वन में विचरने लगा जिसमें सारसोंवाले तालाब थे ॥ ६४॥

वनसिन्धुविधूततरंगमितप्रसरस्स्मरकेलितुरंगमितः ।
तमुपास्त मरुद्गुणरंगमितस्तरुभिस्सुरभित्वपदं गमितः ॥ ६५ ॥

वन की वडी वडी नदियों की चलती हुई चपल तरंगों से जिसका प्रसर नापा गया है, एवं जो काम के क्रीडातुरंग के समान है जिसे वृक्षों ने अपनी सुगन्धि से सुगन्धित कर रखा है तथा जो अच्छे गुणों को प्राप्त हुआ है ऐसे वायु ने श्रीपरकाल की सेवा की ॥ ६५॥

इत्थं विधाय विपिने मृगयाविहार-
मग्रेसरोऽङ्घ्रिजनुषां हरिभक्तभुक्तेः ।
अध्वन्यवित्तहरणाय तदागमार्थी
योधान्नियुज्य तरुभृङ्गचरश्चचार ॥ ६६ ॥

चतुर्थवर्ण में अग्रगण्य परकाल इस प्रकार शिकार खेल कर भगवद्भक्तों की भुक्ति के लिए प्रेरित हुए पथिकों के धन को हरने के लिए अपने सैनिकों को छोड कर पथिकों को देखने के लिए वृक्षों की चोटियों पर चढते हुए विचरने लगे ॥ ६६॥

अष्टमस्सर्गः समाप्तः ।

नवमस्सर्गः

श्री गोदादेवी का वैभव

ततः पुरे धन्विनवाभिधे विधे-
स्सरोवदुद्यानमभून्मरुद्वृतम् ।
अनन्तशाखान्तपरायणद्विज-
प्रकाश्यमानश्रुतिलालितस्वनम् ॥ १ ॥

धन्विनव नाम के पुर के बीच एक उद्यान था, यह उद्यान ब्रह्मा की सभा के समान शोभायमान था, जैसे ब्रह्मा की सभा मरुत्-देवताओं से घिरी रहती है उसी तरह यह भी मरुत्-वायु से घिरा रहता था, ब्रह्मा की सभा में अनन्त शाखाओं के अन्त अर्थात् वेदान्त पाठ में लगे हुए ब्राह्मणों का देदीप्यमान श्रुतिशाली शब्द हुआ करता था, वैसे ही इस उद्यान में भी वडी-वडी बहुतसी शाखाओं के नाके पर बैठे हुए पक्षियों का परिस्फुट तथा सुनने लायक मीठा शब्द हो रहा था ॥ १ ॥

अशोकमन्दारनमेरुपाटलीरसालचाम्पेयकपूगकेसरैः ।
निवार्यमाणोष्णकरातपोदयं निरङ्कुशानन्दकरं पतत्रिणाम् ॥ २ ॥

इस उद्यान में अशोक मन्दार-नमेरु-पाटली-आम-चम्पक-सुपारी और केसर के अनेक सघन वृक्ष थे जिन में सूर्य की किरणें प्रविष्ट नहीं हो सकती थीं। यहां पक्षियों के आनन्द में किसी प्रकार की बाधा नहीं थीं, इस उद्यान में पक्षियों को निरन्तर आनन्द होता था ॥ २ ॥

गलन्मधूलीरसपानगर्वितद्विरेफमालाहितमालतीततिः ।
पटीरवाटीषु निबद्धभोगिराट्फणामणीनां प्रभया परिष्कृतम् ॥ ३ ॥

इस बाग में भोरों के झुंड टपकते हुए मीठे मधुरस को यथेष्ट पीकर अभिमान में आ चमेली के फूलों पर झूम रहे थे। इस बाग में चन्दन के वृक्षों की भी कमी नहीं थी, सब के सब परम सुगन्धित थे.

सुगन्धि के लोभ से सांप उन पर लिपट रहे थे, जिनके फणों की मणियों के प्रकाश से उद्यान देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३ ॥

सुपक्वजम्बूफलदाडिमीरसैः सुदृप्तशौकाहितचाटुसंकुलम् ।
तमालमालागृहमेधिबर्हिणाम् उदारकेकारवपूरितान्तरम् ॥ ४ ॥

इस वाग में जामुन और अनार पके हुए थे, सुग्गा के झुण्ड के झुण्ड, जामुन और अनार के रस को पी पी कर मस्त हो मीठी मीठी वोली वोल रहे थे। तमाल को पांत में वसनेवाले मोरों की ऊंची वाणी के शब्द से यह वाग भीतर से पूर रहा था ॥ ४ ॥

दिगन्तयात्रोद्यतकामकाहलीभवत्समुद्यत्कलकण्ठनिस्वनम् ।
निरन्तरोत्कूलमरन्दवाहिनीनिमज्जदिन्दिन्दिरबृन्दझंक्रियम् ॥ ५ ॥

इस वाग में कोयलों की उठी हुई कूक ऐसी मालूम होती थी मानों दिग्विजय के लिए तैयार हुए कामदेव की यात्रा के काहली वज रही है। इस वाग में फूलों के रस की धारसी सदा रहती थी जिस में नहाता हुआ भोरों का समूह गुञ्जारा करता था ॥ ५ ॥

प्रसूनसन्दोहपरागमण्डली विचित्रविस्तीर्णवितानविभ्रमम् ।
पवित्रपत्रोच्चयनीलतेजसा परिष्कृतान्तं तुलसीवनेन तत् ॥ ६ ॥

इस वाग में फूलों के समूह की वहुतसी धूल से चितकबरे फैला हुआ वितान का विभ्रम होता था, एक तुलसी की वाटिका भी थी इसमें केवल तुलसी ही तुलसी लगी हुई थी, इस वाटिका में पवित्र तुलसीपत्र नील प्रकाश फैला रहे थे जिससे यह वाग सुशोभित था ॥ ६ ॥

समन्ततो वीक्ष्य चरंस्तदन्तरे नवप्रसूनान्यपचित्य कुत्रचित् ।
स विष्णुचित्तस्तुलसीवनावनं खनित्रवक्त्रेण निखन्य कल्पयन् ॥ ७ ॥

सबसे पहले तो श्रीविष्णुचित्तजी ने इसी बाग में जहां तहां से अपने मनमाने फूल तोडे, पीछे तुलसी की वाटिका में पहुंच कर खुरपी की नोक से तुलसी की क्यारियां बनाने लगे ॥ ७ ॥

शुभे मुहूर्ते शुचिमासि फल्गुनीप्रतीततारे तुलसीवनान्तरे ।
भुवोऽभवत्काचन बालकन्यका स तां तदा प्रेक्ष्य विसिष्मये मुदा ॥

इसी अवसर पर, अच्छे मुहूर्त में आषाढमास के फल्गुनी नक्षत्र में इसी तुलसीवन के बीच भूमि से एक छोटीसी बालिका प्रकट हुई। विष्णुचित्त इस बालिका को देख कर आनन्द के साथ ही साथ विस्मय को प्राप्त हुए ॥ ८ ॥

अयोनिजेयं तुलसीपदे कथं समुद्गता प्रागिव जानकी भुवः ।
इति स्मरन् पाणितलेन धारयंस्तमालयन्तीं स्वरुचा समन्ततः ॥

इस बालिका के शरीर की प्रभा चारों ओर फैलकर तुलसी के पत्रों पर पड रही थी जिससे तुलसी के पत्ते तमाल के रंग के से हो रहे थे, विष्णुचित्त ने सोचा कि पहले जैसे जानकीजी भूमि से ही उत्पन्न हुई थी, इसी तरह यह बालिका भी पृथ्वी से ही उत्पन्न हुई है। यह सोच कर झट हाथों पर उठा लिया ॥ ९ ॥

तदाऽशरीरप्रभवाऽपि वागभूत्पुरा मही सूकररूपिणोद्धृता ।
तमाह सा विष्णुमभीष्टमाचरन् करोतु किं वा तव किङ्करस्त्विति ॥

उसी समय आकाशवाणी हुई कि हे विष्णुचित्त! पहले विष्णुभगवान् ने वाराह अवतार लेकर भूमि का उद्धार किया था, उस समय भूमि ने भगवान् से कहा था कि आपका कोई किङ्कर आपकी प्रसन्नता के लिए कुछ करना चाहे तो क्या करे, यह कह दीजिये ॥१०॥

स्तवेन माल्येन च येऽर्चयन्ति मां
ददामि तेभ्यस्त्वविनाशिसम्पदः ।
प्रसूनदानां फलदोऽस्मि सूरिभिः
स्तवादृतांस्तुल्यगुणांश्च कारये ॥ ११ ॥

जो कोई भी मुझे स्तवों से और मालाओं से पूजते हैं, मैं उन्हें ऐसी सम्पत्ति देता हूं जो कभी भी नष्ट नहीं होती, सदा बनी ही रहती है,

जो मुझे प्रसून देते हैं उन्हें मैं फल देता हूं, जो आदर के साथ स्तोत्रों को करते हैं उनको दिव्यसूरियों के समान गुणवान् वनाता हूं ॥ ११ ॥

इति क्षितिं सोऽवददादिसूकरः
तदा प्रभृत्यात्मगुणानुरूपिणः ।
अभावतो भूरभिवर्धकस्य सा
न चावतीर्णा सुचिरं समुत्सुका ॥ १२ ॥

ऐसा वचन सूकर भगवान् ने भूमि से कहा, उसी समय से भूमि स्तोत्र और पुष्पमाला के कैंकर्य करने के लिए जन्म लेना चाहती थी, पर इच्छानुकूल योग्य पोषक पिता न मिलने के कारण चिरकाल से उत्सुक रहने पर भी अवतार न ले सकी ॥ १२ ॥

इयं धरित्री तुलसीवनोदरात्
समुत्थिता साऽद्य शिशुत्वमेयुषी ।
प्रसादितुं स्तोत्रसुमैर्मुरद्विषं
विवर्धयैनामिति सन्दिदेश तम् ॥ १३ ॥

यह बालिका वही भूदेवी है, तुलसी के वन से इस समय निकली है और वालभाव को प्राप्त हुई है । इसके इस समय अवतार लेनें का यहाँ एक प्रयोजन है कि स्तोत्र तथा पुष्पसेवा से भगवान् को प्रसन्न करना । आप इस बालिका का पालन-पोषण करें, आकाशवाणी विष्णुचित्त को यह संदेश सुनाकर बन्द हो गयी ॥ १३ ॥

यथैव सीतां जनकाधिपः पुरा यथैव लक्ष्मीं कलशार्णवस्तथा ।
स विष्णुचित्तोऽपि तथैत्य तां सुतां ननन्द यद्वन्निधिमेत्य निर्धनः ॥

जैसे जनकराजा सीता जी को पुत्री के रूप में पाकर प्रसन्न हुए थे, जैसे क्षीरसमुद्र लक्ष्मीजी को कन्या के रूप में पाकर आनन्दित हुआ था, जैसे निर्धन धन पाकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार श्रीविष्णुचित्तजी भी भूमि को पुत्री के रूप में पाकर प्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

स तां समालिङ्ग्य समूह्य चोरसा
स्वगेहमासाद्य शुभावहोदयाम् ।
स्वधर्मपत्न्याः करसम्पुटे सुतां
विवर्धयैनामिति भाषयन् ददौ ॥ १५ ॥

शुभ भाग्योदयवाली इस कन्या को उठाकर हृदय से लगाया। पीछे कन्धे चढा अपने घर ले आये और अपनी पत्नी के हाथ यह कहते हुए सौंप दिया कि देखो यह अपनी पुत्री है। इसका पालन-पोषण करो ॥ १५ ॥

ततस्समेत्याखिलदेशमानुषाः
सदारपुत्रास्सुसमीक्ष्य तत्सुताम् ।
न विष्णुचित्तस्सुकृती तु केवलं
वयं च सर्वे शुभयाऽनयाऽधिकम् ॥ १६ ॥

इसके उपरान्त विष्णुचित्त के घर पर पुत्री के जन्म का उत्सव होने लगा, स्त्री बच्चों के साथ सब देश के लोग कहने लगे कि इस बालिका से विष्णुचित्त ही धन्य हो यह बात नहीं है, किन्तु हम सब भी इस बालिका के दर्शन कर कर अधिक कृतकृत्य हो रहे हैं ॥ १६ ॥

इति ब्रुवाणाः परिरभ्य ते मिथो जगुश्च केचिन्ननृतुश्च केचन ;
ननन्दुरन्ये च सुतोदयोत्सवं वितेनुरेवं विविधं कुतूहलात् ॥ १७ ॥

ऐसे कहते हुए कोई किसीसे मिलने लगा तो कोई गाने लगा और कोई नाचने लगा, कोई इसे देख देख कर आनन्दित ही होने लगा; इस प्रकार चहल-पहल के साथ बालिका के जन्म का उत्सव मनाया गया ॥ १७ ॥

कटाहसंपूरिततैलसेचनैः कनन्निशाचूर्णसुपूर्णमुष्टिभिः ।
विसारिकर्पूरपरागवृष्टिभिः परस्परं चक्रुरुदारमुत्सवम् ॥ १८ ॥

तेल के काटह भर कर रख लिये गये लोग उनसे ले लेकर आपस में तेल फेंकने लगे। पिसा-पिसाया हलदी का चूरन फेंकने लगे,

कोई किसी पर कपूर का चूर्ण फेंकता था तो कोई और सुगन्धि द्रव्य दूसरे पर फेंक देता था, इस प्रकार सबने मिलकर बालिका के जन्म का बडा उत्सव मनाया ॥ १८ ॥

यथोचितं तानखिलान् समागतान्
सबालवृद्धान् समभावयद्धनैः ।
ददाति गा इत्यरविन्दचक्षुषे
चकार गोदेत्यभिधां शुभेऽहनि ॥ १९ ॥

जो जिस योग्य था विष्णुचित्त ने उसका उसी तरह धन से सत्कार किया, सत्कार करती वार बच्चे से लेकर बुड्ढे तक सबका सत्कार किया गया, यह नहीं कि चुने हुए आदमी ही सत्कार पाये सामान्य नहीं । यह बालिका भगवान् के बहुतसे स्तोत्र करेगी यह बात ध्यान में रख कर किसी अच्छे दिन बालिका का नाम गोदा रख दिया ॥ १९ ॥

स सव्यपाणौ दुहितुर्विलोकयन्
त्रिलोकनेतुर्महिषीत्वसूचकम् ।
ध्वजातपत्राम्बुरुहादिलक्षणं
मुदंकुरं प्रापदभंगुरं गुरुः ॥ २० ॥

जब श्रीविष्णुचित्तजी ने बेटी का बायां हाथ उठाकर उसकी रेखा देखना प्रारम्भ किया तो उन्हें ऐसे शुभ चिह्न मिले जिनसे तीनों लोकों के राजा की पट्टमहिषी होना सूचित होता था, त्रिलोकेश्वरी के हाथों में जो ध्वज, छत्र, कमल आदि के चिह्न होने चाहिये वे सब इसके हाथों में थे, जिन्हें देख कर आप परमानन्द को प्राप्त हुए। यह ऐसा अनन्द था जो कभी मिटनेवाला नहीं था ॥ २० ॥

पदांबुजे पल्लवरागपाटले समीक्ष्य मेने दुहितुस्सुलक्षणम् ।
स सर्वगीर्वाणकलत्रकुन्तलप्रसूनपूज्यांघ्रिरियं भवेदिति ॥ २१ ॥

गोदा के जब कोंपल के रङ्ग की तरह लाल लाल पैर देखे तो उस सुलक्षण से समझा कि इसके चरणों में जब बडे बडे देवों की स्त्रियां नतमस्तक होंगी उस समय देवस्त्रियों के शिर के बालों में पुवे हुए फूलों की धूलि इसके चरणों में लगेगी ॥ २१ ॥

सुवर्णपर्यङ्कमसावुपेयुषी चिरं रुदन्त्यन्यकथाविधाश्रवात् ।
उदारदामोदरकेलिकीर्तनाददृश्यत स्मेरमुखाम्बुजा मुदा ॥ २२ ॥

सोने के पलङ्ग पर लेटी हुई गोदा को जब विष्णुचित्त और बातें सुनाते थे तो वह रोने लग जाती थी, इसे रोती देख कर जब वह समझते कि वह अब बातों में नहीं बहकती तो भगवान् की लीलाओं को गाने लग जाते थे जिस से इसका मुंह मन्दहास करता हुआ कमल की तरह खिल जाता था ॥ २२ ॥

गृहाङ्गणे पांसुविहारहारिणी पदद्वयीशिञ्जितमञ्जुनूपुरा ।
करेण पर्यायनिवेशचारुणा क्रमेण गोदाऽकृत चारुचंक्रमम् ॥ २३ ॥

जब यह गोदा कुछ बडी हुई तो घर के आंगन की धूलि में खेलने लगी, पैरों में छोटे छोटे नूपुर पहिन रखे थे, खेलती वार रुनझुन बजते थे। पीछे जैसे बालक दोनों हाथ पैरों को टेक कर जमीन पर फिरते हैं, इसी तरह फिरने लगी। इस का यह फिरना बडा ही सुन्दर मालूम होता था ॥ २३ ॥

मुखावलम्बानलकान्मुहुर्मुहुः सरोजलोभाद् भ्रमरानिवागतान् ।
निवारयन्ती करपल्लवांचलात्प्रसूनपांसौ विजहार सा गृहे ॥२४॥

जैसे रस के लोभी भौंरे कमल के फूल पर पडते हैं वैसे ही सिर के घुंघराले बाल गोदा के मुखकमल पर पडते थे, पर यह कररूपी पल्लव के अंचल से उन्हें हटाती हुई फूलों की धूल में अपने घर में खेलती रहती थी ॥ २४ ॥

ललाटडोलायितरत्नभूषणां मनोज्ञमन्दस्मितमन्थराननाम् ।
रजोऽनुलिप्तामुपगूह्य तां पिता शिरस्यजिघ्रच्चिरमाननन्द च ॥

मोथे पर पहना हुआ रत्न का आभूषण हिल रहा था। सुन्दर मन्द मुसकान से मुखारविन्द अकथनीय शोभा को पा रहा था। धूल में खेलने के कारण सारे शरीर पर रज लग रही थी, ऐसी को ही पिता गोद में उठा कर शिर को सूंघके बहुत समय तक आनन्द में मग्न रहते थे ॥ २५॥

विलोक्य बाला मणिकुट्टिमे मुखं सरोजबुद्ध्या प्रतिबिम्बितं मुहुः ।
गृहीतुकामा प्रसृतेन पाणिना चकार यत्नं चटुलायतेक्षणम् ॥२६॥

जब यह मणिमय फर्श में अपना मुंह देखती थी तो उसमें इसका ही मुंह इसे कमलसा दीखता था, तब उसे लेने के लिए हाथ से खूब प्रयत्न करती थी, हाथ फैलाती थी, इस प्रयास में गोदा के नेत्र फैल जाते थे। आंखें कुछ कुछ इधर उधर दीखने लगती थी। जैसा दर्पण में मुंह देख-देख कर बच्चा किया करता है, ऐसे ही गोदा भी करती थी ॥ २६ ॥

समीक्ष्य मुग्धा मणिभित्तिबिम्बितां
स्वमूर्तिमन्यामवधार्य दारिकाम् ।
समाह्वयन्ती चलपाणिना तदा
तयोपहूतेव तदन्तिकं ययौ ॥ २७ ॥

जब कभी मणिमय दीवार पर गोदा की मूर्ति पूरी प्रतिबिम्बित हो जाती तो यह समझती कि कोई दूसरी बच्ची खडी है, झट हाथ से बुलाने लगती, प्रतिबिम्ब में भी वैसे ही हाथ चलता था। गोदा समझती थी कि मुझे यह बुला रही है, झट उसके पास चली जाती थी ॥ २७॥

प्रगृह्य धात्रीकरपल्लवांगुलिं शनैस्समुत्थाय पदानि कानिचित् ।
गृहाङ्गणे रिङ्खणवन्ति साऽकरोत्स्वकीयपित्रोर्हृदये च सम्मदम् ॥

जब कुछ और बडी हुई तो अपनी धाय के हाथ की अंगुलि को पकड कर डगमगाती हुई कभी-कभी घर के आङ्गन में चलने लगती जिससे इसके मां-बापों को बडा ही आनन्द मिलता ॥ २८॥

क्रमेण धात्रीवचनानुवर्तिनी जगाद तातेति च मातरित्यपि ।
चकार बाला करतालघट्टनं मुकुन्दगोविन्दपदानुवादिनी ॥ २९ ॥

कुछ और वडी होने के वाद धाय के कहे मा से मा और वाप से वाप कहने लगी । कभी-कभी धाय के पीछे-पीछे मुकुन्द गोविन्द शब्द कह कह कर हाथों से तालियां भी बजाने लग जाती थी ॥ २९ ॥

पुराऽपराधीत्यवमत्य वायसं सुपर्णमालोक्य समाजुहाव सा ।
क्षपाकरं हृद्यमवेक्ष्य चक्रिणः प्रतिक्षपं साऽऽह्वयतिस्म सादरम् ॥३०॥

जव काग दीख पडता तो काग को तो नहीं बुलाती थी, क्यों कि यह जानती थी कि यह कागला रामावतार में भगवान् का अपराध कर चुका है, पर वहां गरुड होता तो उसे बुलाने लगती । जब कभी चांदनी रात होती तो चांद को आदर से बुलाती थी, क्योंकि यह जानती थी कि यह चांद भगवान् के हृदय से हुआ है ॥ ३० ॥

समेत्य रथ्यासु सखीजनेन सा सशैलकान्तारसमुद्रसंकुलम् ।
विधाय विश्वं रजसा स्वमन्दिरं चिरेण चिक्रीड शिशुत्वभूषणा ॥

घर के सामने की लम्बी-चौडी सडक पर बैठकर अपनी सहेलियों की देखादेखी, पर्वत, वन, समुद्र सहित विश्व का चित्र-सा बनाकर उसके वीच में रेत का अपना घर बनाती थी। बहुत समय तक यही इसका खेल होता था। वाल्यावस्था इसे शोभित कर रही हो, यह बात नहीं है । किन्तु वचपन इससे सुशोभित हो रहा था ॥ ३१ ॥

विधाय नीलोत्पलचुल्लिकान्तरे सरोजपात्रं मकरन्दवारिमत् ।
चकार साऽन्नं नवचम्पकाग्निना विहारतो दाडिमबीजतण्डुलान् ॥

नीले कमल का चूला बनकर उस पर कमल का पात्र चढाती पात्र में फूलों के रस को भरती यह फूलों का रस ही इसके खेल में पाक के पानी की जगह होता, इसमें अनार के बीजों के चावल डाल चंपक के नये चंपक के फूल को आग की जगह रख कर प्रसाद बनाना प्रारम्भ करती थी । यही गोदा का भोजन बनाने का खेल होता था ॥ ३२ ॥

निधाय नीलोत्पलचुल्लिकान्तरं
प्रवालभाण्डं हिमवारिपूरितम् ।
समिद्धमाणिक्यकृशानुनाऽपच-
त्सुपूर्य साऽन्नं नववस्त्रतण्डुलैः ॥ ३३ ॥

नीले कमल का छोटासा खेल का चूला बनाकर प्रवाल का वर्तन ओस के पानी से भरकर रख देती थी, इसके नीचे देदीप्यमान माणिकों की आग लगाती थी और वर्तन में नई वज्रमणियों को चावलों की जगह भर दिया करती थी। कभी कभी इस प्रकार भी भोजन वनाने का खेल खेला करती थी ॥ ३३ ॥

वधूवरौ कृत्रिमपुत्रिकासुतौ
विभाव्य गोदा किल रुक्मिणीं हरिम् ।
स्वयंवरोद्वाहविधामरीरच-
द्रणेन साकं बलभद्रचैद्ययोः ॥ ३४ ॥

कभी-कभी गोदा विवाह का खेल खेला करती थी, दो गुड्ढे बनाया करती थी, एक को बेटी और एक को बेटा बनाया जाता था। पीछे दोनों को वर-वधू बनाकर उनके विवाह का प्रवन्ध होता था। लडकी का नाम रुक्मिणी और कृत्रिम पुत्र का नाम कृष्ण रखती थी। विवाह इसी तरह थोडा ही करती थी, किन्तु जैसा पुराणों में लिखा है, उसी रीति से स्वयंवर होता था। शिशुपाल और बलरामजी भी आते थे एवं हरण के बाद उनका युद्ध भी होता था ॥ ३४ ॥

समिध्य सा स्फाटिकवेदिकान्तरे
प्रवालवह्निं हरिचन्दनेन्धनैः ।
अकारयन्मौक्तिकलाजमोक्षतः
विवाहलीलां कृतकात्मपुत्रयोः ॥ ३५ ॥

कृत्रिम बेटे-बेटी के फेरों का बडा सुन्दर प्रवन्ध किया करती थी। बडा ही सुन्दर एक छोटासा मण्डप बना कर उसमें स्फटिक मणियों की

वेदी बनाती थी उस पर लाल-लाल मूंगाओं को आग की जगह रखा करती थी और हरिचन्दन को ईन्धन की जगह रखती थी। सप्तपदी के अवसर पर खीलों के होम की जगह मुक्तारूपी लाजों का हवन करती थी। कभी-कभी इस प्रकार भी गोदा का विवाह का खेल होता था ॥ ३५॥

चकार गोदा मणिकन्तुकोत्सवं सखीजनैस्साकमुदारविभ्रमा ।
निपत्य शश्वत्परिवृत्य चोत्थिता पुरश्च पश्चादभिगम्य पार्श्वयोः ॥

कभी-कभी उदार विभ्रमवाली गोदा अपनी सम आयुवाली सहेलियों के साथ गेंद खेला करती थी। खेलते-खेलते अपने आप गिर पडती एवं फिर करवट बदलकर खडी हो जाया करती कभी बैठे और खडे-खडे खेलती थी। कभी पीछे को भगती तो कभी-कभी आगे की ओर भगने लग जाती थी। तथा कभी अगल-बगल भगती थी ॥ ३६॥

विहृत्य सा जानुयुगेन कन्तुकं
निहत्य पर्यायविलोलपाणिना ।
श्रमाम्बुसंसक्तविलोलकुन्तला
क्रमेण चिक्रीड सखीजनान्विता ॥ ३७ ॥

कभी-कभी दोनों घुटनों को भूमि में टेक कर बारंबार हाथों से ही गेंद को जमीन पर मार कर खेलती थी। जिसमें मुंह पर परिश्रम के मारे पसीने की बूंद पड जाती थी, जिन में बाल चिपक जाया करते थे जैसे यह खेलती थी वैसे ही इसकी तमाम मण्डली भी खेला करती थी ॥ ३७॥

निहत्य सा कन्तुकमन्तरान्तरा
नियम्य नीवीं रशनां च कैशिकम् ।
निवेशयन्ती विजहार कौशलात्
यथापुरं नूपुरहारवल्लरीः ॥ ३८ ॥

गेंद खेलते-खेलते कभी वस्त्र खुल जाता था तो कभी शिर का जूडा खुल पडता था, इनको भी वडी सावधानी के साथ, खेल के बीच में ही

वांध लेती थी, कभी-कभी नूपुर और हारों को भी सम्हाल लिया करती थी ।। ३८ ।।

कुबेरदृक्केलिषु तां पराजितां
सखीजने पृच्छति नाम तत्पतेः ।
विलज्जिता सा शनकैस्स्ववल्लभं
जगाद देवं वटपत्रशायिनम् ।। ३९ ।।

कभी-कभी अपनी मण्डली की वालिकाओं के साथ केचा ढेरी का खेल खेला करती थी । इस खेल में द्रविड में यह होता है कि जो हार जाय उसे अपने पति का नाम वताना पडता है जव कभी गोदा हार जाती थी तो पति का नाम वताने के समय लजाकर धीरे से वटपत्रशायी भगवान् को अपना पति वता दिया करती थी ।। ३९ ।।

द्विसप्तसंख्यान् परिपूर्य मौक्तिकै-
स्सुवर्णगर्तान् पुनरेकगर्तगाः ।
विनिक्षिपन्ती प्रतिगर्तमादरात्
जहार मुक्ताश्चतुरश्चतुःक्रमात् ।। ४० ।।

गोदा, पहले तो सोने के बने हुए चौदह गड्ढों को मोतियों से पूर देती थी, फिर एक गड्ढे से मोतियों को उठाकर एकैक करके दूसरों डाल देती । फिर जब किसी गड्ढे में चार मोतियाँ हो जायें, उन्हें उठा लेती । इस प्रकार खेलती थी। यह एक वालकों का खेल होता है, द्राविड देश में ज्यादा खेला जाता है ।। ४० ।।

गुणत्रयाकारसुवर्णगोलकान् करद्वयेनाप्युपलाल्य सोन्मुखी ।
शनैस्समुद्गाय तदङ्गमङ्गना मुरारिगाथा विजहार मोहिनीः ।। ४१ ।।

सतोगुण का रंग श्वेत तथा रजोगुण का लाल और तमोगुण का काला रंग मानते हैं, गोदा एक धौले रंग का तथा एक सोने का गोला लाल

रंग का और एक काले रंग का सोने का गोला अपने हाथों में लेकर तोलते-तोलते ऊंचा मुंह करके भगवान् का मनोहर गुण गाती हुई खेलती जाती थी ॥४१॥

स्रजं स्वपित्रा निहितां समर्पणा-
त्पुरा हरेस्सा विनिवेश्य कुन्तले ।
विलोक्य वक्त्रं गृहकुड्यदर्पणे
विमुच्य तां पूर्वपदेऽकरोत्पुनः ॥ ४२ ॥

श्रीविष्णुचित्तजी सूरि भगवान् को चढाने के लिए माला बना कर रख दिया करते थे, मौका लगते ही चढाने से पहले गोदा अपने बालों में बांध लिया करती थी, पीछे घर की दीवार पर लगे हुए दर्पण में मुंह देखती थी कि मैं कैसी लगती हूं। इसके बाद जहां से उठाती थी वहीं की वहीं उस माला को रख दिया करती थी ॥४२॥

यथा तदीयालकभुक्तपूर्वया स्रजा मुदं प्राप मुरारिरन्वहम् ।
तथा न तस्या जनकप्रदिष्टया पुरा न वा माल्यकृतोपनीतया ॥४३॥

जैसे रोज गोदा के बालों की भोगी हुई माला से भगवान् प्रसन्न होते थे वैसे विष्णुचित्त की समर्पित की हुई शुद्ध मालाओं से कभी भी प्रसन्न नहीं हुए, न पहले कृष्णावतार में मालाकार की ही माला पहिन कर प्रसन्न हुए थे ॥४३॥

उपेत्य दिव्योपवनान्तमन्वहं नवीनपुष्पाण्यपचित्य सा हरेः ।
विधाय मालामदिशत्पितुःकरे स्वकेशलेशप्रतिपन्नसौरभाम् ॥४४॥

जब गोदा के पिता फूल तोडने के लिए बाग को जाते थे तो गोदा भी पिता के साथ-साथ फूल तोडती थी एवं उनके साथ माला भी बनाती थी। पीछे अपने बालों में पहन कर पिता को दे देती थी। गोदा के बालों में इतनी सुगन्धि थी जिससे कि फूल माला और भी अधिक मनोहर गन्धवाली हो जाया करती थी ॥४४॥

अतीत्य सा शैशवमायतेक्षणा जगाम गोदा नवयौवनोदयम् ।
पुरारिनेत्रानलदग्धमन्मथं पुनस्समुज्जीवयितुं मुरारिणा ॥ ४५ ॥

हर की नेत्रज्वाला से जले हुए कामदेव को हरि से फिर जिलवाने के लिए गोदा बाल्यकाल को पार करके युवती होने लगी ॥ ४५ ॥

तदङ्गदेशे कुचकोकविभ्रमा नदी नवा कान्तिमयी विववृधे ।
स्मराविलालोलविलोचनोत्पला क्रमेण नारायणसिन्धुगामिनी ॥ ४६ ॥

गोदा के शरीररूपी देश में सुन्दरतामयी नूतना नदी वह रही थी, इस नदी में चक्रवाक के से कुच चकवाक पक्षि का काम कर रहे थे, कामदेव ने जिसे उमडता हुआ सा बना रखा था, वे बुलबुले कटीले नयन-उत्पल का काम दे रहे थे, यह नदी क्रम से नारायणरूपी समुद्र से मिलनेवाली थी ॥ ४६ ॥

तनोरयत्नोपनतं विभूषणं महास्त्रलाभस्सुकरो मनोभुवः ।
प्रमोदधारामुरवैरिचक्षुषोः वपुष्यमुष्याः प्रससार यौवनम् ॥ ४७ ॥

गोदा के शरीर को युवावस्था सुशोभित कर रही थी, यही इसके मनोहर शरीर का बिना परिश्रम के भूषण का कार्य कर रहा था, इसके सामने सब आभूषण मात थे । कामदेव को भी यह बिना परिश्रम के बडे भारी अस्त्र का लाभ हुआ था। यही भगवान् की आखों के लिए आनन्द की धार बना हुआ था । ज्यों ज्यों दिन जाते थे यौवन भी बढता जाता था ॥ ४७ ॥

सविभ्रमभ्रूलतमायतेक्षणं पयोधराक्रान्तवलग्रवल्लरि ।
उदग्ररोमालिकरालकुन्तलं विदिद्युतेऽस्या नवयौवनं वपुः ॥ ४८ ॥

कटीली दोनों भौंहें निराला विभ्रम दिखाया करती थी, आखें भी बडी होती जाती थी। रोमावलि भी बढती जाती थी। शिर पर घुंघराले बाल बढ रहे थे। कटिस्थान से एक छोटे-छोटे रोमों की लता

चल कर स्तनों तक पहुंच गयी थी। विशेष वर्णन कहां तक करें, शरीर सुन्दर तो था ही, नई जवानी से फिर इसकी सुन्दरता का कुछ ठिकाना नहीं रहा। गात्र सब ओर से दीप (चमक) रहा था ॥ ४८ ॥

गभीरनाभीसरसा लसद्भुजालतेन तुङ्गस्तनकेलिभूभृता ।
तदङ्गकेनेक्षणभृङ्गचारुणा बभूव लीलोपवनी मनोभुवः ॥ ४९ ॥

गोदा कामदेव के खेल की बगीची बनी हुई थी। ओंडी नाभि ही इसमें छोटासा तालाव बनी हुई थी, सुन्दर भुजाएं लता बनी हुई थीं। विना ढलके हुए ऊंचे स्तन ही खेल के पहाडों की तरह शोभायमान हो रहे थे, आखें ही भोंरों की शोभा दे रही थीं, यही सब सामान बगीची में होता है सो यहां पर भी था ॥ ४९ ॥

अमोघमस्या यदपाङ्गवीक्षणं स्मरेण बाणत्वमनायि साम्प्रतम् ।
यदि प्रसूनं विशिखीकरोत्यसौ कुतोऽस्य लोकेशजिगीषुताकथा ॥

इस समय कामदेव ने गोदा के कटाक्षवीक्षण को अपना अमोघ बाण वनाया था। यदि ऐसा न करके फूलों के तीरों से ही अपना मतलब गाँठना चाहता तो विष्णु भगवान् के जीतने की इच्छा की वात कहां से होती (आशय यह कि फूलों के बाणों से विष्णु भगवान् को नहीं जीत सकता था। यदि काम विष्णु भगवान् पर विजय पाना चाहेगा तो गोदा के शरीर को ही तीर बना कर पा सकता है।) ॥ ५० ॥

त एव धन्याश्चिकुरास्समायताः मृगीदृशो यैरुपभुक्तमुक्तया ।
अतुष्यदीर्ष्यापरुषेन्दिरेक्षितः प्रसूनदाम्ना परमः पुमानपि ॥ ५१ ॥

मृगनयनी गोदा के वे बडे-बडे बाल ही धन्य हैं जिन की भोगकर छोडी हुई माला से परम पुरुष पुरुषोत्तम भी सन्तुष्ट हो जाते थे। यहां तक कि यह दशा देख कर लक्ष्मीजी को भी ईर्ष्या होती थी जिससे वो टेढी-टेढी आखें करके भगवान् को देखती थीं ॥ ५१ ॥

सुधामयूखेन सुजातमाननं व्यधायि नूनं विधिनाऽऽनतभ्रुवः ।
न चेदमुष्मिन् हरिणादृते कथं विशृङ्खलं जाग्रति पुष्कलाः कलाः ॥

मालूम तो ऐसा होती है कि वडी-वडी भोंहोंवाली गोदा के मुंह को ब्रह्मा ने चांद से वनाया था। यदि ऐसा नहीं तो भगवान् से आदर किये गये इस निष्कलङ्क मुख में वहुतसी कलाएं कहां से आकर जगमगाया करतीं ॥ ५२॥

शिरीषमालासुकुमारतासखी भुजालता सा स्फुरतिस्म सुभ्रुवः ।
ययाऽपनीपद्यत निर्विशेषता मुरारिकण्ठे तुलसीदलस्रजा ॥ ५३ ॥

शिरीषक फूलों की माला के सुकुमारपने की सखी इसकी लंवी-लंबी भुजाएं हैं, ये भुजालताएं तुलसीदल की माला के समान वारंवार भगवान् के कण्ठ में समानता को पा रही हैं।

सुलोचनायास्सुकुमारतासरिद्विहारिचक्रव्यवहारलम्पटौ ।
पयोधरावुद्गतरोमवल्लिकाप्रसूनगुच्छप्रतिभावराजताम् ॥५४ ॥

सुन्दर नयनोंवाली गोदा की सुकुमारता की नदी में स्तन ऐसे मालूम होते थे मानों इस नदी में विहार करने के शौकीन दो चकवे हैं। जव कटी से चली हुई रोमवल्ली के सम्वन्ध की तरफ ध्यान जाता था तो ऐसा मालूम होता था कि रोमावलीरूपी लता के ये स्तन दो वडे-बडे गुच्छे हैं ॥ ५४॥

तदङ्गयष्टिं मधुजिज्जिगीषया मनोभवश्शासनपत्रिकां व्यधात् ।
वितानमाशंक्य वलग्नमन्तरा गभीरनाभीनिभबिन्दुमालिखत् ॥ ५५ ॥

कामदेव ने विष्णुभगवान् को जीतने की इच्छा से गोदा के शरीर को अपना आज्ञापत्र वना लिया था। एवं गोदा की कमर को तुच्छ समझ कर इसकी पहिचान के लिए काम ने आज्ञापत्र में नाभिरूप बिन्दु लगा दिया था ॥ ५५॥

पदद्वयं मत्तचकोरचक्षुषः प्रभापराभूतपयोजपल्लवम् ।
कथं सहेतोरसि कैटभद्विषः कठोरतां कौस्तुभरत्नसम्भवाम् ॥५६॥

मत्त चकोर के से नयनोंवाली गोदा के दोनों चरण अपनी प्रभा से कमल के पल्लव को भी मात कर देनेवाले थे। विचार तो इस वात का है कि भगवान् की उस वक्षस्थल की कठोरता को जो कि कौस्तुभमणि पहिनने के कारण हुई है, ये कैसे सहन करेंगे ॥ ५६ ॥

दिनेदिनेऽवर्धत सा पितुर्गृहे विवेकबुद्धया सह विष्णुसक्तया ।
कलेव कान्त्या हिमदीधितेर्नवा पटीरवल्लीव च गन्धसम्पदा ॥ ५७ ॥

गोदा पिता के घर पर दिन दिन वढती जाती थी, इसके साथ ही साथ विष्णु भगवान् में लगी हुई उसकी विवेक-बुद्धि भी बढती थी, जैसे कि चांद की कला सुन्दरता तथा प्रकाशके साथ बढती है, जैसे कि चन्दन की नई लता सुगन्धि के साथ वढती है, वैसे ही गोदा वढती जाती थी ॥ ५७ ॥

अथ समधिकस्फायत्तारुण्यसम्पदलंक्रिया-
ललितवपुषस्तस्याश्चित्तं प्रसक्तमजायत ।
भगवति चिदानन्दे कन्दे पुराणगिरां हरौ
प्रकृतिरुचिरे भावे प्रायो लगत्यचलात्मनाम् ॥ ५८ ॥

गोदा का सहज आभूषण इसको युवावस्था ही थी, यह युवावस्था अधिक से भी अधिक बढ गयी थी जिससे गोदा का शरीर परम सुन्दर मालूम होता था। इसका मन चिदानन्द, वेदों के मूल भगवान् में अनुरक्त हो गया था, क्योंकि दृढचित्त पुरुषों का अनुराग ऐसे पदार्थ में होता है जो स्वभाव से ही सब प्रकार सुन्दर हो ॥ ५८॥

नवमस्सर्गः समाप्तः ।

दशमस्सर्गः

श्रीविष्णुचित्तस्संपूज्य सौरभोद्दामदामभिः ।
वटधामपतिं विष्णुं वासं निजमुपागमत् ॥ १ ॥

एक दिन श्रीविष्णुचित्तजी सुगन्धि से नासिका को तृप्त कर देनेवाली बडी-बडी मालाओं से, वटपत्रशायी भगवान् का पूजन करके, अपने निवासस्थान पर आये ॥ १ ॥

अक्षव्यापारमखिलं निक्षिपन्ती मुरद्विषि ।
गुरुं व्यजिज्ञपद् गोदा शुश्रूषुर्भगवद्गुणान् ॥ २ ॥

वहां पुत्री गोदा बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक कर भगवान् में लगाती हुई भगवान् के गुणों को सुनने की इच्छा से पिता से बोली कि—

चरितानि जगत्त्राणचतुराणि मुरद्विषः ।
सकलान्यपि यत्तात जानीषे त्वं विशेषतः ॥ ३ ॥

हे पिता! आप संसार की रक्षा करने में प्रवीण जो भगवान् के चरित्र हैं, उन सबों को विशेषरूप से जानते हैं ॥ ३ ॥

अवन्यां कति धामानि हरेरर्चावतारिणः ।
अपदानं त्वमेतेषामधुना वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अर्चावतारी भगवान् जहां विराजते हैं ऐसे कितने स्थान हैं आप इस समय उन स्थानों का महत्त्व मेरे लिए सुनावें ॥ ४ ॥

इति प्रश्रयशालिन्या पुत्र्या विज्ञापितः पिता ।
वैभवं वैष्णवं वक्तुं वावदूकः प्रचक्रमे ॥ ५ ॥

प्रीति से प्रार्थना करने के स्वभाववाली पुत्री गोदा ने जब पिता से इस प्रकार प्रार्थना की तो पिता ने भी विष्णुभगवान् का वैभव कहना आरम्भ कर दिया, क्योंकि विष्णुचित्त अच्छे वक्ता थे, क्यों मौन रहते? ॥ ५ ॥

अष्टोत्तरशतं धाम्नामस्त्यर्चारूपिणो हरेः ।
भुवि यद्वैभवश्रुत्या पुंसां मुक्तिः करस्थिता ॥ ६ ॥

हे पुत्रि! इस लोक में अर्चारूपी भगवान् के १०८ धाम हैं जिनके वैभव सुनने मात्र से मनुष्यों को मुक्ति हस्तगत होती है ॥ ६ ॥

विष्णुधामापदानानि विष्णुचित्ते विवृण्वति ।
मथुराधीशकृष्णस्य वृत्तेनाजनि विस्मिता ॥ ७ ॥

जब विष्णुचित्त अर्चावतारी भगवान् के स्थानों का महत्त्व समझने लगे, उस समय क्रमप्राप्त मथुरा के अधिपति कृष्ण के चरित्र को सुन कर गोदा को बडा विस्मय हुआ ॥ ७ ॥

ततस्सुन्दरराजस्य चरितं शृण्वती मुदा ।
उदारपुलकांकूरामुवाह सुतनुस्तनुम् ॥ ८ ॥

इसके बाद सुन्दरराज भगवान् के चरित्र को सुनते आनन्द से सुन्दरी गोदा के शरीर में परिपूर्ण रोमांच हो आये ॥ ८ ॥

वेंकटाद्रिपतेर्विष्णोः कथाकर्णनकर्मणा ।
रमणीये मुखे तस्या विकासोऽभूद्विजृम्भितः ॥ ९ ॥

वेङ्कटेश भगवान् की कथा सुनने से गोदा के सुन्दर मुख पर पूर्ण विकास के चिन्ह दिखने लगे ॥ ९ ॥

श्रीमतो रङ्गराजस्य शृण्वती महिमोदयम् ।
अधत्तामन्दमानन्दमरविन्ददलेक्षणा ॥ १० ॥

श्रीरङ्गनाथ भगवान् के महिमा के उदय को सुनने के अवसर पर कमल के दल के समान नयनोंवाली गोदा परमानन्द को प्राप्त हुई ॥ १० ॥

अतृप्ता रङ्गराजस्य प्रभावामृतपारणात् ।
इति स्मेरमुखी गोदा सवितारमभाषत ॥ ११ ॥

जब रङ्गनाथ भगवान् के प्रभावरूपी अमृत की पारणा करती-करती न तृप्त हुई, तब मन्द मुस्कान के साथ पिता से कहने लगी—

चरित्राणि पवित्राणि समस्तानि सविस्तरम् ।
क्रियासमभिहारेण कीर्तितव्यानि रङ्गिणः ॥ १२ ॥

पिताजी ! रङ्गनाथ भगवान् के समस्त पवित्र चरित्रों को विस्तार के साथ शीघ्र ही वारंवार कीर्तन करें ॥ १२॥

इत्युक्तवत्यां गोदायां विष्णुचित्तोऽवदन्मुदा ।
तादृशीं भक्तिमालोक्य तस्याश्श्रीरङ्गधामनि ॥ १३ ॥

श्रीविष्णुचित्तजी गोदा के इस प्रकार कहने पर एवं श्रीरङ्गनाथ भगवान् में गोदा की वैसी ही भक्ति देख कर आनन्द के साथ रङ्गनाथ भगवान् के वैभव कहने लगे ॥ १३ ॥

श्रूयतामादितो वक्ष्ये त्वया दत्तावधानया ।
दयाकरस्य चरितं देवदेवस्य रङ्गिणः ॥ १४ ॥

दया के आकर देवदेव श्रीरङ्गनाथ के चरित्र को आरम्भ से कहता हूं । तुझने ही मुझे अवकाश दिया है, इस कारण तू पूरी सावधान हो कर सुन ॥ १४॥

तत्तादृशेन तपसा सन्तुष्टः परमेष्ठिनः ।
उदगादुदरात्सिन्धोरुरगेन्द्रशयः स्वयम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मा के अतुल तपों से शेषशायी भगवान् ही प्रसन्न हो कर स्वयं ही समुद्र के उदर से प्रकट हुए ॥ १५॥

चतुर्वेदमयोत्तुङ्गश्शृङ्गश्शृङ्गारिणा हरिः ।
रङ्गसंज्ञविमानेन सङ्गतः प्रणवात्मना ॥ १६ ॥

चतुर्वेदमय ऊंचे-ऊंचे शृंगों से जिसका शृंगार हो रहा है जो कि सबका सव ॐ शब्द के आकार का वना हुआ है, ऐसे रंग नामवाले विमान में बैठे हुए ही आप प्रकट हुए थे ॥ १६॥

समस्तोपनिषत्कन्दं सम्भूतं क्षीरसागरात् ।
प्रीतस्तमर्चयामास सत्यलोके सरोजभूः ॥ १७ ॥

ब्रह्मा ने सारी उपनिषदों के मूलभूत रंगनाथ भगवान् को जो कि क्षीरसागर से प्रकट हुए थे, उन्हें सत्यलोक में ले जाकर उनका प्रसन्नता के साथ पूजन किया ।। १७।।

सत्रमारभत ब्रह्मा यत्र तत्प्रीतिकारणम् ।
तदर्थमाययुः सर्वे सुरासुरनरर्षयः ।। १८ ।।

एक बार ब्रह्मा ने भगवान् रंगनाथ को प्रसन्न करने के लिए सत्रयज्ञ का प्रारम्भ किया । उस यज्ञ में ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए सुर, असुर, नर, ऋषि सभी आये ।। १८।।

ईश्वरस्सूर्यवंशानामिक्ष्वाकुर्मनुनन्दनः ।
इष्टिं पैतामहीं प्रापदिन्धानगुणविक्रमः ।। १९ ।।

उस यज्ञ में उज्ज्वल गुण और बलवाला, मनु का पुत्र सूर्यवंश का राजा इक्ष्वाकु भी आ पहुंचा ।। १९।।

तत्र संसेव्य रङ्गेशं भगवन्तं परात्परम् ।
इक्ष्वाकुस्तपसा कर्तुमियेष कुलदैवतम् ।। २० ।।

वहां इक्ष्वाकु ने सबके परतत्व रंगनाथ भगवान् की सेवा की और तप से रंगनाथ भगवान् को अपना कुलदेव बनाने का सङ्कल्प किया ।

विताने विरते सम्यग्विरिञ्चेन विसर्जितः ।
अयोध्यां रङ्गनिलयं ययौ ध्यायन् धरापतिः ।। २१ ।।

ब्रह्मा ने विधि के साथ यज्ञ की समाप्ति की इक्ष्वाकु राजा भी भगवान् रंगनाथ का ध्यान करता हुआ अयोध्या पुरी को चला आया ।। २१।।

अवाप्तुकामस्तं देवमरविन्दासनादसौ ।
तत्प्रसादफलाकांक्षी तपस्तेपे सुदुश्चरम् ।। २२ ।।

ब्रह्मा से रंगनाथ भगवान् मेरे हाथ आ जायें इस इच्छा से उन की प्रसन्नतारूप फल को चाहनेवाले इक्ष्वाकु ने घोर तपस्या की ।। २२।।

तत्तत्तपःप्रभावेन तं लब्ध्वा कुलदैवतम् ।
ईशं रङ्गपतिं साक्षादिक्ष्वाकुस्समामोदत ॥ २३ ॥

साक्षात् ईश्वर जो रंगनाथ भगवान् हैं, अपूर्व तप के प्रभाव से उन्हें कुलदेव प्राप्त कर इक्ष्वाकु परम प्रसन्न हुआ ॥ २३ ॥

इक्ष्वाकुप्रमुखैर्भूपैरिनवंश्यैः परः पुमान् ।
पंक्तिस्यन्दनपर्यन्तैरयोध्यायामपूज्यत ॥ २४ ॥

इक्ष्वाकु से लेकर दशरथ तक सूर्य के वंशधरों ने अयोध्यानगरी में भगवान् रंगनाथ का पूजन किया ॥ २४ ॥

रामेण स्वस्वरूपेण रावणप्राणहारिणा ।
विभीषणाय तद्रङ्गं प्रादायि सह लङ्कया ॥ २५ ॥

रावण को मारनेवाले रामचन्द्र भगवान् भी रंगनाथ के ही स्वरूप थे, उन्होंने विभीषण को लङ्का के राज्य के साथ रंगनाथ भगवान् को भी दे दिया ॥ २५ ॥

सैकते सह्यकन्यायाश्चन्द्रपुष्करिणीतटे ।
मध्येपद्धति तन्न्यस्तं रक्षसा नियमेषिणा ॥ २६ ॥

भक्त विभीषणजी कावेरी नदी की रेती में चन्द्रपुष्करिणी के किनारे लङ्का के मार्ग में भगवान् रंगनाथ को रख कर सन्ध्यावंदन आदि नित्यकर्म करने चले गये ॥ २६ ॥

निर्वृत्तनियमे तस्मिंस्तत्समुद्धर्तुमक्षमे ।
विषण्णे व्योमनीयं वागशरीरिण्यजृम्भत ॥ २७ ॥

सन्ध्यावन्दन आदि कर्मों से निवृत्त हो कर फिर रंगनाथ भगवान् को उठा कर लंका में ले जाना चाहा तो पूरा वल लगाने पर भी न उठा सके। अपनी यह दशा देख कर परम शोकित हुए विभीषण के लिए उसी समय आकाशवाणी हुई ॥ २७ ॥

मद्विमानापरिस्पन्दान्मा विषीद विभीषण ।
ममैषा सह्यजामध्यमही हृद्या महीयसी ॥ २८ ॥

हे विभीषण! मेरे विमान के न हिलने से तू शोक न कर। मुझे यह कावेरी की मध्यभूमि परम प्यारी लगती है ॥ २८॥

तपस्यां सफलीकर्तुमाद्रिये धर्मवर्मणः ।
नवतीर्थनिविष्टानामृषीणामपि तादृशीम् ॥ २९ ॥

धर्मवर्मा की तपस्या को सफल करने के लिए तथा वैसी ही नौ तीर्थों पर रहनेवाले ऋषियों की तपस्या को सफल करने के लिए मैं यहां रहना चाहता हूं ॥ २९॥

एतस्मिन् पुलिनाभोगे भोगे गन्धवहान्धसः ।
समीक्ष्य तावकीं लङ्कां शयेयं योगनिद्रया ॥ ३० ॥

कावेरी के इसी द्वीप पर मैं शेष के शरीर पर तेरी लङ्का को देखता हुआ योगमुद्रा में शयन करूंगा ॥ ३०॥

इति प्रस्थाप्य तं लङ्कां भक्तिप्रह्वं विभीषणम् ।
प्रशास्त्यद्यापि रङ्गेशो भुवनानि चतुर्दश ॥ ३१ ॥

परम भक्त विभीषण को इस प्रकार लङ्का में भेज कर अब भी श्रीरंगनाथ भगवान् चौदहों भुवनों का शासन कर रहे हैं ॥ ३१॥

चन्द्रपुष्करिणीतीरे चञ्चत्पुन्नागभूषिते ।
रङ्गधाम्नि वसन् विष्णुः सप्तावरणभूषिते ॥ ३२ ॥

चन्द्रपुष्करिणी के किनारे खिले हुए पुन्नाग के वृक्षों से सुहावने एवं सात परकोटों से विभूषित रंगधाम में रहते हुए रंगनाथ भगवान् ने—

कन्यां चोलेन्द्रसिंहस्य कमलां भूविहारिणीम् ।
उपयेमे स रङ्गेन्दुर्निचुलापुरवल्लरीम् ॥ ३३ ॥

चोलराज की लडकी के साथ विवाह किया जो भूमि पर बिचरने-वाली लक्ष्मी थी तथा निचुलापुररूपी वृक्ष की वल्लरी थी ॥ ३३॥

तत्परिग्रहतः प्राप भगवान् रङ्गनायकः ।
जगद्विमोहनो नाम्ना सौम्यजामातृनाथताम् ॥ ३४ ॥

उसके साथ विवाह कर लेनेके कारण, संसार को मोहित करनेवाले रंगनाथ भगवान् का नाम सौम्यजामातृनाथ पडा ॥ ३४॥

अष्टोत्तरशते धाम्नां विष्णो रङ्गं विशिष्यते ।
ग्रहेषु नवसु श्रेयान् नलिनीबान्धवो यथा ॥ ३५ ॥

जैसे नौ ग्रहों में कमल का प्यारा सूर्य विशेष महत्त्व रखता है उसी प्रकार विष्णु के १०८ धामों में श्री रंगधाम विशेष महत्त्व रखता है ॥ ३५॥

न केवलममुष्याज्ञा नाकिभिश्शिरसोह्यते ।
विहितार्चावताराणां देवानामपि मौलिभिः ॥ ३६ ॥

यह बात नहीं है कि इनकी आज्ञा का स्वर्गवासी देवता ही धारण करते हों किन्तु अन्य अर्चावतार भी इनकी आज्ञा को माथे पर चढाते हैं ॥ ३६ ॥

सप्तोत्तरशती विष्णुधाम्नां रङ्गपुरेशितुः ।
विहारोपवनाकारं विवृणोति समन्ततः ॥ ३७ ॥

बाकी विष्णु के एक सौ सात धाम तो रङ्गनाथ भगवान् के बिहार के उपवन के आकार को चारों ओर से प्रकट करते हैं यानी रङ्गधाम मुख्य है बाकी धाम भगवान् के वाग के समान है ॥ ३७॥

मुक्तभोग्यस्य करुणावरुणालयचक्षुषः ।
रङ्गिणो नाथनाथस्य महिमा वागगोचरः ॥ ३८ ॥

करुणा के अगाध समुद्र हैं नेत्र जिसके ऐसे रंगनाथ भगवान् जो स्वयं मुक्तों के भोग्य हैं इनकी महिमा वाणी से नहीं कही जा सकती ॥ ३८॥

इति सा तन्मुखाच्छ्रुत्वा गोदा रङ्गेशवैभवम् ।
पुष्यद्रागाऽभवत्तस्मिन् पूषणीवारविन्दिनी ॥ ३९ ॥

इस प्रकार गोदा रंगनाथ भगवान् के वैभव को पिता के मुंह से सुन कर रंगनाथ भगवान् में इस प्रकार अनुरक्त हुई जैसे सूर्य में कमलिनी अनुरक्त होती है ॥ ३९॥

नालीकनयना रङ्गनायकानुबुभूषया ।
अन्यभावान् जहाति स्म मन्यमाना तमाशये ॥ ४० ॥

कमलनयनी गोदा ने श्रीरङ्गनाथ को अपने अनुभवपथ में करने की इच्छा से हृदय में रंगनाथ का मनन करते हुए दूसरे भावों को छोड दिया ॥४०॥

ध्यायन्ती केशवं सा यत्तन्मयं जगदैक्षत ।
सर्वं विष्णुमयं विश्वमिति नासीत्प्रथा मुधा ॥ ४१ ॥

सब कुछ विष्णुमय है यह प्रथा झूठी नहीं थी, क्योंकि वह गोदा रङ्गनाथ भगवान् का ध्यान करती हुई सब कुछ रंगनाथमय देखने लगी ॥ ४१ ॥

गुरुं सविनयाऽवादीद् गोदा कौतूहलात्पुनः ।
कुलकन्याः प्रपद्येरन् कथं नाथमधोक्षजम् ॥ ४२ ॥

गोदा कौतुक से नम्रता के साथ फिर पिता से कहने लगी कि कुलकन्या किस तरह भगवान् को अपने पति के रूपमें प्राप्त कर सकती है ॥४२॥

इत्युक्तस्तनयामाह गुरुर्गोप्यस्स्मरातुराः ।
मार्गशीर्षव्रताचाराद्वल्लभं कृष्णमाप्नुवन् ॥ ४३ ॥

विष्णुचित्त ने उत्तर दिया कि काम से व्याकुल हुई गोपियों ने विधि के साथ मार्गशीर्ष का व्रत करके कृष्ण को पति के रूप में पा लिया था ॥४३॥

त्वमप्याचर तन्वङ्गि मार्गशीर्षे महद्व्रतम् ।
मुदितस्तेन भवतीं मुकुन्दोऽङ्गीकरिष्यति ।। ४४ ।।

हे पुत्रि! तू भी मार्गशीर्ष में इस वडे भारी व्रत का आचरण कर, जिसके प्रभाव से भगवान् प्रसन्न हो कर तेरा अङ्गीकार कर लेंगे ।।४४।।

इत्थं तातेन सन्दिष्टा गोदा गुरुवशंवदा ।
तद्व्रताचरणोपायं तर्कयामास मानसे ।। ४५ ।।

श्रीविष्णुचित्त ने गोदा को इस प्रकार समझाया । गोदा भी आज्ञा का पालन करनेवाली थी ही, अपने मन में मार्गशीर्ष के व्रत करने का उपाय सोचने लगी ।। ४५ ।।

गोपिकाभावमास्थाय तद्व्रतार्थप्रकाशकम् ।
प्रबन्धं प्राह सा गेयं त्रिंशद्गाथाभिरुज्वलम् ।। ४६ ।।

गोदा ने अपने आपको गोपी वना कर मार्गशीर्ष के व्रत के विधि-विधान आदि को दर्शानेवाला तीस गाथाओं का एक सुन्दर प्रवन्ध रचा जो भली भांति गाया जा सकता था ।। ४६ ।।

कामेन भूयसा भूयो गोदा चक्रे यथाश्रुतम् ।
गाथाद्विगुणसप्तत्या प्रबन्धं रसबन्धुरम् ।। ४७ ।।

इसके वाद गोदाने १४० गाथाओं का एक प्रवन्ध वनाया जैसा इसने पिता से सुना था वही पदार्थ रसीली गाथाओं के रूपमें इस में रख दिया था। इन गाथाओं के वनाने में गोदा को उत्कट इच्छाओं ने ही प्रेरित किया था और किसीने नहीं ।। ४७ ।।

कन्यया विष्णुचित्तस्य कलिताऽभूत्कृतिद्वयी ।
जन्यध्वखेदनोदाय जगदुज्जीवनाय च ।। ४८ ।।

विष्णुचित्त की कन्या गोदा ने ये दोनों रचनाएं ऐसी की जिनसे संसारतापों का नाश होता है और भवसन्तप्त संसारी जनों को उज्जीवन मिलता है बनाई भी इसी निमित्त से गई थी ।। ४८ ।।

अम्भोजनयना यत्नादनवाप्तमनोरथा ।
सङ्गे रङ्गेश्वरस्याशु बभूवोत्सुकमानसा ॥ ४९ ॥

कमलनयनी गोदा जब व्रत करने पर भी रङ्गनाथ भगवान् को न पा सकी तो रङ्गनाथ भगवान् के सङ्ग के लिये उसकी उत्सुकता बढने लगी ॥ ४९ ॥

कथं रङ्गपतिश्श्रीमान् मामकीं यौवनश्रियम् ।
दयालुरुररीकुर्यात् परिरम्भादिकर्मभिः ॥ ५० ॥

वह कौनसा उपाय होगा जिससे कि कृपालु रङ्गनाथ भगवान् मेरी इस युवावस्था की शोभासमृद्धि को अपने अविचल आलिंगन आदि के द्वारा स्वीकार करेंगे ॥ ५० ॥

इति चिन्तयमाना सा सुष्वाप कमलेक्षणा ।
स्वप्ने तमेव रङ्गेन्दुं यथावांछितमन्वभूत् ॥ ५१ ॥

एक दिन इस तरह विचार करती-करती सो गयी तो स्वप्न में रङ्गनाथ भगवान् उसे उसी तरह आकर मिले जैसा कि वह चाहती थी ॥ ५१ ॥

साक्षादनुभवन्तीव रमणी रङ्गनायकम् ।
प्रबुद्धा सहसैवासीद्विप्रयोगसमाकुला ॥ ५२ ॥

यह नहीं कि स्वप्न में स्वप्न की तरह रङ्गनाथ भगवान् का अनुभव किया हो किन्तु इस तरह अनुभव किया जैसे जाग्रत में किया करते हैं, जब जगी तो अकेली वियोगिनी ही रह गयी तथा इसे वियोग सताने लग गया ॥ ५२ ॥

तदात्व एव तन्वङ्गीं व्यधत्त विषमायुधः ।
विविधाशुगविक्षेपविह्वलीकृतचेतनाम् ॥ ५३ ॥

उसी समय कामदेव ने अपने तरह तरह के तीर चला कर दुबलीसी गोदा को व्याकुल कर डाला ॥ ५३ ॥

अरविन्ददृशोऽकस्मादकम्पत वपुर्लता ।
विषमायुधकोदण्डविस्फारश्रवणादिव ॥ ५४ ॥

कमलनयनी का पतलासा शरीर अचानक ही कांपने लग गया मानों कामदेव के धनुष की टंकार सुनने से कांप रहा हो ॥ ५४ ॥

प्रबोधमेत्य यद्गोदा नापश्यद्रङ्गनायकम् ।
तच्चित्तकुहरे तस्या लग्नो नूनमजायत ॥ ५५ ॥

ऐसा मलूम होता है कि गोदा के जागते ही रंगनाथ भगवान् उसके हृदय की गुफा में जा छिपे तव ही उसे जागने पर नहीं मिले यदि ऐसा नहीं तो वे कहां जाते तथा क्यों न मिलते ॥ ५५ ॥

आहारे न विहारे च हारादिपरिकर्मसु ।
बभूव विरहार्तायास्तस्याः किमपि कौतुकम् ॥ ५६ ॥

गोदा विरह से दुःखी थी अतएव भोजन विहार तथा वस्त्रादि धारण एवं हार आदि आभूषण धारण करने में उसकी रुचि नहीं थी ॥ ५६ ॥

अमृतांशुः करैर्नूनमसिताक्षीमबाधत ।
विधित्सुस्तन्मुखेन्दुश्रीविजितस्तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ५७ ॥

अमृतमय किरणोंवाला चन्द्रमा अपनी किरणों से इस प्रकार गोदा को सता रहा था मानो पहिले जो गोदा के मुखमण्डल ने चांदकी शोभा को जीत रखा था उसका वदला निकलना चाहता हो ॥ ५७ ॥

ततो गुरुजनाद्भीता विनेतुं विरहव्यथाम् ।
साकमालीजनैर्गोदा चम्पकाराममासदत् ॥ ५८ ॥

गोदा अपनी दशा वताने में माता पिता से डरती थी घर में विरह के दिन नहीं जाते थे इस कारण विरह का दुःख भुलाने के लिए सखियों के साथ चम्पकवन चली गई ॥ ५८ ॥

माकन्दसुषुमाकन्दं विकस्वरपिकस्वरम् ।
कङ्केलिजनकं केलिमत्कृताऽलिचमत्कृतिम् ॥ ५९ ॥

यह बाग मीठे मीठे सुहावने आमों की शोभा का मूलस्थान था, बडी बडी ऊंची स्वर से कोयलें कुहक रहीं थी, कंकेलि का तो पैदा ही करनेवाला था, इतने पर भी अठकेलियां करते हुए भौंरों की गुन्जारों ने एक अद्भुत चमत्कार फैला रखा था ॥ ५९ ॥

रसालतालहिन्तालकृतमालतमालिनम् ।
उदग्रपूगपुन्नागनागकेसरकेसरम् ॥ ६० ॥

आम ताल और हिंगोर के अनेकों ही वृक्ष इसमें थे ; तमाल तो माला की तरह चारों ओर से घेरे हुए थे ; बडे बडे अनेक ऊंचे-ऊंचे सुपारी के वृक्ष थे ; पुन्नाग नागकेसर और केसर के भी पौदे थे ॥६०॥

आसाद्य चम्पकारामम् आलीपरिषदावृता ।
अखिद्यत भृशं सुभ्रूरसह्यविरहव्यथा ॥ ६१ ॥

अच्छी भ्रुकुटिवाली गोदा सखियों के साथ ही साथ चम्पकवन में पहुंच कर दुस्सह विरह के अकथनीय दुःख से एकदम दुःखी हुई ॥६१॥

प्राप गोदा यदारामं वियोगज्वरशान्तये ।
प्रशमाय कृशानोस्तदभूत्प्राज्याज्यसेचनम् ॥ ६२ ॥

वियोगिनी गोदा वियोग का ज्वर शान्त करने के लिये जिस बाग को गयी थी वही बाग शान्ति के बदले वियोग की आग को प्रचण्ड करने में प्रभूत घी का काम कर गया ॥ ६२॥

गोदाया यद्वियोगाग्निर्दिदीपे मन्दवायुना ।
उदपादि ततो वायोरुषर्बुधसहायता ॥ ६३ ॥

गोदा के वियोग की अग्नि बाग की मन्द मन्द हवा से प्रज्वलित हो गयी तभी तो हवा सदा ही आगका सहायक कहलाता है । वियोगाग्नि

का भी वाग के वायु ने सहायता दी इस पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि इसी कारण वायु का नाम अग्नि-सहायक पडा है ॥ ६३॥

साम्प्रतं चन्दनारामः प्राप्तो यत्तदसाम्प्रतम् ।
अविज्ञानानया तन्व्या मन्मथं प्रसवायुधम् ॥ ६४ ॥

वियोग से दुःखी हो जो चन्दनवन में गयी थी वह इस समय करना नहीं चाहिये था। भोली गोदा को यह पता नहीं था कि कामदेव फूलों के ही तीर चलाता है ॥ ६४॥

बाला च मारवीरास्त्रशालामारामवाटिकाम् ।
कोलाहलं कोकिलानां हालाहलममन्यत ॥ ६५ ॥

पुष्पवाटिका को बालिका गोदा ने विश्वविजयी कामदेव की अस्त्रशाला समझा और इसमें होनेवाले कोयलों के कोलाहल को उसके विष माना ॥ ६५॥

मन्दादपि मरुत्पोतस्पन्दात्साऽऽपदलं व्यथाम् ।
मन्दारकलिकाशीधुस्यन्दाहरणतुन्दिलात् ॥ ६६ ॥

छोटे से हवा के झोके से गोदा को अत्यन्त क्लेश होता था क्यों कि वो झोखा मन्दार वृक्ष की कलियों के रसके कणों के मिलने से पूर्णपरिपुष्ट हो रहा था ॥ ६६॥

कृशेन वपुषा तस्याः कृतं विरहपाण्डुना ।
प्रतिपद्रजनीनाथकलाकेलिविडम्बनम् ॥ ६७ ॥

दुस्सह विरहवेदना से पीले पडे हुए गोदा का शरीर प्रतिपदा के चांद की कलाओं का सदृश बना। यह वियोगिनी गोदा की दशा थी ॥ ६७॥

गोदाया विष्णुविश्लेषवेदनानोदनैषिणी ।
कस्यापि भुवि विप्रस्य कन्याभावमवाप या ॥ ६८ ॥

इत्थमुत्तप्यमानां तां सा कृशाङ्गीमभाषत ।
अनुग्रहाख्या मुरजिच्चामरग्राहिणी सखी ॥ ६९ ॥

गोदा की वियोगव्यथा को हरने की इच्छा रखनेवाली जो भूमण्डलपर किसी ब्राह्मण की लडकी बन कर अवतीर्ण हुई थी वही भगवान् के चमर को ग्रहण करनेवाली अनुग्रहा सखी इस प्रकार वियोग से जली हुई दुबली पतली उस गोदा से बोली ॥ ६८, ६९ ॥

श्रुणोमि त्वमपि स्नेहाद्यदि सत्यमभाषथाः ।
किं न पृच्छति वृत्तान्तं समदुःखसुखो जनः ॥ ७० ॥

कि हे गोदा! जो तू प्रेम से अपनी सच्ची-सच्ची बातें कहे तो मैं सुनने के लिये तैयार हूं, जो अपने प्रेमी के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है वह सब हाल पूछता है तथा उससे कुछ छिपाया भी नहीं जाता ॥ ७० ॥

चिन्ता मनसि जार्गात सन्तापः कोऽपि वर्ष्मणि ।
त्वं तावत् कथयस्वाऽलि रन्ता कस्तव वर्तते ॥ ७१ ॥

तुम्हारे मन में कुछ चिन्ता जाग रही है, शरीर में अवश्य कोई न कोई सन्ताप है। ए सखी! वता तो सही तेरा प्रेमी कौन है जिसके वियोगमें तेरी यह दशा हुई है ॥ ७१ ॥

भवद्वपुषि लावण्यशेषः किं कृशिमोदयः ।
तल्पे किसलयानल्पे शेषे किं वरवर्णिनि ॥ ७२ ॥

आप इतनी दुबली हो गयी हैं कि आप के शरीर में लावण्य को छोड और कुछ शेष ही नहीं रहा है और फिर आप वहुत से पल्लवों की शय्या पर क्यों सो रही है ॥ ७२ ॥

मन्दोदरैर्गन्धवहैरिन्दोरपि करोत्करैः ।
कन्तोस्तव कथं बाणसन्दोहैः कम्पते मनः ॥ ७३ ॥

मन्द-मन्द हवा के झोकों से तथा चांद की किरणों से एवं कामदेव के बाणों की निरन्तर वर्षा से तेरा मन क्यों कांप रहा है ॥ ७३ ॥

साकं सखीजनैस्तन्वि वञ्चयित्वा गुरूनपि ।
धन्यः को वा युवाऽध्यास्ते तावकं रमयन् मनः ॥ ७४ ॥

तेरे संग की हमझोलियों से तथा माता पिता से भी छिप कर तुझे रमा कर तेरे मन में छिपा बैठा है वह युवा धन्य है पर वह है कौन? ॥ ७४ ॥

इति सख्याऽनुग्रहया पृष्टा गोदा ह्रियाऽवदत् ।
अन्यो नारायणान्नास्ते धन्यो रमयिता हृदि ॥ ७५ ॥

गोदा इस प्रकार अनुग्रहा सखी के पूछने पर कुछ लज्जित हो कर बोली कि नारायण को छोड दूसरा कोई धन्य पुरुप मेरे हृदय में बैठ कर रमण करनेवाला नहीं है ॥ ७५ ॥

चित्तं तदीयमधुना सक्तं श्रीपुरुषोत्तमे ।
जानन्ती मधुरं गोदां प्रत्यवोचदनुग्रहा ॥ ७६ ॥

अनुग्रहा पहिले से ही यह जानती थी कि रंगनाथ भगवान् में गोदा का चित्त आसक्त है; इस कारण अत्यन्त ललित वाणी से बोली ॥ ७६ ॥

सत्यमात्थ मयाऽज्ञायि गोदे कस्ते मनोहरः ।
आलिख्यन्ते मया पटयां हरयोऽर्चावतारिणः ॥ ७७ ॥

हे गोदे! तूने सत्य कहा है पर यह तो बता कि वह कौन स्वरूप है? मैं पट पर अर्चावतारी भगवानों के चित्र खींचती हूं; तू सावधानी के साथ देख; उन्हींमें तेरा मनमोहन मिल जायगा ॥ ७७ ॥

इत्यनुग्रहया सख्या पटे सम्यक् प्रदर्शिते ।
आलोक्य गोदा रङ्गेशं व्रीडयाऽऽसीदवाङ्मुखी ॥ ७८ ॥

इस प्रकार सखी अनुग्रहा ने सब अर्चावतारों के चित्र खींच कर दिखा दिये ; तब रङ्गनाथ को देखते ही गोदाने लज्जा के मारे नीचा मुंह कर लिया ॥ ७८ ॥

मनोज्ञं रङ्गधामानं मत्वा तच्चित्तहारिणम् ।
अपत्रपानतमुखीमाह गोदामनुग्रहा ॥ ७९ ॥

अनुग्रहा का निश्चय और भी दृढ हो गया कि यह रंगनाथ पर आसक्त है इसका चित्तचोर रङ्गनाथ ही है, उस समय लज्जा से नीचे को मुंह किये हुए बैठी गोदा से अनुग्रहा कहने लगी ॥ ७९ ॥

यदि विश्वसनीयाऽहं यद्यास्ते मय्यनुग्रहः ।
कथयस्व यथावृत्तं गोप्तुं मामालि नार्हसि ॥ ८० ॥

जो मुझ पर तेरा विश्वास हो या मुझ पर तेरा प्रेम हो तो मुझे जो बात जैसे हुई हो वैसे ही सुना दे, मुझ से कुछ भी छिपाना न चाहिये ॥ ८० ॥

भावबन्धोऽस्ति चेत्प्रौढस्तव श्रीरङ्गधामनि ।
अचिरादेव तं देवमानेष्यामि त्वदन्तिकम् ॥ ८१ ॥

यदि रङ्गनाथ भगवान् से तेरा उत्कट प्रेम है तो मैं बहुत ही शीघ्र उस देव को तेरे पास ला दूंगी ॥ ८१ ॥

इति कर्णामृतं सख्याश्श्रुत्वा वाक्यं सुलोचना ।
हारं मन्दस्मितव्याजादर्पयन्तीव साऽवदत् ॥ ८२ ॥

सुनयनी गोदा को सखी के ये वाक्य ऐसे मालूम हुए मानो कानों में अमृत डाल दिया हो, बदले में मन्दहास किया यह ऐसा लगता था मानो खुशखबरी में हार भेट कर रही हो ; और अनुग्रहा से बोलीकि ॥ ८२ ॥

यत्त्रातुं हरिविरहव्यथाकुलां मां
प्रायस्त्वं प्रियसखि भूतलेऽवतीर्णा ।
तज्जाने मदभिमतार्थयोजनायां
तज्जायां तव करवर्ति जीवितं मे ॥ ८३ ॥

हे सखि ! मुझे ऐसा मालूम होता है कि भगवान् के वियोग से घबराई हुई मुझे बचाने के लिये ही तूने भूमि पर अवतार लिया है ; मैं अपनी इष्टसिद्धि की योजना में तुझे श्री लक्ष्मी समझती हूं और तो क्या तेरे हाथों ही मेरा जीवन है ; मुझे बचा ॥ ८३ ॥

प्रत्यक्षं कलयसि मामकीमवस्थां
जानीषे सखि समयोचितं वचश्च ।
रङ्गेन्दोः कथय यथावदित्यमन्दं
सन्दिष्टोदचलदनुग्रहा प्रणम्य ॥ ८४ ॥

तू मेरी दशा अपनी आखों से देख रही है एवं तू समयोचित बोलना भी जानती है ; अतः मेरी सब दशा रङ्गनाथ भगवान् को शीघ्र ही जाकर सुना दे । यह सुन कर अनुग्रहा ने प्रणाम किया और रङ्गनाथ भगवान् के पास चली गयी ॥ ८४ ॥

दशमस्सर्गः समाप्तः ।

———

एकादशस्सर्गः

रङ्गभूपतिरथैकदा रणद्भृङ्गकोकिलकदम्बसंकुलम् ।
प्राप पुष्पसमयोत्सवोचितं बाह्यकेलिवनमध्यमण्डपम् ॥ १ ॥

जो भौंरों की गुंजार से गूंज रहा था, कोयलों की अनेकों झुण्ड मीठी कूक लगा रही थी वह बाग बाहिर था तथा विहार के काम में ही आया करता था। उसी बाग के बीच में एक सुन्दर मण्डप बना हुआ था जो वसन्तोत्सव मनाने के लिये सर्वथा उचित था, एक दिन श्रीरङ्गनाथ भगवान् इसी मण्डप पर आ पहुंचे ॥ १ ॥

तत्र मध्यदिवसोचिताः क्रियास्तादृशीरसदृशीस्समाप्य सः ।
रङ्गभूपतिरुपह्वरेऽवसत्सान्तरङ्गपरिमेयकिङ्करः ॥ २ ॥

यहीं रङ्गनाथ भगवान् ने मध्याह्नकाल की विशिष्ट क्रियाओं को पूरा किया; पीछे कुछ अन्तरङ्ग सेवकों के साथ एकान्त में विराजमान हुए ॥ २ ॥

वातपोतपरिधूतमाधवीचूतचम्पकनमेरुमेदुरम् ।
तत्र कन्दलितपुष्पसायकं पश्यतिस्म स वसन्तवैभवम् ॥ ३ ॥

केलिवन में वसन्त छाया हुआ था। हवा की छोटीसी लहर से माधबीलताएं कांप रही थीं। आम की टहनियां हिल रही थीं। चम्पक हिल रही थीं। क्यों कि ये परम कोमल होती है, जरासा हवा का झोंका पडना ही इनके लिये काफी होता है। यह वसन्तवैभव कामं को पुष्ट कर रहा था ॥ ३ ॥

तत्र सर्वसुमनोमनोहरं शोभमानवनमालिकाञ्चितम् ।
पञ्चबाणजनकं जनार्दनः स्वं यथा परमबोधि माधवम् ॥ ४ ॥

श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने अपने ही सदृश माधवमास अर्थात् वैशाख महिने को भी देखा क्यों कि जैसे स्वयं रङ्गनाथजी सुमनों यानी देवताओं के मन हरने वाले हैं। माधवमास भी सुमनों से यानी फूलों से मनोहर हैं। जैसे श्रीरङ्गजी वनमाला पहने शोभमान है वैसे ही यह माधवमास भी वनों की पंक्तियों से शोभायमान है, जैसे श्रीरङ्गनाथजी कामदेव यानी प्रद्युम्न के जनक हैं वैसे ही यह माधवमास भी कामजनक है और फिर उनके ही समान इसका भी नाम माधव है ॥ ४ ॥

मन्दमारुतरथास्थितस्तदा मत्तकोकिलमनोज्ञकाहलः ।
मन्मथस्सह वसन्तमन्त्रिणा माधवस्य पुरतोऽवसन्मुदा ॥ ५ ॥

उस समय कामदेव मन्दमारुतरूपी रथ पर बैठा हुआ मदोन्मत्त कोकिलों की कूक से सुन्दर काहली वजवाता हुआ वसन्तमन्त्री के साथ आनन्द से रङ्गनाथ भगवान् के आगे आ गया ॥ ५ ॥

चिन्तयन् किमपि वञ्चिताशयः पञ्चभिश्शफरकेतुहेतिभिः ।
आस्त दुस्सहवियोगवेदनाक्लान्तमूर्तिररविन्दलोचनः ॥ ६ ॥

कुछ सोचते हुए कमलनयन रङ्गनाथ भगवान् ऐसे मालूम होते थे कि काम ने इसका हृदय ठग लिया है। कामदेव ने अपने पांचों तीर चला दिये हैं। दुस्सह वियोग के दुःख से शरीर मुरझाया हुआ था ॥ ६ ॥

प्राप्य केलिविपिनं तिरोहिता कुत्रचित् व्रततिमन्दिरान्तरे ।
विष्णुचित्ततनयाप्तदूतिका रङ्गराजसमयं व्यलोकत ॥ ७ ॥

विष्णुचित्त की लडकी गोदा की सुयोग्य दूती जो अनुग्रहा थी, वह रङ्गनाथ के केलिवन में पहुंच कर किसी लतागृह में छिप कर उनके पास पहुंचने का मौका देखने लगी ॥ ७ ॥

सव्यथं प्रसवबालपल्लवप्रस्तरोदरलुठत्कलेवरम् ।
रङ्गनायकमवेक्ष्य तादृशं मानसे किमपि सा व्यशङ्कत ॥ ८ ॥

उस समय रङ्गनाथ भगवान् फूल और कोमल पल्लवों के बिस्तरे पर दुःख के साथ करवटें बदल रहे थे। ऐसे रङ्गनाथ भगवान् को देखकर अनुग्रहा के मनमें शङ्का उत्पन्न हुई ॥ ८॥

विप्रयोगशिखितापविह्वलं पुष्पतल्पपतितं मुहुर्मुहुः ।
याति मर्दिततमालपल्लवप्रौढिमस्य किमिदं कृशं वपुः ॥ ९ ॥

वियोग की आग की जलन से व्याकुल हैं इस कारण फूलों की सेज पर बारंबार करवटें लेते हैं। शरीर इतना दुबला हो गया है कि वह भी मसले हुए तमाल के पल्लव की शोभा को धारण किये हुए हैं, इनका शरीर इतना कृश क्यों है? ॥ ९॥

चिन्तयत्किमपि चित्तमादरान्निर्निमेषनिभृते च लोचने ।
वक्त्रमुत्पुलकगन्धमङ्गकं स्विन्नमस्य पुनरात्तसाध्वसम् ॥ १० ॥

प्रेम से इनका मन किसीका स्मरण कर रहा है, आखें निर्निमेष कर अपने लक्ष्य पर ठहरी हुई मालूम होती है, चेहरे पर पुलक झलक रहा है, शरीर पर पसीना आया हुआ है एवं कुछ कंपकंपी मालूम होती है ॥ १०॥

आत्तसात्त्विकविकारचारुणा मानसे ध्रुवमनेन रङ्गिणा ।
काचन प्रियतमाऽनुभूयते मामकी किमु सखी पराऽथवा ॥ ११ ॥

ये रङ्गनाथ भगवान् सात्विक विकार से सुन्दर लग रहे हैं, इससे यह निश्चय होता है कि मन में किसी प्यारी का अनुभव कर रहे हैं क्या मेरी सखी है या और कोई है? ॥ ११॥

अस्य भावमवगम्य तत्त्वतः तादृशं प्रियसखीवचस्ततः ।
तद्दशामपि निवेदयेयमित्याप सन्निधिमनुग्रहा हरेः ॥ १२ ॥

पहले मैं यथार्थरूप से इनके आशय को मालूम कर लूँ इसके बाद अपनी सखी का सन्देश तथा दशा को सुनाऊं। ऐसा सोचकर भगवान् के समीप उपस्थित हो गयी ॥ १२॥

विष्णुचित्ततनयानियोगतो धन्विनूतनपुरादिहागता ।
इत्युदीर्य विनयेन रङ्गिणः प्राणमच्चरणयोरनुग्रहा ॥ १३ ॥

मैं श्रीविष्णुचित्त की लडकी की आज्ञा से धन्विनवपुर से यहां आई हूं, अनुग्रहा ने ऐसा कह कर नम्रता के साथ श्रीरङ्गनाथ भगवान् के चरणों में प्रणाम किया ॥ १३ ॥

तन्निशम्य वचनं तदा हरिस्सुभ्रुवश्श्रुतिपुटाद्भुतामृतम् ।
उत्थितः कुसुमकेलिसंस्तरादास्त मन्दमहिपत्यपाश्रयः ॥ १४ ॥

भगवान् रङ्गनाथ को यह वचन ऐसा मालूम हुआ मानों कानों की राह से अमृत ढाल दिया गया हो। सुनते ही फूलों के सेज से उठे और शेषभगवान् के सहारे बैठ गये ॥ १४ ॥

अद्य दक्षिणविलोचनाञ्चलस्पन्दनं सफलमित्यनुस्मरन् ।
तामवोचदथ गोदया समं विष्णुचित्तसुमतिस्सुखी किमु ॥ १५ ॥

मन में सोचने लगे कि मेरी जो दाहिनी आंख फडकती थी वह अब सफल हो गयी। पीछे अनुग्रहा से पूछने लगे कि गोदा–समेत सुमति विष्णुचित्त सुखी है न? ॥ १५ ॥

भट्टनाथदुहितुस्त्वमन्तिकादागता मम विषण्णमाशयम् ।
नन्दयस्यनुपमाङ्गि साम्प्रतं तादृगागमनकारणं वद ॥ १६ ॥

ए सुन्दरी अनुग्रहे! तू विष्णुचित्त को लडकी के पास से आकर इस समय मेरे दुःखी हृदय को आनन्द दे रही है, सो तू बता कि तेरे आगमन का ऐसा क्या कारण है, जिस तेरे आगमन से मुझे सुख हो रहा है ॥ १६ ॥

रङ्गिणैवमनुरागिणेरिता सा बभाण सह गोदया सुखी ।
देव तावकदयाविशेषतो विष्णुचित्तसुमतिः समेधते ॥ १७ ॥

प्रेमी श्रीरङ्गजी ने अनुग्रहा से इस प्रकार पूछा तो वह बोली कि हे देव! आपकी उन पर अच्छी दया है, उसीसे गोदा समेत सुमति विष्णुचित्तजी सब प्रकार सुखी हैं ॥ १७ ॥

स्वालकोदरनिवासवासितां प्राभृतं प्रणतिभिस्सहस्रजम् ।
प्राहिणोदथ च सन्दिदेश सा मन्मुखात् प्रणयनिर्भरं वचः ॥ १८ ॥

आप के लिए अनेक प्रणाम कहते हुए यह परमसुगन्धित माला दी है। पहले तो इसमें फूल ही परमसुगन्धित लगाये थे, दूसरे अपने सिर के वालों में रख कर इसे और भी परमसुगन्धित कर दिया है। इसे लीजिये, इसके साथ कुछ प्रेम का भरा हुआ संवाद भी कहला भेजा है, वह भी सुनिये ॥ १८॥

एकदा निशि विहारसंस्तरे यस्त्वयाऽक्रियत सङ्गमोत्सवः ।
सोऽद्य नाल्पदिवसैर्व्यथामयो रङ्गनायक मयाऽनुभूयते ॥ १९ ॥

हे रंगनाथ भगवन्! एक दिन रातको जो आपने मेरी विहार की शय्या पर सङ्गम का उत्सव किया था वह इस समय मुझे बहुत दिनों से दुःखदायी हो रहा है ॥ १९॥

त्वद्वियोगजनितोग्रवेदनानोदनाय सहसा सखीजनैः ।
कल्पितप्रसवतल्पशायिनी चम्पकोपवनसीम्नि ताम्यति ॥ २० ॥

आपके वियोग से पैदा हुई तीव्र वेदना को दूर करने के लिये सखीजनों को साथ ले बिना सोचे विचारे चम्पकवन को चली गयी। वहीं फूलोंकी सेज बिछवा कर उस पर पडी सन्तप्त हो रही है ॥ २०॥

या सरोजनयना शुचिस्मिता वासवेभपतिमस्तकस्तनी ।
वल्लकीस्वनमनोज्ञभाषिणी फुल्लपद्मरुचिधूर्वहानना ॥ २१ ॥

जो कमलनयनी थी जिसका मन्दमुसकान बडा ही शोभायमान लगता था, जिसके स्तन ऐरावत के माथे के समान शोभित होते थे, जिसकी कण्ठध्वनि सितार के स्वर से भी मीठी थी, जिस के खिले हुए मुख-कमल के सामने विकसित हुआ सहस्रारविन्द भीत होता था ॥ २१॥

या प्रसृत्वरविशालभास्वरस्फारवीक्षणपुरस्कृतस्मरा ।
सान्द्रयौवनविधूदयोल्लसत्कान्तिसिन्धुजलजाभकन्धरा ॥ २२ ॥

जिसके चारों ओर फैलनेवाले तथा खूब देदीप्यमान सघन दृष्टि पात के आगे कामदेव खडा रहा करता था, जिसकी गरदन यौवनरूपी चांद के सघन उदय से उमडे हुए सुन्दरता के समुद्र में उत्पन्न हुए शंख के समान थी ॥ २२॥

या स्मरस्य महिमाब्धिचन्द्रिका चक्षुषोरमृतवर्तिका नृणाम् ।
अङ्गनानिवहशिल्पकल्पनानैपुणीसफलता स्वयंभुवः ॥ २३ ॥

जो कामदेव की महिमा के समुद्र की चान्दनी थी, मनुष्यों के नेत्रों के लिए अमृत की सलाई थी तथा यह वात भी वह बताती थी कि स्त्रियों को बनाते-वनाते ब्रह्मा स्त्री की रचना में कहां तक सफल हुआ ॥ २३ ॥

साऽद्य बाष्पसलिलाविलेक्षणा स्वान्ततान्तिविगतस्मितांकुरा ।
दुस्सहा लघुवियोगपावकज्वालदग्धकुचहारमौक्तिका ॥ २४ ॥

इस समय उसकी आखें आंसुओं के पानी से गदली हो रही हैं, हृदय में सदा ही ग्लानि बनी रहती है, जिससे होठों पर मन्दमुसकान कभी आती ही नहीं । थोडे दिन का हो तो वात दूसरी थी इतने भारी आपके वियोग को नहीं सह सक रही है, इस वियोगरूपी आग की ज्वालाएं सदा ही उसके हृदय में दहका करती हैं जिससे कुचों पर पडे रहनेवाले हार के मोती भी जल कर भस्म हो गये हैं ॥ २४॥

उत्कहंसरवगद्गदस्वरा दुश्शकश्वसितदूषिताननना ।
कामभूपतिनिशातसायकस्तोमनिर्घृणनिखातविग्रहा ॥ २५ ॥

उत्कण्ठित हंस के शब्द के समान उसका गद्गदस्वर हो गया है, हृदय से इतनी दीर्घ उष्णश्वास निकलती हैं जिससे इकवारगी ही चेहरा वदल गया है, राजा काम ने अपने वहुत से पैने तीरों से निर्दयता के साथ उसके शरीर को गोद रखा है ॥ २५॥

विप्रयोगशिखितापशोषतो बुद्बुदामलमृणालभूषणा ।
देव तावकपदाम्बुजेप्सया प्रासवैः प्रहरमाणमायुधैः ।
प्राञ्जलिः प्रणयपूर्वया गिरा याचते मम सखी मनोभुवम् ।। २६ ।।

आपके वियोगरूपी अग्निकी तपन से सूख गई है, अतएव ताप की शान्ति के लिए जो मृणाल का भूषण पहने हुए हैं, उसमें भी फफोले उठ आये हैं ।

हे देव! जो कामदेव फूलों के तीरों को गोदा पर वर्षाता है गोदा आपके चरण पाने की इच्छा से उसी काम से हाथ जोड कर नम्रता पूर्वक आपके चरणों का समागम मांगती है ।। २६ ।।

नाथ कौसुमपरागमण्डलैः केलिवेश्म विरचय्य मे सखी ।
तद्विलोपविधयेऽभिवाञ्छते त्वत्समागममुदारविभ्रमा ।। २७ ।।

हे नाथ! बहुतसी फूलों की धूलि इकट्ठी करके उससे मेरी सखी लीला घर वनाती है। फिर वह धूलि मिटाने के लिए आपका समागम चाहती है ।। २७ ।।

यां पुरा समवलम्ब्य भावनां त्वां ययुर्यदुधुरीणगोपिकाः ।
तां तदाकृतिमपि प्रपद्य सा त्वत्पदाब्जमधुना युयुक्षते ।। २८ ।।

हे कृष्ण ! पहले जिस भावना का अवलम्व लेकर गोपियां तुझे प्राप्त हुई थीं, इस समय गोदा भी उसी भावना के साथ स्वयं गोपी वन कर आपके चरणकमलों से संयुक्त होने की इच्छा करती है ।

तत्र कुन्दतरुशृङ्गसङ्गतं त्वां विभाव्य भगवन् सरस्तटे ।
अञ्जलिं शिरसि सा निबध्नती याचते त्वदपनीतमंशुकम् ।। २९ ।।

तलाव के किनारे आप को कदम के वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ मान कर हाथ जोडती हुई दोनों हाथों को ऊपर करके अपने उठाये हुए वस्त्रों को आप से मांग रही है।। २९ ।।

तत्र सास्रनयना कथञ्चन त्वत्समागममहोत्सवोत्सुका ।
मौक्तिकेन विरचय्य मण्डलं सङ्गमाख्यशकुनं निरीक्षते ॥ ३० ॥

वहां कभी कभी आपके समागम के उत्सव की बाट जोहती हुई आंखों में आंसू भर कर किसी तरह मुक्ताओं का मण्डल बना कर सङ्गम नामक शकुन देखती है ॥ ३० ॥

वक्ति सा प्रति वनप्रियान् प्रियस्यागमार्थमिह कूजतोऽद्य मे ।
सत्फलान्युपहराम्यतो वनादन्यथा यदि विवासयेय वः ॥ ३१ ॥

वन में जाकर कोयलों से कहती है कि जो मेरे प्यारे के आने के लिए कूजती हो तो अच्छे-अच्छे फल खिलाऊंगी ; नहीं तो इन वनों से तुम सबको निकाल बाहर करूंगी ॥ ३१ ॥

अन्वभाविषत तत्र सुप्तया गोदया तव करग्रहक्रियाः ।
कौतुकग्रथनलाजमोचनग्रावपादविनिवेशनादयः ॥ ३२ ॥

गोदा ने स्वप्न में आप के साथ पाणिग्रहण संस्कार का अनुभव किया था। उसे कङ्कणबन्धन, लाजहवन, सप्तपदी तथा शिला के ऊपर पांव रखना आदि सब का अनुभव उसी स्वप्न में हुआ था ॥ ३२ ॥

सेक्ष्य हंसमधिवापि कौतुकात्पाञ्चजन्यमनसा तु पृच्छते ।
पद्मगन्धि घनसारगन्धि वा स्वादु किञ्च महितं प्रियाननम् ॥ ३३ ॥

बावली में हंसको देख उसे पाञ्चजन्य मानकर उससे पूछती है कि हे पाञ्चजन्य ! प्यारे के सुन्दर मुंह से कमलों कीसी सुगन्ध निकलती है या भीमसेनीकपूर की सुगन्धि निकलती है, तुम्हें प्यारा क्या लगता है ॥ ३३

अम्बुवाहनिकुरुम्बमम्बरे वीक्ष्य देव तव कान्तिसुन्दरम् ।
हन्त संदिशति जातकौतुका स्वां दशां कथयितुं तवाग्रतः ॥ ३४ ॥

जब आकाश में मेघमाला थिरकता है जो देखने में आपके शरीर की शोभा के समान प्रतीत है, तब और तो क्या उसके आगे अपनी

दशा कहने लग जाती है कि इस मेरी दशा को भगवान् रङ्गनाथ से जाकर कहना ॥ ३४ ॥

रङ्गिकेल्युपवनेषु वेङ्कटाराममभूधरमुखेषु धामसु ।
मां वियोगपरिदूनमानसां न्यस्यतेत्यभिदधाति सा सखीः ॥ ३५ ॥

वियोग से तपी हुई मुझे रङ्गनाथ के खेल के उपवनों में तथा वेङ्कटेश भगवान् के उपवन के पहाड आदि धामों में रख दो। मेरी सखी गोदा अपनी सखियों से इस प्रकार कहती है ॥ ३५ ॥

कम्बुना निजकराग्रवर्तिना रङ्गराडपरितृप्तमानसः ।
मामकञ्च करकम्बुमीहते यद्युपैतु मम गोचरं दृशोः ॥ ३६ ॥

जो अपने हाथमें रहनेवाले कम्बु (शंख) से तृप्त न हो कर रङ्गनाथ भगवान् मेरा करकम्बु (वलय) चाहते हों तो वे मेरे नेत्रों के सामने आ जाय। वलय कडूला या कङ्कण तथा शंख ये कम्बुके अर्थ होते हैं ॥ ३६ ॥

सागरावृतधरात्रिविष्टपत्राणशासनकलापरायणः ।
अद्य रङ्गधनिकस्स मामकात् कङ्कणं कथमपाहरत् करात् ॥ ३७ ॥

समुद्रों से घिरी हुई भूमि तथा स्वर्ग की रक्षा के शासन में लगे हुए धनी रङ्गनाथ इस समय मेरे हाथ से कङ्कण को क्यों ले गये? ॥ ३७ ॥

वामनत्वमधिगम्य रङ्गराट् कङ्कणं बलिकराद्यदग्रहीत् ।
अप्रभूतमिति तद्विचिन्तयन्याचतेऽद्य मम पाणिकङ्कणम् ॥ ३८ ॥

जो श्रीरङ्गभगवान् ने वामनावतार लेकर बलि के हाथ से कङ्कण (जलबिंदु) लिया था उसे अपर्याप्त समझ कर इस समय वह मेरे हाथ का कङ्कण मांगते हैं ॥ ३८ ॥

राघवो जनकनन्दिनीकृते बद्धसिन्धुरमिहत्य राक्षसान् ।
तामलब्ध पुनरीदृशः कथं नास्मरन्मम स रङ्गनायकः ॥ ३९ ॥

जव वह रङ्गनाथ रामचन्द्र बने थे उस समय सीता के लिये समुद्र बांध कर राक्षसों को मार कर उसे प्राप्त किया था। फिर वे ऐसे होकर मेरा क्यों स्मरण नहीं करते? ॥ ३९ ॥

मज्जतीं प्रलयसागरे भुवं यस्समेत्य च निकृष्टदंष्ट्रिताम् ।
रक्षतिस्म समुदञ्चच सोऽद्य मां शोकसागरगतां न मन्यते ॥ ४० ॥

जिस ने प्रलय के समुद्र में डूवती हुई भूमि को वाराहरूप धर कर दातों से उठा कर वचाया था जो वराह सवमें निकृष्ट गिना जाता है, क्या वह इस समय शोकसमुद्रमें डूवी हुई मुझे नही जानते। (मैं वही हूं जो समुद्रमें डूवती हुई वचायी गयी थो) ॥ ४० ॥

उद्विपक्षशिशुपालसन्निधौ रुक्मिणीमपहरन्पुरा बलात् ।
कामिनीषु सघृणोऽपि मां कथं रङ्गभूपतिरसावुपेक्षते ॥ ४१ ॥

जिसने पहले वडे सवल वैरी शिशुपाल के सामने वलपूर्वक रुक्मिणी का हरण किया था, जो स्त्रियों के विषय में स्वभाव से ही दयालु हैं वे रङ्गनाथ इस समय मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? ॥ ४१ ॥

दन्तिगौतमवधूविभीषणद्रौपदीप्रभृतिदीनरक्षिणः ।
रङ्गनेतुरमलं यशो मया दीनयाऽद्य मलिनीकरिष्यते ॥ ४२ ॥

ऐसा मालूम होता है कि गजेन्द्र, अहल्या, विभीषण, द्रौपदी आदि दीनों की रक्षा करनेवाले रङ्गनाथ के निर्मल यश को मैं दीना इस समय मलिन करूंगी। यानी जव वह मुझे न वचायेंगे तो उनके दीन बन्धुपने में वट्टा आयेगा ॥ ४२ ॥

यत्त्वदीयविरहे न जीवितुं शक्नुयां कथमपीत्युदीर्य च ।
नास्मरन्मम चिरं स रङ्गराट् तद्द्विजिह्वशयनीयसंस्तरात् ॥

मैं तेरे वियोग में किसी तरह न जी सकूंगा, ऐसा कहनेवाले आज हमारा स्मरण भी नहीं करते हैं। मैं समझती हूं कि उनका ऐसा कह

कर फिर वदल जाना दो जीभवाले सांपकी शय्या पर सोने के कारण हुआ ॥ ४३ ॥

इत्युदीर्य वचसां निबन्धनं देव सा त्वदनुरागसूचकम् ।
रङ्गराज भवदंघ्रिलिप्सया कण्ठवर्ति न जहाति जीवितम् ॥ ४४ ॥

हे देव ! आप के विषय में प्रेम वतानेवाले ऐसे वचन कह कर कण्ठ तक आये हुए प्राणों को आपके चरण पाने की लालसा से वह नहीं छोडती ॥ ४४ ॥

तन्निशम्य वचनं तयोदितं तद्दशाप्रणयभङ्गिसूचकम् ।
खेदमोदविवशीकृताशयः प्रत्युवाच भगवाननुग्रहाम् ॥ ४५ ॥

गोदा की दशा और उनके प्रेम की तरङ्गों को वतानेवाले अनुग्रहा के वचन सुन कर श्रीरङ्गनाथ भगवान् प्रेम कहानी से आनन्द तथा कष्ट से विवश हृदय हो कर अनुग्रहा से कहने लगे कि ॥ ४५ ॥

पञ्चभिः प्रसवसायकैस्स्मरा मां त्वदालिहृदये न केवलम् ।
अत्र च प्रहरतीति यत्ततस्त्वत्सखीद्विगुणितैव मे व्यथा ॥ ४६ ॥

हे अनुग्रहे! कामदेव मुझे दो स्थानों में अपने पांचों पुष्पवाणों से प्रहार करता है, एक तो तुम्हारी सखी के हृदय में बैठे हुए और दूसरे यहां, इससे तेरी सखी से मुझपर दूना प्रहार हो रहा है, किन्तु तुम्हारी सखी पर केवल एक जगह ॥ ४६ ॥

त्वत्सखीं मनसि भावयन्नहं भृङ्गकीटविधिना तदाकृतिः ।
आसमद्य न हि चेदसून्कथं धारयेयमबलां विनाऽपि ताम् ॥ ४७ ॥

जैसे कीडा, भौंरा की भावना करता हुआ भौंरा बन जाता है इसी तरह तेरी सखी की भावना करता हुआ मैं वही वन गया हूं। यदि ऐसा न होता तो मैं विना तेरी सखी के जीवित कैसे रहता ॥ ४७ ॥

काऽपि गोपवनिता विचिन्त्य मां प्रागसून्व्यसृजदद्य तत्फलम् ।
त्वत्सखीं मनसि भावयन्नहो तादृशीमनुभवाम्यहं दशाम् ॥ ४८ ॥

पहले किसी गोपी ने मेरी भावना कर के अपने प्राण छोड दिये थे। आज उसका फल मुझे मिल रहा है। मनमें तेरी सखी की भावना कर के मैं वैसी ही दशाका अनुभव कर रहा हूं ॥ ४८ ॥

पश्य बालहरिणाक्षि यत्पुरा मामकं प्रकृतिमेचकं वपुः ।
तद्वियोगसमये विपाण्डरं याति चन्द्रकितपुष्करद्युतिम् ॥ ४९ ॥

ए हिरण के वच्चे के से नेत्रोंवाली अनुग्रहे! देख जो मेरा शरीर सदा से नील रहा करता था, अव उसके वियोग में वैसा सफेद हो गया है, जैसा कि नील आकाश चांद की चांदनी में सफेद हो जाया करता है ॥ ४९ ॥

तादृशोऽपि मम पञ्चहेतयस्तन्वि पञ्चविशिखीं मनोभुवः ।
नो विजेतुमशकन्यदस्य तत्तत्कटाक्षपरमाणुवैभवः ॥ ५० ॥

जगत्प्रसिद्ध हमारे पांचों आयुध भी काम के पांचों वाणों को जीतने में समर्थ नहीं हुए ; इसका कारण और कुछ नहीं, केवल गोदा के कटाक्ष परमाणु का वैभव ही है ॥ ५० ॥

चन्द्रिकादिचकितं मनस्तनोर्मामकीनममुमुक्षदप्यसून् ।
नाजिहासदयितां कदाऽपि यज्जीवितादपि च सा गरीयसी ॥ ५१ ॥

चांदनी आदि काम के उद्दीपक पदार्थों से चकित हुआ मेरा मन प्राणों को छोडता हुआ भी उस प्यारी को कभी छोडना नहीं चाहता। क्यों कि वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी है ॥ ५१ ॥

दक्षिणानिलमनन्यजानलप्रौढिहेतुमपि मामकं वपुः ।
आलिलिङ्क्षिषति तत्कचस्फुरन्मालिकाभरसुगन्धभागिति ॥ ५२ ॥

उसके काले-काले घुंघरालेवालों की खिली हुई चमेली की माला की सुगन्धि से सना हुआ मलयानिल है। इस कारण यह मेरा शरीर उस कामाग्नि को दधकानेवाली मलयगिरि की हवा का आलिङ्गन करने की इच्छा करता है ॥ ५२ ॥

तन्वि तत्कचभरोज्झिता स्फुरत्केसरा स्त्रगियमातनोति मे ।
उल्लसत्पुलकजालतद्भुजावल्लरीमृदुनिवेशविभ्रमम् ॥ ५३ ॥

ए अनुग्रहे! यह माला जिसमें कि केसर चमक रही है, जिसे कि उसने अपने बालों से जुदा करके मेरे लिये भेजा है, यह ऐसी मुझे मालूम पडती है कि पुलकावली से सुशोभित उसकी भुजवल्ली मेरे कण्ठ में पडीं हुई है; इस माला से मुझे उसकी गलवाही का आनन्द मिल रहा है ॥ ५३ ॥

कौमुदी नयनयो रसायनं चेतसो नवसुधा च वर्ष्मणः ।
कारणं किमपि जीवितस्य मे मौलिदाम तदुपायनीकृतम् ॥ ५४ ॥

जो उसने मुझे यह शिर के बालों की माला भेजी है, यही मेरी आखों की चांदनी है, चित्त के लिये रसायन है, तथा शरीर के लिये नया अमृत है और तो क्या इस माला ने ही इस समय मेरा जीवन बचाया है। नहीं तो कोई जीने का सहारा ही नहीं था ॥ ५४ ॥

लिप्सवश्श्रुतिसुधाभिवर्षिणीं गेयभंगिमचिरात्परांकुशात् ।
मूर्तयोऽधिकुरुकापुरं समायान्तु साष्टशतधामधूर्वहाः ॥ ५५ ॥

श्री परांकुश से कानों में अमृत सींचनेवाली गीतियों को प्राप्त करने की इच्छा से हमारे १०८ अर्चावतार कुरुकापुरी आयेंगे ॥ ५५ ॥

चारुभाषिणि सरःपुरस्सरा तत्र भक्तपरिषद्गमिष्यति ।
गोदया तव वयस्यया समं विष्णुचित्तविबुधोऽपि यास्यति ॥ ५६ ॥

ए मधुरभाषिणी अनुग्रहे! सरोयोगी आदि से लेकर सब भक्त मण्डली वहां जायगी, मेरी सखी गोदा के साथ विद्वान् विष्णुचित्त भी वहां ही आ जायेंगे ॥ ५६ ॥

मद्दशां तव सखीदशामपि प्रेक्ष्य तत्र परमार्थवेदिनी ।
आवयोस्सपदि संयुयुक्षया मन्त्रयेत्किमपि भक्तमण्डली ॥ ५७ ॥

परमार्थ जाननेवाले भक्तों की मण्डली, मेरी और तेरी सखी की दशा देख कर हम दोनों को शीघ्र मिलाने के लिये कुछ विचार करेगी ॥ ५७ ॥

भट्टनाथशठकोपपद्मभूमुख्यतद्गुरुसमूहशासनात् ।
प्रस्तुतेऽधिकुरुकं स्वयंवरे तत्करग्रहमहो भविष्यति ॥ ५८ ॥

भट्टनाथ शठकोप सरोयोगी आदि प्रधान भक्त तथा गोदा के गुरुओं के अनुशासन से कुरुकापुरी में स्वयंवर होगा, पीछे मेरे साथ गोदा के पाणिग्रहण का उत्सव सम्पन्न होगा ॥ ५८ ॥

इत्युदीर्य भगवाननुग्रहां तन्मुदे मृगमदाभिमोदिनीम् ।
हल्लकस्रजमनुत्तमामदादंगुलीयमपि नाममुद्रितम् ॥ ५९ ॥

भगवान् ने अनुग्रहा से ऐसे कह कर गोदा की प्रसन्नता के लिए कस्तूरी से सनी हुई त्रिकाल खिलनेवाले लाल कमलों की अलौकिक माला अनुग्रहा को दी कि इसे अपनी सखी को दे देना तथा एक ऐसी अंगूठी भी दी जिस पर भगवान् का नाम खुदा हुआ था ॥ ५९ ॥

रङ्गाधिपस्य वचनं परिगृह्य साकं
मुद्रांगुलीयनवहल्लकमालिकाभ्याम् ।
गत्वाऽम्बुदालिरिव गां शुचिकालतप्ता-
मालिं समाश्वसितुमारभत स्मरार्ताम् ॥ ६० ॥

जो भी कुछ श्रीरङ्गनाथ ने कहा था उसी क्रम से उसे अपने हृदय में रख लिया तथा गोदा के लिए जो सुन्दर अंगूठी और त्रिकाल खिलने वाले लाल कमल की माला दी थी उसे भी ले लिया। भगवान् को प्रणाम कर के गोदा के पास चल दी। जिस तरह मेघमालाएं ज्येष्ठमास की तपी हर्दन भूमि को बरसात के दिनों में शीतल करती हैं उसी तरह वियोग से संतप्त गोदा को अनुग्रहा शीतल करने लगी ॥ ६० ॥

अथ सपदि गृहीत्वाऽनुग्रहायास्सकाशात्
सह सकलमुदन्तं लक्ष्मणा रङ्गनेतुः ।
समयमपि तदीयं वीक्षमाणाऽऽस्त गोदा
दिवसपरिबृढस्य प्रोद्गमं पद्मिनीव ॥ ६१ ॥

गोदा ने अनुग्रहा के पास से नाम की अंगूठी और माला के साथ सब समाचार जान कर उस समय की प्रतीक्षा करती रही जैसे कमलिनी सूर्य के उदय की प्रतीक्षा करती रहती है ॥ ६१ ॥

एकादशस्सर्गः समाप्तः ।

द्वादशस्सर्गः

श्रीविष्णुचित्तविबुधो दुहितुस्समीक्ष्य
पञ्चायुधाभ्युदयपल्लवितं वयश्च ।
भावञ्च कन्दलितरागभरं मुकुन्दे
तस्मै पुनर्भगवते तनयामदित्सत् ॥ १ ॥

विद्वान विष्णुचित्त ने देखा कि बेटी सयानी हो गयी इसकी अवस्था में सब ओर से काम खिल रहा है, एवं भगवान् श्रीरङ्गनाथ में ही इसका पूर्ण अनुराग है। इस कारण इसे भगवान् रङ्गनाथ को ही देनी चाहिये ॥ १ ॥

स ज्यायसा शठजिताऽनुमतस्तदग्रे
गोदाकरग्रहमहोत्सवमातितंसुः ।
पाण्ड्येश्वरेण सह वल्लभदेवनाम्ना
शिष्येण च स्वसुतया कुरुकां प्रतस्थे ॥ २ ॥

इन्होंने अपने से बडे शठजित् की सलाह से उन के सामने ही गोदा के पाणिग्रहण का उत्सव करना चाहा। अपने शिष्य पांड्यदेश के राजा वीर वल्लभदेव को तथा गोदा को साथ लेकर कुरुकापुरी चल दिये ॥ २ ॥

तत्राग्रजस्य वकुलाभरणस्य सोऽङ्घ्रौ
साकं नृपेण सुतया च मुदा व्यनंसीत् ।
अन्वग्रहीत्तदनु तां नयनाञ्चलेन
सोऽपि प्रभूतकरुणावरुणालयेन ॥ ३ ॥

वहां अपने से बडे शठकोपसूरि के चरणों में गोदा और अपने शिष्य राजा के साथ आनन्द से प्रणाम किया। इसके पीछे शठकोप स्वामि ने भी बडे भारी करुणा के समुद्र नेत्रों के अंचल से गोदा पर अनुग्रह किया ॥ ३ ॥

तत्र प्रभूतवकुलाभरणप्रणीत-
कर्णामृतद्रविडसूक्तिनिबन्धलिप्सून् ।
अर्चाकृतीनुपगतानपनिद्रचिञ्चा-
शाखान्तरालनिलयान् स हरीनपश्यत् ॥ ४ ॥

वहां विष्णुचित्त ने देखा कि शठकोप स्वामीं के वनाये हुए द्राविड-भाषा के परमरोचक स्वविषयक निवन्ध को प्राप्त करने की इच्छा से जिन्हें कभी नींद नहों आतो ऐसे इमली के वृक्ष की शाखाओं पर बैठे हुए अर्चाकृति १०८ भगवानों को देखा ॥ ४ ॥

अर्चाकृतीनभिविवन्दिषया मुकुन्दान्
तत्रागतान् महितरङ्गधुरीणमुख्यान् ।
आयान्तमैक्षत स विष्णुपदे सुराणां
बृन्दं विरिञ्चपुरुहूतपुरस्सराणाम् ॥ ५ ॥

आये हुए उन रङ्गनाथ आदिक अर्चाकृति भगवानों के चरणों की वन्दना करने की इच्छा से, आकाश में आते हुए ब्रह्मा और इन्द्र से लेकर सव देवों के समुदाय को देखा ॥ ५ ॥

कासारभूतमहदाह्वयभक्तिसार-
भक्तांघ्रिरेणुकुलशेखरयोगिवाहान् ।
आसाद्य तत्र कविना मधुरेण युक्तान्
अन्योन्यवन्दनमहोत्सवमन्वभूत्सः ॥ ६ ॥

वहां विष्णुचित्त को सरोयोगी भूतयोगी, महदाह्वय योगी, भक्तिसार, भक्तांघ्रिरेणु, कुलशेखर मुनिवाहन और मधुरकवि मिले। वहां उन्होंने आपस की वन्दना का अनुभव किया ॥ ६ ॥

भक्तास्सरःप्रभृतयोऽपि परांकुशस्य
पादारविन्दयुगले प्रणिपत्य भक्त्या ।
अश्रौषुरस्य चतुरांश्चतुरप्रबन्धान्
अश्रावयन् पुनरमुं च निजप्रबन्धान् ॥ ७ ॥

सरोयोगी से लेकर जितने भी भक्त वहां आये हुए थे, उन्होंने भक्ति के साथ शठकोपस्वामी के चरणों में प्रणाम किया। पीछे सबने शठकोप के बनाये हुए चारों सुन्दर प्रबन्धों को सुना और अपने बनाये हुए प्रबन्धों को शठकोप स्वामि के लिये सुनाया ॥ ७ ॥

साकं सरःप्रमुखभक्तगणैश्शठारिः
गोदाकृतं कृतियुगं सरसं निशम्य ।
वीक्ष्याननन्द विषमेषुसखं वयोऽस्याः
दीनां दशां च हृदयं मुरवैरिसक्तम् ॥ ८ ॥

शठकोप स्वामी ने सरोयोगी आदि भक्तजनों के साथ गोदा की बनाई हुई दोनों रचनाओं को गोदा से ही सुना। गोदा का हृदय भगवान् पर आसक्त हो चुका था। वियोग ने इसकी दीनदशा बना रखा था; युवावस्था थी जो कि स्वभाव से ही काम की सखी हुआ करती है। यह देख कर शटकोपसूरि को बडा आनन्द हुआ ॥ ८ ॥

अर्चावतारहरिमुख्यवराय दातुं
गोदां स्वयंवरविधानमहोत्सवेन ।
तत्संविधानकृतये मधुरं कवीन्द्रं
राज्ञाऽऽदिशच्छठरिपुस्सह वल्लभेन ॥ ९ ॥

स्वयंवर के महोत्सव की विधि से अर्चाकृतियों में मुख्य जो रङ्गनाथ भगवान् हैं, उन्हें देना चाहा। इसके लिए जो भी प्रबन्ध होना चाहिये वह मधुरकवि और राजा के जिम्मे कर दिया ॥ ९ ॥

आज्ञापितौ शठजिता मणिमण्डपं तौ
प्रालम्बचामरविचित्रवितानरम्यम् ।
सौवर्णसाष्टशतमञ्चमहःप्ररोह
नीराजिताखिलदिगन्तममू व्यधाताम् ॥ १० ॥

मधुरकवि और राजा वल्लभदेव को शठकोपस्वामी ने आज्ञा दी कि एक सुन्दर मणियों का मण्डप कर दो। इसी आज्ञा के अनुसार

मण्डप तैयार किया गया। इस में लटकते चामर लगाये गये थे तथा अद्भुत वितान बनाया गया था, जिससे यह परमशोभायमान मालूम होता था। एक सौ आठ सोने के मंच बनाये गये जिन के किरणों की वृद्धि ऐसी मालूम होती थो मानों सम्पूर्ण दिशाओं की आरती हो रही है ॥ १० ॥

यत्रोत्सवोचितसमस्तपदार्थजातं
सम्पाद्य तौ सकलभूतलधामदेवैः ।
साकं समस्तनृपतीन् हरिभक्तबृन्दैः
पारांकुशं पुरमनीनयतामृषींश्च ॥ ११ ॥

उत्सव के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता हुआ करती है वे सब वस्तु इकट्ठी कर दी गयी। भक्त भूदेव तथा भक्त राजा बुलाये गये एवं इसी कुरुकापुरी में सब ऋषि लोग इकट्ठे किये गये ॥ ११ ॥

भुव्यानकेन सुरदुन्दुभयः प्रणेदुः
वाराङ्गनाभिरमरीपरिषन्ननर्त ।
गानैस्समं नभसि किन्नरगीतिरीतिः
प्रीतिस्समाजनि नृणां च तदा सुराणाम् ॥ १२ ॥

जमीन में नगडे तथा स्वर्ग में सुर दुन्दुभि बजने लग गयी। वारांगनाओं के साथ देवियों की सभा ने भी नाचना आरम्भ कर दिया। भूमण्डल के गायकों के साथ आकाश में किन्नर गाने लगे इस प्रकार देवता और भूलोकवासी दोनों को एकसी प्रसन्नता उत्पन्न हुई ॥ १२ ॥

अर्चाकृतीन् मधुरिपूनथ रङ्गमुख्यान्
मञ्चेषु तौ मणिमरीचिनिचोलितेषु ।
भक्त्या निवेश्य परया सकलां सपर्यां
तेषामथोचितमुदारमुभावकार्ष्टाम् ॥ १३ ॥

भगवान् रङ्गनाथ से लेकर जितने भी अर्चाकृति भगवान् थे वे सब वहीं उपस्थित थे। सब को मंचों पर बिठाया जो कि मणियों की

किरणों से देदीप्यमान तथा ऊंचे थे। पीछे परमभक्ति के साथ सब की पूजा की जैसी जिसकी होनी चाहिये थी ॥ १३ ॥

श्रीविष्णुचित्ततनयाऽलमकारि ताभ्यां
वैवाहिकैर्मणिमहाभरणप्रकाण्डैः ।
वासन्तिकेव किरणैर्मधुमाधवाभ्यां
व्योमस्थलीव किरणैर्विधुभास्कराभ्याम् ॥ १४ ॥

मधुरकवि और वल्लभदेव ने विवाह के समय के मणियों के बडे-बडे अच्छे आभूषणों से गोदा को सजाया मानों चैत्र और वसन्त दोनों ने मिलकर अपने फूलों से वासन्तिका लता को सजा दिया हो, एवं सूर्य और चांद दोनों ने अपनी किरणों से व्योमस्थली को अलंकृत किया हो ॥ १४॥

अग्रे श्रिताः पितृगणैश्शठकोपमुख्यैः
पश्चाद्वृता च विमलामुखमातृवर्गैः ।
सानुग्रहाभिरखिलालिभिरात्तपार्श्वा
गोदा स्वयंवरणमण्डपमाससाद ॥ १५ ॥

आगे आगे श्रीशठकोप स्वामि से लेकर पितृगण चलते थे पीछे पीछे चामरग्राहिणी चलती थी। अगल बगल अनुग्रहा आदिक सखियां चलिती थीं। इस प्रकार गोदा स्वयंवर के मण्डप में पहुंची॥ १५ ॥

मञ्चान्तरालनिलयं मधुवैरिबृन्दं
गोदासखश्शठरिपुः प्रणिपत्य भक्तैः ।
तत्रावलम्ब्य करपल्लवमात्मजायाः
तस्यै न्यवेदयदमूनवलोकयेति ॥ १६ ॥

गोदा समेत शठकोप स्वामी ने मंचों पर बैठे हुए भगवानों और भक्तों को प्रणाम किया पीछे गोदा का हाथ पकड करके कहने लगे कि इनको देखो ॥ १६ ॥

वत्से स्वयंवरविधेस्तव वत्सलत्वा-
द्वैकुण्ठदिव्यनगरादपि दुग्धसिन्धोः ।
सान्तःपुरौ ससुरसूरिमुनीश्वरौ तौ
प्रत्यक्षिताविह पुरः पुरुषौ पुराणौ ॥ १७ ॥

ऐ वत्सिके! तेरे स्वयंवर विधान के वात्सल्य से प्रेरित हो कर अपने-अपने अन्त.पुर को तथा सुर सूरि और मुनीश्वरों को साथ ले क्षीरसमुद्र वासी भगवान् क्षीरसागर से तथा वैकुण्ठ की अपराजिता पुरी में रहनेवाले भगवान् वहां से यहां आकर तेरे सामने प्रत्यक्ष हो रहे हैं ॥ १७ ॥

चोलागतान् दशगुणांश्चतुरश्च पाण्ड्या-
दष्टादशापि दश केरलतस्त्रिभिश्च ।
मध्यादुभौ द्व्यधिकविंशदवेहि विष्णून्
तोण्डीरतश्च दश सैकमिहोत्तरात्त्वम् ॥ १८ ॥

हे गोदे ! चोलदेश से ४० भगवान् तथा पाण्ड्यदेश से १८ एवं केरल प्रान्त से १३ तथा मध्यसे २ तोण्डीर से २२ और उत्तर से ११ आये हैं। तू इन्हें देख ॥ १८ ॥

एकं वृणीष्व वरमेष्विति तान्निगद्य
पूर्वं समीरितसमस्तगुणापदानान् ।
अस्यै प्रदर्शय यथाक्रममम्बुजाक्षा-
नित्यादिदेश स शठारिरनुग्रहां ताम् ॥ १९ ॥

इनमें से एक को वर ले ऐसा गोदा से कह कर अनुग्रहा से बोले कि इन सब को सिलसिलेवार दिखाओ और हर एकके गुण तथा महत्त्वपूर्वक इनके चरित्र भी गोदा को सुना दो। फिर गोदा जिसे चाहेगी उसे वर लेगी ॥ १९ ॥

श्रीवत्सकौस्तुभमनोज्ञभुजान्तराल
बाहाचतुष्टयवतो धृतशङ्खचक्रान् ।
श्यामान्निशाम्य समरूपजुषो मुरारी
न्नाबोधि केशवमभीष्टतमं मृगाक्षी ॥ २० ॥

एक सौ आठ भगवान् एक से ही रूप से अपने अपने मंचों पर बैठे हुए थे। सब ही अपनी चारों भुजाओं में शंख चक्र गदा और पद्म धारण किये हुए थे तथा सब ही सोलह वर्ष के किशोर थे, और श्याम थे। मृगनयनी गोदा इन में न पहिचान सकी कि रङ्गनाथ भगवान् कौन से हैं ॥ २० ॥

नादे पृथक्पृथगुदञ्चति माधवानाम्
नामापदानबिरुदाञ्चितकाहलीनाम् ।
श्रुत्वा तुतोष तरुणीयति या तदैव
जामातृनाथबिरुदं श्रवणामृतं सा ॥ २१ ॥

माधवों के नाम महत्व के चरित्र और यशोराशि के साथ कालियों के शब्द अलग-अलग सुनाई देने लगे किन्तु वह तरुणी जामातृनाथ (श्रीरंगनाथ) के कर्णप्रिय विरुद को सुनकर ही सन्तुष्ट हुई ॥ २१ ॥

आलोक्य तत्र हरयस्स्मरवैजयन्तीं
तस्या विलोचनरसायनमङ्गयष्टिम् ।
लोकत्रयीबहुमतात्कमलापतित्वात्
गोदापतित्वमधिकं बहुमेनिरे ते ॥ २२ ॥

उस समय गोदा का शरीर ऐसा मालूम होता था मानों कामदेव को जीत की झंडी तथा आखों की रसायन हो, ऐसी अपूर्व सौन्दर्यशालिनी गोदा को देख आगत अर्चावतारों को लक्ष्मी के पति बनने से गोदा का पति बनना अच्छा मालूम हुआ, यद्यपि कमला का पतित्व तीनों लोकों में बहुमाननीय है ॥ २२ ॥

आस्विन्नवक्त्रमधिकश्वसितानुबन्ध-
मापाण्डुगण्डमलसेक्षणमङ्गमस्याः ।
आलोक्य कुत्रचिदियं विनिमग्नचित्ते-
त्याशङ्कमानहृदयं हरिबृन्दमासीत् ॥ २३ ॥

मुंह पर स्वेद कण छाये हुए थे, श्वासों की रफतार अधिक वेग से जारी थी, गण्डस्थल धोले से पड रहे थे, आखों में आलससा दीख पडता था, एवं आलस के साथ ही देखती थी। ऐसे गोदा के शरीर को देखकर हरिमण्डल के हृदय में आशंका हुई कि इसका मन अवश्य किसी पर लगा हुआ है ॥ २३ ॥

वक्षोलसद्विमलकौस्तुभदर्पणान्त-
स्संक्रान्ततत्तनुलताप्रतिबिम्बलक्ष्यात् ।
गोदा ममैव नियतं हृदयंगमेति
गोविन्दमण्डलमनक्षरमाचचक्षे ॥ २४ ॥

वक्षस्थल पर स्वच्छ कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही थी, जिस में गोदा के शरीर का प्रतिविम्व पड रहा था, जिसको देखने से मालूम होता था कि मानो हरिवृन्द विना ही शव्दों के यह कह रहे हों कि गोदा मेरे ही हृदय में है दूसरे के हृदय में नहीं है ॥ २४ ॥

गोदां विलोकितवतो हरिमण्डलस्य
प्रादुर्बभूवुरथ विभ्रमचेष्टितानि ।
आलोकनेन सुतराममृतांशुमूर्ते-
रम्भोनिधेरिव तरङ्गविजृम्भणानि ॥ २५ ॥

गोदा को देखते-देखते हरिमण्डल की विभ्रम चेष्टाओं का प्रादुर्भाव हुआ जैसे कि पूर्ण चांद को देख कर समुद्र में तरङ्ग उठने लगती हैं ॥२५ ॥

तत्कण्ठनालसुषुमासुहृदित्यजस्रं
कश्चित्करेण सममन्यत पाञ्चजन्यम् ।
तन्नाभिमण्डलसनाभिरितीतरोऽपि
पाणौ सकौतुकमवैक्षत चक्रराजम् ॥ २६ ॥

कोई अपने मन में यह पांचजन्य गोदा के कण्ठनालसा सुन्दर है ऐसा समझ कर झठपट हाथ से पांचजन्य का सन्मान करने लगा।

किसी दूसरे ने अपने हाथ में लगे हुए सुदर्शन चक्र को गोदा के नाभिमण्डल का बन्धु समझ कर कौतुकपूर्वक उसे आखों से देखा।

अन्योऽपि नन्दकमवैक्षत साभिलाषं
तल्लोचनाञ्चलविलासकलासखेति ।
तद्भ्रूलताविकसितप्रणयीति मोदात्
शार्ङ्गं करेण समभावयतापरोऽपि ।। २७ ।।

दूसरे भी भगवान् गोदा की आंखों के अंचल की कलाओं का मित्र यह नन्दक है यह समझ कर तृषित नेत्रों से अपनी नन्दक नाम की तलबार को देखने लगे, और किसी ने अपने धनुष को गोदा की भोंओं का मित्र समझ कर उस पर हाथ फेरना आरम्भ कर दिया ।। २७ ।।

मञ्चाधिरोहणविधौ चलितानि शश्व-
न्निन्युर्यथापुरमलङ्करणानि केचित् ।
केचित्करैरधुनुताऽञ्चलमम्बराणां
शम्पाकदम्बकविडम्बनलम्पटानाम् ।। २८ ।।

जब ये मंचों पर चढे थे उस समय गले के आभूषण इधर उधर हो गये थे ; कोई उन्हें संभाल कर पहिले की तरह करने लग गये । कुछ लोग बिजली के समुदाय को अनुकरण करनेवाले अपने वस्त्रों के अंचलों को हाथों से हिलाने लगे ।। २८ ।।

अन्ये व्यलोकिषत वक्त्रसरोजकान्ति
वक्षस्स्थकौस्तुभविलोकनकैतवेन ।
अन्ये स्वभक्तजनभाषणकेलिलक्ष्या
दातन्वत स्मरवशाद्धसितादिभावान् ।। २९ ।।

कोई बहाना करते थे हृदय पर पडे हुए कौस्तुभमणि को देखने का, पर देखते थे अपने मुखकमल की शोभा को कि मैं अच्छा लगता हूं या नहीं। कोई अपने भक्त जनों के साथ बातें करने के खेल के व्याज से काम के वश में होकर हास्यादि भाव दिखाने लगे ।।

तत्र स्वयंवरणमण्डपमञ्चमार्गे
रङ्गेशसक्तहृदया हरिबृन्दपूर्णे ।
साऽऽरामसीमनि विकस्वरवृक्षषण्डे
प्रत्यग्रजातिसुमनःप्रवणेव भृङ्गी ॥ ३० ॥

बडे-वडे वृक्षों के तरह-तरह के बहुत से फूल जिस में खिले हों, ऐसे सुन्दर उपवन की सीमा में भोंरी जैसे खिले हुए चमेली के ही फूल पर आसक्त रहती है, दूसरे पर नही, इसी तरह इस स्वयंवर में १०८ भगवान् विराजमान थे पर यह गोदा स्वयंवरमण्डप के मंचों के मार्ग में भगवान् रङ्गनाथ पर आसक्त हुई ही चल रही थी ॥ ३० ॥

आज्ञां सरश्शठजिदादिगुरुव्रजाना-
मादाय सप्रणयमालिरनुग्रहाख्या ।
अस्यै क्रमादखिलधामनिकेतनाना-
माख्यातुमारभत वैभवमच्युतानाम् ॥ ३१ ॥

गोदा की प्यारी सखी अनुग्रहा श्रीशठकोपसूरि आदि गुरुजनों की आज्ञा पाकर स्वयंवर के लिये आयी हुई गोदा के लिये भिन्न-भिन्न धामों में रहनेवाले भगवानों के वैभव को क्रमपूर्वक नम्रता के साथ बताने लगी ॥

पत्ये समस्तमरुतां प्रथमं प्रणम्य
रङ्गेन्दवे प्रियसखीं परिगृह्य पश्चात् ।
सा तत्तदच्युतसमीपमुपेत्य तेषां
वेषापदानपुरनामगुणानभाणीत् ॥ ३२ ॥

अनुग्रहा ने सब से पहिले सब देवों के अधिपति रङ्गनाथ भगवान् को प्रणाम किया, पीछे अपनी प्यारी सखी गोदा को साथ ले जिस भगवान् के पास पहुंचती थी उनका वेष, महत्वके चरित्र, रहने का स्थान, नाम और गुणावली कहने लग जाती थी ॥ ३२ ॥

पश्यारविन्दनयने पुरतश्चकास्ति
श्रीजन्मभूमिनिचुलापुरनायकोऽयम् ।
नीलारमाधरणयस्सुषुमाहृताक्ष्यो
नीलालका जहति नास्य कदापि पार्श्वम् ॥ ३३ ॥

हे कमलनयने! देख जो तेरे सामने प्रकाशमान हो रहे हैं, यह निचुलापुरनायक हैं, इसी निचुलापुर में निचुलापुर की राजकुमारी के रूप में लक्ष्मी ने अवतार लिया था। इस निचुलापुरनायक की परमशोभा नीला रमा और भूदेवी की दृष्टि को हरे रहती है, इसी कारण काले-काले घुंघराले बालोंवाली ये तीनों देवियां कभी भी इनकी बगलको नहीं छोडतीं ॥ ३३ ॥

तंजापुरीपरिबृढस्तटसक्तकाल-
धाराधरोऽयमुदधेस्तनयाऽस्य विद्युत् ।
तत्रत्य एव नृहरिर्नखराग्रभिन्न-
तञ्जाख्यदैत्यरुधिरारचिताङ्गरागः ॥ ३४ ॥

देख! तंजापुरी के स्वामी नीलमेघ भगवान् बैठे हुए हैं, समुद्र की कन्या महालक्ष्मी इनके लिये बिजली जैसी है। यह और देख! उसी पुरी में रहनेवाले नृसिंह भगवान् बैठे हुए हैं, जिन्होंने अपने नखों से तंजनामक दैत्य का विदारण किया था, जिसके रक्त का लेप इनके शरीर पर अंगराग के समान शोभा दे रहा है ॥ ३४ ।

श्रीमुष्णनामनगरे मणिमौक्तिकाख्य-
कल्लोलिनीपृषततारकितोपकण्ठे ।
आस्ते वराहवपुरत्र कटीतटोद्य-
च्छंखारिकस्सुमुखि दण्डकदैत्यहन्ता ॥ ३५ ॥

हे सुन्दरमुखवाली! दण्डकदैत्य को मारनेवाले कमर के किनारे से लगे हुए शंखचक्रवाले ये वराह भगवान् हैं। जो मणिमौक्तिक नामवाली नदी की बूदों के कारण जिसका समीपस्थल तारकित हो रहा है,

अर्थात् उसमें तारे उगे हुए जैसे जान पड रहे हैं, ऐसे उस श्रीमुष्ण नाम के नगर में विराजते हैं ॥ ३५ ॥

अस्मिन्निधेहि हरिणाक्षि कटाक्षभङ्गीं
प्रेमालयाधिपतिरेष मनोज्ञवेषः ।
पादाभिभूतभयभीतभृगोस्तपस्या-
साफल्यमब्धिसुतया भुजगेशयानः ॥ ३६ ॥

हे कमलनयने! इन पर तो दृष्टि डाल, कैसा सुन्दर वेष देख बनाये हुए प्रेमालयाधिपति भगवान् वैठें हुए हैं, ये पैरों के आघात से डरे हुए भृगुमहर्षि की तपस्या को सफल करने के लिये लक्ष्मी के साथ शेषशय्या पर शयन किये हुए हैं ॥ ३६ ॥

बाले कदम्बपुरबन्धुरयं भुजङ्गे
निद्राति योऽन्तिकजुषोर्द्रुहिणेन्दुमौल्योः ।
वक्त्रालिमौलिमुखरश्रुतिजान्हवीभ्यां
शृण्वन् द्विजश्रुतिकवेरसुतार्भटी च ॥ ३७ ॥

हे वाले! यह कदम्वपुर के स्वामी हैं और शेपशय्या पर योगनिद्रा लिया करते हैं। इनके समीप ब्रह्मा और शिव हैं। ब्रह्मा के चारों मुखों से वेदपाठ तथा शिव के शिर में रहनेवाली गंगा के शब्द के साथ ब्राह्मणों के वेदपाठ और कावेरी की गडगडाहट को भी सुनते हुए सो रहे हैं ॥ ३७ ॥

वीक्षस्व सुन्दरि पुरो विशदाद्रिनाथं
यः पुण्डरीकनयनो निजवल्लभायाः ।
आज्ञाविधेयमरविन्दविलोचनायाः
चक्रे जनौघममलं सममात्मना च ॥ ३८ ॥

हे सुन्दरि! सामने देख, ये श्वेताद्रिनाथ भगवान् बैठें हुए हैं। इस पुण्डरीकाक्ष भगवान् ने, कमल को पखुरियों से नयनोंवाली अपनी प्यारी की आज्ञा के अनुसार कार्य किया है। इनकी प्यारी की यही आज्ञा थी कि जनसमुदाय को पवित्र कर के अपने समान वना लो ॥ ३८ ॥

श्रीपक्षिभूतनगरीशमपाङ्गयस्व
यः कातराक्षि दृढकार्मुकरामनामा ।
प्राणेश्वरीमपहृतां दशकन्धरेण
प्रत्याजहार विनिहत्य पुनस्तमाजौ ॥ ३९ ॥

श्रीपक्षिभूतनगरी के स्वामी को देख, हे घबराई हुई आंखोंवाली! इन्हें दृढकार्मुकराम कहा करते हैं, जब इन की प्राणेश्वरी सीता को रावण हर ले गया था, तब यह युद्ध में रावण को मारकर सीता को लौटा ले आये थे ॥ ३९ ॥

बालाक्षि निक्षिप पलाशवनान्तराले
श्रीनामपूरधिपतौ भगवत्यपाङ्गम् ।
योऽपूपकुम्भकुहरे करमाकलय्य
शेते श्रियोऽधिकुचकुम्भयुगं मनश्च ॥ ४० ॥

हे बालाक्षि! ढाक के वन के बीच में जो श्रीनामपुर है, उसके अधिपति भगवान् पर दृष्टिपात कर, जो अपने हाथ को पूआओं के घडे के बीच में डाल सो रहे हैं और उनका मन लक्ष्मी के दोनों कुचकलशों में लगा हुआ है ॥ ४० ॥

पश्यादनूरधिपतिं पतिमिन्दिरायाः
लोकं समस्तमभिरक्ष्यमिमाननाथम् ।
एतेन साकमधिपन्नगराजतल्पं
त्वञ्चेत्सुषुप्स्यसि गृहाण कराब्जमस्य ॥ ४१ ॥

हे सुन्दरि! लक्ष्मी के तथा आदनूर के पति आण्डलक्कुमैयन् अर्थात् अभिरक्ष्यमिमाननाथ भगवान् को देख, यदि इनके साथ शेषशय्या पर शयन करना चाहती है तो इनके करकमल पकड ले ॥ ४१ ॥

तन्वङ्गि पश्य रथमग्नपुरीधुरीणं
यो गोसहाय इति नामभृदादिगोपः ।
शार्दूलपूःपतिरपूर्वमहाब्धिनामा
गाम्भीर्यमस्य मनसो भुवि वेद को वा ॥ ४२ ॥

हे पतले शरीरवाली! सबसे पहले के रक्षक, रथमग्नपुरी के अधिपति गोसहाय भगवान् को देख। अब और देख, ये शार्दूलपुरी के अधिपति अपूर्वमहाब्धि भगवान् को देख। इस भूमण्डल पर इनके मनकी गम्भीरता को कौन जान सकता है ॥ ४२ ॥

श्रीसारभूपुरपतिं शिशुनायकाख्य-
मालोकयैनमरविन्दमनोज्ञपाणिम् ।
कृत्वा तपस्सुचिरमस्य विलोकनेन
सह्यात्मजाऽलभत जन्हुसुताधिकत्वम् ॥ ४३ ॥

श्रीसारभूपुर के अधिपति शिशुनायक भगवान् को देख, इनका हाथ कमल से कैसा शोभायमान हो रहा है, कावेरी ने बहुत काल के तप के पीछे इनके दर्शन करके गङ्गा से अधिकता पा बढी चढी हो गयी ॥ ४३ ॥

नाथं दृशा सुमुखि नन्दय मूर्द्धशंख-
नाम्नः पुरस्य नवचन्द्र इति प्रतीतम् ।
सख्या तयेति गदिता वदनारविन्दं
हस्तारविन्दमपि सा मुकुलीचकार ॥ ४४ ॥

हे सुन्दर मुखवाली! मूर्द्धशंख नामके पुर के अधिपति नवचन्द्र भगवान् को अपने दृष्टिपात से प्रसन्न कर दे। गोदा ने सखी के इतना कहने पर उसका मुखारविन्द मुकुलित हो गया और उसने हाथ जोडे ॥ ४४ ॥

आलोकयादिममतृप्तसुधाभिधानं
श्रीकुम्भघोणनगराधिपशार्ङ्गपाणिम् ।
सामोदकोमलतलाकुचकुम्भघोणं
भोगं भुजङ्गमपतेरपि योऽधिशेते ॥ ४५ ॥

श्रीकुम्भघोण नगर के अधीश्वर एवं सब से पहले के अपर्याप्तामृत भगवान् को देख, जिनका दूसरा नाम शार्ङ्गपाणि है। यह भगवान्

कोमलवल्ली नाम की महालक्ष्मी के कुचकलश के ऊपर तथा शेष के शय्या पर नित्य शयन करते हैं ॥ ४५ ॥

एतेन साकमरविन्दविलोचने त्वं
हेमाब्जिनीपरिसरोपवने रमस्व ।
इत्यालिभाषितमभूद्रुचये न तस्याः
चण्डांशुरोचिरिव चन्द्ररुचेश्चकोर्याः ॥ ४६ ॥

हे कमल के समान नयनोंवाली! इनके साथ कावेरी के उपवन में स्वच्छन्द विहार कर। पर सखी का यह कथन गोदा को अच्छा न लगा। चकोरी का तो चांद से ही प्रेम होता है यद्यपि सूर्य चांद से अधिक तेजस्वी है, पर चकोरी को चांद की ही किरण अच्छी लगती हैं, सूर्यकी नहीं चाहें ये कैसे भी थे। पर गोदा का प्रेम रङ्गराज भगवान् पर था, इन पर नहीं ॥ ४६ ॥

पश्यालि खण्डिनगरीपतिमेष हृत्वा
शापं हरस्य हरशापहराभिधोऽभूत् ।
यद्बाहवो युगपदेव रमाधरण्योः
कुर्वन्ति गण्डभुवि कुंकुमपत्ररेखाः ॥ ४७ ॥

हे आलि! खण्डिनगरी के अधिपति भगवान् को देख, यह महादेव के शाप को हरने के कारण 'हर शाप हर' नामवाले बन गये हैं। इनकी दोनों भुजाएं एक ही समय में भूदेवी और श्रीदेवी दोनों के गण्डस्थल पर कुंकुम कीं पत्र लेखा किया करते हैं ॥ ४७ ॥

एषोऽन्तरिक्षपुरबन्धुरुरोविभूषां
नारायणः कलितवान्नदराजपुत्रीम् ।
वैरोचनेर्मदमपाहृत रोमशाष्टा-
वक्रानतस्त्रिपदविक्रमलीलया यः ॥ ४८ ॥

यह अन्तरिक्षपुर के स्वामी हैं, जिन्होंने अपने हृदयका भूषण लक्ष्मी को बनाया है। इनका नाम नारायण है, इन्होंने तीन ढग रखने के

व्याज से बलि का मद चूर कर दिय था। इन्हें रोमश और अष्टावक्र ऋषि सदा प्रणाम करते रहते हैं ॥ ४८ ॥

श्रीशौरिराजमसिताक्षि विलोकयस्व
कृष्णाभिधाननगरीकृतसन्निधानम् ।
पद्मापयोधरपटीररसाङ्कमङ्गं
पुष्णाति चन्द्रकितपुष्करकान्तिमस्य ॥ ४९ ॥

हे नीले नेत्रवाली! कृष्णनगरी में रहनेवाले इस शौरिराज को भी देख, लक्ष्मी के स्तनों के चन्दन के रस से चिन्हित होनेवाला इनका शरीर आकाश में चन्द्रमा के उदित होने पर जैसी शीभा होती है वैसी शोभा पा रहा है ॥ ४९ ॥

केदारमोदवरमालि विलोकयस्व
यं व्याहरन्ति परिरम्भपुरस्य नाथम् ।
अन्वर्थनाम यदभूत्तपसां प्रभावा-
दालिङ्गितोऽयमिति कन्यकयाऽम्बुराशेः ॥ ५० ॥

हे सखि! 'केदारमोदवर' भगवान् को देख, इन्हें भक्तजन परिरम्भ पुर का अधिपति कहा करते हैं। इनका यह नाम, तप के प्रभाव से समुद्र की कन्या लक्ष्मी ने इनका आलिङ्गन कर लिया है— इसलिये सार्थक हो गया है ॥ ५० ॥

श्रीनागपट्टणपतिं कमलासहायम्
ऊरीकुरुष्व सखि सुन्दरनामधेयम् ।
लोलोर्मिहस्तधृतरत्नमिषाद्वराय
पुष्णाति यौतकमुपान्तगतोऽब्धिरस्मै ॥ ५१ ॥

श्रीनागपट्टण के अधिपति सुन्दरनामवाले कमलासहाय भगवान् को स्वीकार कर ले, जिन्हें पास में रहनेवाला समुद्र अपनी चञ्चल तरङ्गरूप हाथों में रत्न लिये हुए मानो वरराज को दायज दे रहा है ॥ ५१ ॥

पश्यालि गन्धपुरबन्धुमयं विहारं
तीरे करोति मणिमौक्तिकदीर्घिकायाः ।
मेधाविनो मुनिवरस्य च पङ्कजायाः
पूर्णः पुराऽऽविरभवत्तपसां बलैर्यः ॥ ५२ ॥

हे आलि! देख यह 'गन्धपुरनाथ' हैं, यह 'मणिमौक्तिक' नामक नदी के तट पर विहार करते हैं और इनका प्रादुर्भाव मुनिवर मेधावी और महालक्ष्मीजी के तपों के प्रभाव से पहले हुआ था ॥ ५२ ॥

नन्दीपुराम्बरपुरीपतिरेष नाथः
पद्माकुचस्फुरितकुंकुमरञ्जिताङ्गः ।
अस्मिन्निधेहि दृशमित्युदिताऽपि सख्या
सा वीक्ष्य केवलमुपागमदन्यमञ्चम् ॥ ५३ ॥

यह "नन्दिपुर अम्बरपुरीनाथ" हैं। इनका शरीर लक्ष्मी के स्तनों पर लगे हुए कुंकुम से रंगा हुआ है, इन पर दृष्टि पात कर। सखी के यह कहने पर भी केवल देख कर दूसरे मंच की ओर आगे बढ गयी॥

इन्दीवराक्षि विभुरिन्दुपुरेश्वरोऽयं
सच्छीलवल्लभसुतश्शशिभागधेयम् ।
एतं वृणीष्व कथिताऽपि वयस्ययेत्थं
सा तं मुमोच मनसो हि रुचिस्स्वतन्त्रा ॥ ५४ ॥

हे इन्दीवरनयने! यह इन्दुपुर के अधिपति हैं। इनका नाम सच्छीलवल्लभसुत और चन्द्र को प्रत्यक्ष हुए हैं, इन्हें वर ले। सखी के ऐसा कहने पर भी गोदा दूसरे मञ्च की ओर चली गयी, क्यों कि मन की रुचि स्वतन्त्र होती है ॥ ५४ ॥

श्रीचित्रकूटपतिमिन्दिरया सनाथं
देवादिदेवमवलोकय दीर्घनेत्रे ।
आनन्दतो नटति यं जलदं सशम्पम्
आशङ्क्य तिल्लवनसीमनि नीलकण्ठः ॥ ५५ ॥

हे वडी-वडी आखोंवालो! चित्रकूट के अधिपति देवाधिदेव लक्ष्मीनाथ भगवान् को देख, जिन को देख कर तिल्लवन में रहनेवाला नीलकण्ठ (मोर) विजली से चमकते हुए नीलमेघ की शङ्का से मारे आनन्द से नाचने लगता है ॥ ५५ ॥

श्रीरामपुष्करपुरस्य धुरीणमेनं
विष्णुं विलोकय पुरो नवनीतचोरम् ।
एतं च सङ्गमपुरे कलिताधिवासं
लोकाभिरक्षणमुदूढरमानुरागम् ॥ ५६ ॥

देख! यह तेरे सामने 'श्रीरामपुष्करपुर के स्वामी विष्णु' अपने मंच पर वैठे हुए हैं इनका नाम 'नवनीतचोर' है, और इन सङ्गमपुर के नायक भगवान् को देख! यह संसार की रक्षा करनेवाले हैं तथा इनने लक्ष्मी में कितना बडा अनुराग बढा रखा है, तेरे से भी ऐसा ही प्रेम करेंगे ॥ ५६ ॥

तन्वङ्गि कृष्णपुरनाथमपाङ्गयस्व
यः पार्थसारथिरिति प्रथिताभिधानः ।
एतञ्च कृष्णमहिषीपुरभागधेयं
भक्तासुनाथमबलापरतंत्रमग्रे ॥ ५७ ॥

हे पतले से शरीरवाली! कृष्णपुर के अधिपति भगवान् को देख! यह 'पार्थसारथि' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हो रहे हैं। और इन कृष्ण महिषीपुर के अधिनायक भगवान् को देख! इनका नाम 'भक्तासुनाथ' है, यह अपनी पत्नी के कहे अनुसार करते हैं ॥ ५७ ॥

श्रीमान् कपिस्थलधुरन्धर एष दृष्टिम्
अस्मिन् कुरुष्व करिरक्षकनाम्नि देवे ।
नाथञ्च रूप्यनगरस्य दृशा विचित्र-
कोदण्डराममुररीकुरु जानकीशम् ॥ ५८ ॥

इन कपिस्थल के स्वामी को देख, इनका नाम 'गजेंद्ररक्षक' है। इन पर दृष्टि डाल। ये रूप्यनगर के नाथ हैं, तथा जानकी के पति हैं। इनका नाम 'विचित्र कोदण्डराम' है, इन्हें स्वीकार कर ले ॥ ५८ ॥

श्रीनागनामनि पुरे दशविष्णुधाम-
वीते वसन् हरिरसौ मणिधामनाथः ।
भक्तेतरव्रजदुरापपदाब्जमेनं
पात्रीकुरु प्रणयलोलविलोकनानाम् ॥ ५९ ॥

हे सखि! दशविष्णुधामों से अलंकृत नागनाम के नगर में यह रहते हैं, इन्हें 'मणिधामनाथ' कहते हैं। इनके चरणकमलों को सिवा भक्तों के दूसरा कोई नहीं प्राप्त कर सकता। इन्हें प्रेम के चञ्चल कटाक्षों का पात्र बना लो ॥ ५९ ॥

पुष्पेषुपुङ्खपुरुषोत्तमहेमधाम-
श्रीसक्तसंसदनवाप्यनभःपुरेशान् ।
वैकुण्ठपुष्करपुरीमणिकूटपार्थ-
पूर्देवधामसितपुष्करिणीपतींश्च ॥ ६० ॥

पुष्पेषुपुंख, पुरुषोत्तम, हेमधाम, श्रीसक्तसंसद, अनवाप्यनभःपुर, वैकुण्ठ पुष्करपुरी, मणिकूट, पार्थपुरी, देवधाम, और श्वेतपुष्करिणी के पति इन भगवानों को देखो ॥ ६० ॥

नागाभिधाननगरान्तिकसन्निविष्टान्
विष्णून् विलोकय पृथग्विहिताभिधानान् ।
इत्थं तया निगदिताऽपि च सा ललंघे
तारागणान् दिवि तुषाररुचेः कलेव ॥ ६१ ॥

नागनामक नगर के निवासी उन भिन्न-भिन्न नामवाले पूर्वोक्त विष्णुभगवानों को देख, इनमें जो तुझे अच्छे लगे, उन्हीं के साथ विवाह कर ले। सखी के यह कहने पर भी गोदा इस तरह उन्हें लांघ कर आगे बढ गयी, जैसे आकाश में चंद्रमा की चांदनी तारागणों को लांघ कर चली जाती है ॥ ६१ ॥

यान्ती सकाममभिरङ्गिणमन्तरा सा
मञ्चस्थविष्णुनिवहान् सममंस्त दृष्ट्वा ।
हंसीव मानससरोऽभिमुखं चलन्ती
मार्गस्थितान्नदनदीह्लदवारिपूरान् ॥ ६२ ॥

जैसे मानससरोवर की ओर चलनेवाली हंसी जल से भरे हुए राह के नदनदीयों को छोड कर चलती वनती है, इसी तरह इच्छा सहित रङ्गनाथ की ओर जाती हुई गोदा बीच के मंचों को छोडती हुई चली जाती थी, उन पर इसका कोई ध्यान नहीं होता था ॥ ६२ ॥

मञ्जीरसिन्धुमुखरोपवनाद्रिवासी
सौम्योऽयमेष मलयध्वजभागधेयम् ।
सौन्दर्यसारनिधिना निजवर्ष्मणाऽक्ष्णो-
स्सौभाग्यमावहति सुन्दरवल्लिकायाः ॥ ६३ ॥

देख, यह नूपुरगंगानदी के शब्द से शब्दायमान वनाद्रि पर वास करनेवाले हैं, परमसौम्य हैं, यह मलयध्वज के भागधेय हैं, एवं सुन्दरता के सार के खजाने अपने शरीरद्वरा सुन्दरवल्ली की आखों को सौभाग्य दे रहे हैं ॥ ६३ ॥

एणाक्षि सुन्दरममुष्य भुजं भजेति
सख्येरितं तमवलोक्य कुतूहलेन ।
मन्दाक्षकन्दलविनम्रमुखं प्रणम्य
मन्दं ययावितरमञ्चमरालकेशी ॥ ६४ ॥

हे मृगनयनी! इनके सुन्दर हाथों को भज, इस प्रकार सखी के कहने पर कौतुक के साथ उन्हें देख कर लज्जा से कहलाये हुए विनम्रमुख के साथ प्रणाम करके, घुंघरालेवालों वाली हंसगामिनी गोदा, धीरे-धीरे दूसरे मंच को चली गयी ॥ ६४ ॥

गोष्ठीपुरीपतिरयं रमया सनाथः
नाथः फणीन्द्रमृदुलास्तरणाभिधानः ।
एषोऽपि सौम्यपुरनायकसत्यनाथः
श्रीमानुभावपि मृगाक्षि कटाक्षयस्व ॥ ६५ ॥

लक्ष्मीसहित वासकरनेवाले यह गोष्ठिपुर के स्वामी हैं 'फणीन्द्र-मृदुलास्तरण' इनका नाम है। यह भी सौम्यपुर के स्वामी 'सत्यनाथ' नामवाले हैं, हे मृगनयनी! इन दोनों को देख ले ॥ ६५ ॥

फुल्लाटवीपरिबृढं पुरुषं वृणीष्व
तत्तादृशं सुमुखि दिव्यधनुर्धराख्यम् ।
गम्भीरमेष जलधिं चरणैस्तितीर्षु-
र्दर्भासनं परममध्यशयिष्ट हृष्टः ॥ ६६ ॥

हे सुन्दर मुंहवाली! फुल्लाटवी के स्वामी, दिव्यधनुर्धर नामवाले अलौकिक पुरुष को वर ले। इन्होंने, गम्भीरसमुद्र को, चरणों से पार करने की इच्छा से, सुन्दर कुशासन पर, प्रसन्न हो कर शयन किया था ॥ ६६ ॥

सोऽयं तुषारसरसीतिलकोऽस्य रूपं
रामे विलोचनरसायनमातनुष्व ।
वीक्षस्व मोहनपुरीविभुकालमेघं
पद्मालयातरलया परिरब्धमूर्तिम् ॥ ६७ ॥

वही यह 'तुषारसरसीतिलक' हैं, हे रमे! इनके रूप को अपने नयनों का रसायन बता ले। मोहनपुरी के अधिपति 'कालमेघ' भगवान् को देख! इनके शरीर को लक्ष्मी विद्युत् बन कर आलिङ्गन कर रही हैं ॥ ६७ ॥

पांड्याभिगुप्तमथुरानगराधिनाथं
तन्वङ्गि सङ्गममनोज्ञपतिं वृणीष्व ।
यः पद्मया सह पितुस्तव गोचरस्सन्
तन्मङ्गलावहनुतिप्रसवाञ्चितोऽभूत् ॥ ६८ ॥

हे सूक्ष्मशरीरवाली! पांड्यवंश के राजाओं से सुरक्षित मथुरा नगरी के अधिनाथ सङ्गममनोज्ञपति भगवान को स्वीकार कर, जो तेरे पिता को लक्ष्मी सहित प्रत्यक्ष होकर उनसे उनके मङ्गलाशासन रूप फूलों से पूजित हुए थे ॥ ६८ ॥

श्रीधन्विनूतनपुराधिपतिं वृणीष्व
वीथीसमग्रगमनं वटधामनाथम् ।
यो बालकेलिमुदितः पितृदत्तमाल्या-
दप्यानन्द कवरोज्झितदामभिस्ते ॥ ६९ ॥

श्रीधन्विनूतनपुर के अधिपति वीथीसमग्रगमन वटपत्रशायी भगवान् को स्वीकार कर ले, जो तेरी वाललीलाओं से परमप्रसन्न रहते थे, तेरे पिता की दी हुई वनमाला की अपेक्षा तुम्हारे केशपाश में बांध कर उतरी हुई मालाओं से अत्यधिक प्रसन्न हुआ करते थे ॥ ६९ ॥

आलोकयस्व कुरुकापुरसार्वभौमं
पूर्णस्थितादिमपतिं सरसीरुहाक्षि ।
यस्त्वत्पितृव्यवकुलाभरणप्रणीत-
गाथासुधाकबलकन्दलितप्रमोदः ॥ ७० ॥

हे कमलनयनी! कुरुकापुर के चक्रवर्ती 'आदिनाथपूर्ण' भगवान् को देख, जो तेरे पिता के भाई श्रीशठकोपसूरि की वनाई हुई गाथा रूपी अमृत के आस्वादन के कारण परमप्रसन्न हो रहे हैं ॥ ७० ॥

श्रीतुल्यधन्विशुभदक्षिणमाभिधान-
वैकुण्ठदक्षिणकुलन्दैवराङ्गनानाम् ।
चिश्चापुरीवरगुणप्रमदामनोज्ञ-
कर्णजपाह्वयपुरामधिपाः पुरोऽमी ॥ ७१ ॥

तुल्यधन्विशुभ, दक्षिणमाभिधान, वैकुण्ठ, दक्षिणकुलन्दै, वराङ्गना, चिश्चापुरी, वरगुणप्रमदा, और मनोज्ञकर्णजपा नामकी पुरियोंके अधिराज तेरे सामने उपस्थित हैं ॥ ७१ ॥

राजीवनेत्रमकरायतकर्णपाश-
चोरेन्द्रकैतवनटाह्वयदेवनाथान् ।
भूनाथमाधवनिविष्टमहानिधीशा-
नेतान्विलोकय पृथक्कुरुकन्तिकस्थान् ॥ ७२ ॥

राजीवनेत्र, मकरायतकर्णपाश, चोरेन्द्र, कैतवनट, देवनाथ, भूनाथ, माधवनिविष्ट, महानिधीश इन भगवानों को देख; ये सब कुरुकापुरीके पास रहनेवाले हैं ॥ ७२ ॥

वीक्षस्व वामनपुरीवरमालि दीर्घ-
हेमाकृतिर्द्रुहिणसप्ततिवन्दितो यः ।
साकं क्षुधासरसभैक्षसमर्पणेन
पार्श्वस्थभूतपतिशापमपाचकार ॥ ७३ ॥

हे आलि! वामनपुरी के अधिप भगवान् को देख! यह बडी हेम की आकृतिवाले हैं। इन्हें ७० ब्रह्मा वन्दना करते हैं। इन्होंने अमृत के समान मीठे भैक्ष्य को देने के साथ-साथ वगल में उपस्थित शिवके शाप को दूर कर दिया है ॥ ७३ ॥

नाभीसरोजगृहमेधिविरिञ्चभृङ्गः
श्रीमाननन्तपुरनायकपद्मनाभः ।
एष स्फुरन्मणिशिरोनिकरं फणीन्द्रं
कैलासशैलमिव कालघनोऽधिशेते ॥ ७४ ॥

देख! ये अनन्तपुरके अधिपति पद्मनाभ भगवान् हैं, इनकी नाभि में कमल है, जिसे घर मान कर निवास करनेवाले ब्रह्मा भोरें की तरह शोभायमान हुआ करते हैं। यह चमकती मणियों से प्रकाशित अनेकों शिरोंवाले शेष पर ऐसे सोते रहते हैं, जैसे कालमेघ, कैलासशैल पर सोता है ॥ ७४ ॥

आलोक्य केवलमनन्तशयं कटाक्षै-
रम्भोजकान्तिपरिपन्थिभिरायताक्षी ।
अन्यत्र साऽजिगमिषन्नियतिः प्रजानां
प्रारम्भवत्परिणतावपि चैकरूपा ॥ ७५ ॥

कमल की शोभा को परास्त करनेवाले कटाक्षों से केवल शेषशायी भगवान् को देख कर, गोदा दूसरी जगह की ओर जाने की इच्छा करने

लगी, क्यों कि प्रजाओं की नियतिस्वभाव आरम्भ की तरह अन्त में भी एकरूप ही होता है ॥ ७५ ॥

लक्ष्मीप्रकर्षपरिचारपुरेन्दिरेद्ध-
दोर्मध्यदक्षिणमरुत्तटलोकतातौ ।
श्रीमूष्णिधाम घटनर्तकमातरक्षु
ग्रामादिमध्यरुणशैलपुराल्पगोपम् ॥ ७६ ॥

लक्ष्मीप्रकर्ष परिचारपुर के वासी 'इन्दिरेद्धदोर्मध्य' नामक भगवान् को देख! इनके वक्षस्थलपर लक्ष्मी विराज रही है, तथा दक्षिणमरुत्तटस्थान के अधिपति 'लोकतात' भगवान् को भी देख! श्रीमूष्णिधाम के 'घटनर्तक' भगवान् को देख! 'मातरक्षु' ग्राम में बसनेवाले भगवान् एवं 'अरुणशैलपुर के' रहनेवाले 'अल्पगोप' भगवान् को देख! ॥ ७३ ॥

नारायणं महितनौपुरसन्निविष्टं
श्रीवल्लवाङ्पुर चिरश्रयमाणनाथम् ।
श्रीसारभृङ्गपुरपुङ्गवकेशवञ्च
निद्राणकेशवपतिं च परुष्णिहेशम् ॥ ७७ ॥

श्रेष्ठ नौपुर के वासी नारायण भगवान् को देख! श्रीवल्लवाङ्पुर के रहने वाले 'चिरश्रयमाणनाथ' को देख! श्रीसारभृङ्गपुर के प्रधान केशव भगवान् को देख! परुष्णिहा नाम के स्थान के अधिपति 'निद्राण केशवपति' भगवान् को देख! ॥ ७७ ॥

विद्वद्रदाख्यपुरनाथकटीसमाख्य-
स्थानेशतातसरिदृद्धिमदार्तिहेशान् ।
आलोक्य केरलपतीन्पृथगिन्दिरेशा-
नेतान्वृणीष्व वरमेकमहात्मनीनम् ॥ ७८ ॥

विद्वद्रदपुर के नाथ तथा कटी नाम के स्थान के अधिपति एवं 'सरिदृद्धिमदार्तिहेश' भगवान्, ये केरलदेशवासी भगवान्, अलग अलग बैठे हुए हैं, इनमें से किसी भी महत्वशाली को वर ले॥ ७८ ॥

आल्या तयेत्यभिहिता प्रणिपत्य भक्त्या
तानन्यमञ्चमभिगन्तुमना बभूव ।
भागीरथी प्रतिपयोनिधिमाव्रजन्ती
देशान्व्यतीत्य सुबहूनिव देशमन्यम् ॥ ७९ ॥

सखी के इस प्रकार कहने पर गोदा ने भक्तिभाव से उन सबको प्रणाम किया, पीछे दूसरे मंच की ओर चल दी। गङ्गा भी तो समुद्र को जाती वार रास्ते में बहुत से देशों को छोडकर दूसरे देश को जाती है—कहीं भी नहीं रुकती ॥ ७९ ॥

श्रीदेवनायकमपाङ्ग्य पङ्कजाक्षि
भ्राजिष्णुमैन्द्रनगरार्चितपारिजातम् ।
यः कौस्तुभं मणिमनीनयदिन्दिरायाः
दोर्मध्यमण्डपजुषो मणिकन्तुकत्वम् ॥ ८० ॥

इन्द्रनगर के अत्यन्तपूजित, पारिजात के समान देदीप्यमान 'देवनायक' भगवान् को देख ले। इन्होंने कौस्तुभमणि को वक्षस्थल को मण्डप वनाकर सेवन करनेवाली लक्ष्मी के खेल का मणिगेंद वना रखा है ॥ ८० ॥

तन्वङ्गि गोपपुरभूषणमेष दृष्ट्यो-
रातिथ्यमावहति दक्षिणशंखधारी ।
येन त्रिविक्रमवताऽद्य भवत्पितृव्य-
भक्तत्रयार्थमधिदेहलि संबभूवे ॥ ८१ ॥

हे पतले शरीरवाली! सामने से जो मेरे और तेरे दोनों के नेत्रों का आतिथ्य कर रहे हैं, ये गोपपुर के भूषण दक्षिणशंखधारी भगवान् हैं। तुम्हारे पिता के भाई सरोयोगी, भूतयोगी, और महदाह्वययोगी के लिये अवतरित हुए थे, जब कि उन तीनों ने वर्षा के मारे एक छोटीसी मट्टी की देहली के भीतर क्रमशः आश्रय लिया था, उन तीनों के वीच में ही ये भी उनको कृतकृत्य करने के लिये प्रकट हुए थे ॥ ८१ ॥

भूम्यैकमंघ्रिकमलं परिषस्वजेऽस्य
द्यावा परं करततिः पुनरष्टदिग्भिः ।
त्वञ्चानतांगि वपुरस्य परिष्वजस्व
संजातभूरिपुलकप्रकराभिरामम् ।। ८२ ।।

भूमि ने इनके एक चरणकमल का आलिङ्गन कर लिया है, दूसरे पादारविन्द का आलिङ्गन द्युलोक ने कर लिया है, इनके हाथों का आलिङ्गन आठों दिशाएं कर रही हैं। हे विनम्रभाववाली गोदे! नवे हुए चरणोंवाले इनके सुन्दर शरीर का तू आलिङ्गन कर। देख! तुझे देख कर जो इन्हें सात्विकभाव हुआ है, उससे उनकी पुलकावली खडी हो गयी है। इसी समय तू चाहे तो आलिङ्गन कर सकती है ।। ८२ ।।

काञ्चीपुरीपरिवृढं कलयस्व दृष्टया
वामाक्षि कञ्चन घनं वरदाभिधानम् ।
आविष्करोति विधिलोचनचातकानाम्
आनन्दभारमधिहस्तिमहीधरं यः ।। ८३ ।।

हे कटीले नयनोंवाली! काञ्चीपुरी के स्वामी वरदनामक अनिर्वचनीय मेघ को देख! जो हस्तिपर्वत पर ब्रह्मा के नेत्ररूपी पपीहा के लिये आनन्द का भार प्रकट करता है ।। ८३ ।।

अद्याप्ययं करिगिरेः पतिराङ्गिकीभि-
राभाभिरम्बुदकदम्बविडम्बिनीभिः ।
आभाति वैधसमहाहयमेधयागा
दाविष्क्रियासमयसङ्गतधूम्ययेव ।। ८४ ।।

अब भी यह हस्तिपर्वत का स्वामी मेघमालाओं को छका दनेवाली शरीर की आभा से इस प्रकार शोभायमान होता है, मानो ब्रह्मा के महा अश्वमेध से आविष्कार के समय इकट्ठा हुआ धूम समूह ही हो। भगवान् वरदराज ब्रह्मा के अश्वमेधयज्ञ के कुण्ड से प्रकट हुए थे ।। ८४ ।।

चूडामणेस्सुमनसां सुमुखि त्वमस्य
पाणिं गृहाण यदि चेत्प्रणयस्तव स्यात् ।
इत्यादरादभिहिताऽपि तमुज्जहौ सा
भावोऽनभीष्टविषयादितराभिलाषी ।। ८५ ।।

हे सुन्दरमुखवाली! यह सब देवताओं के माथे की मणि है, यदि तेरा इन में प्रेम हो तो तू इनका हाथ पकड ले। गोदा की सखी अनुग्रहा ने गोदा से यह बडे आदर से कहा था, पर गोदा उन भगवान् को छोड कर आगे बढ गयी। जिसपर भाव होता है, उसीको ग्रहण करता है, दूसरे की आवश्यकता नहीं रखता ।। ८५ ।।

अत्रैव सुन्दरि यथोक्तविधायिनाथः
यस्त्वत्पितृव्यविदुषो वचसाऽन्वयासीत् ।
आदाय भोगिशयनं पुनराप्य निद्रा-
मन्वर्थमस्य तदभूदभिधानमेतत् ।। ८६ ।।

हे सुन्दरी! यहां ही यथोक्तकारी भगवान् विराज रहे हैं, ये तेरे चाचा भार्गवीय के वचन से शेषको साथ लेकर पीछे-पीछे चल दिये एवं फिर पीछे लौट आकर जैसे भक्त भार्गवीय ने कहा, वैसे ही योगनिद्रा में सो गये। इस कारण इनका अन्वर्थ नाम यथोक्तकारी भगवान् हुआ ।। ८६ ।।

पाणिं गृहीष्यसि यदि त्वममुष्य सोऽपि
सन्तोषयिष्यति यथोक्तविधानतस्त्वाम् ।
इत्थं सखीनिगदिताऽपि न साऽन्वमंस्त
पीयूषभासि रमते किमु चक्रवाकी ।। ८७ ।।

यदि तू इनका पाणिग्रहण करेगी, तो यह भी जो तू कहेगी, उसे करके तुझे सन्तुष्ट करेंगे। अनुग्रहा के कहने पर भी गोदा ने अनुमोदन न किया। क्या चकवी कभी चांद के चांदने में रमण करती है? ।। ८७ ।।

पश्योपकाञ्चि परमेश्वरपुष्करेश-
श्रीपाटकेशशिशिरोपवनाधिनाथान् ।
पाथोनिवासपतिकामपुरीधुरीण-
ज्योत्स्नेन्दुखण्डपतिवारिदधामनाथान् ॥ ८८ ॥

हे सखी! कांची के परमेश्वर पुष्करेश, श्रीपाटकेश, शिशिरनामक बाग के अधिनाथ, पाथोनिवासपति, कामपुरीधुरीण, ज्योत्स्नेन्दुखण्डपति, वारिदधामनाथ, इन भगवानों को देखो ॥ ८८ ॥

वर्षानभोऽधिपतिचोरपतिप्रतीत-
ग्रामालयाधिपसमस्तविसृत्वरेशान् ।
आद्याष्टबाहुकमलास्थितधामनाथ-
श्रीपक्षिकुण्डपतितोयमहीध्रनाथान् ॥ ८९ ॥

१. वर्षानभोधिपति, २. चोरपति, ३. प्रतीतग्रामालयाधिप, ४. समस्त विसृत्वर के अधिप, ५. अष्टबाहु, ६. कमलास्थितधामनाथ, ७. पक्षिकुण्डपति, ८. तोय महीध्रनाथ, यह द्राविड भाषा के— १. कार्वानित्तुल्लान्, २. कल्वा, ३. ऊरहम्, ४. पेरादेन्नेञ्जिनुल्लान्, अनुवाद चार तक है। ६. से लेकर ८. तक, तिरुनिन्नवूरन् तिरुप्पुट्कुळिपति, तिरुनीर्मलै इन तीन नामों का अनुवाद है ॥ ८९ ॥

श्रीमत्स्थलेशपतिसागरमल्लनाथ-
श्रीमद्घटीश्वरलताह्लदनायकांश्च ।
एते विचित्रविभवा विविधाभिधानाः
कारुण्यपूर्णनयनाः कमलासहायाः ॥ ९० ॥

श्रीमत्स्थलेशपति, सागरमल्लनाथ, घटीश्वर, लताह्लदनायक ये अनेक तरह के विभववाले हैं, अनेकों इनके नाम हैं, इनके नयन दया से भरे हुए हैं, लक्ष्मी इनके साथ है। पहिला तिरुविडवेन्दै तथा दूसरा तिरुक्कडल्मल्लै इस द्राविड नामका अनुवाद है। घटिकाचलनाथ का श्रीमद्घटीश्वर शब्द से निर्देश किया गया है, लताहरनायक भगवान् का द्राविडनाम तिरुवेव्वुळ् है, जो हिन्दी में वीरराघव कहे जा सकते हैं ॥ ९० ॥

एतान्यदि प्रियतमानभिवाञ्छसि त्वं
वक्षस्थलैस्सममभी कमलाधिरूढैः ।
दद्युर्वपूंषि सकलान्यपि सुभ्रु तुभ्यम्
इत्यालिवाचमगणय्य गताऽन्यमञ्चम् ॥ ९१ ॥

यदि तू इन्हें अपना प्यारा बनाना चाहती है, तो ये कमला जिन वक्षस्थलों में बैठी हुई है, उन वक्षस्थलों के साथ, हे अच्छे भौंवाली! तुझे अपना सारा शरीर दे देंगे। पर गोदा सखी के इन वचनों की कुछ परवा न करके दूसरे मंच की ओर चली गयी ॥ ९१ ॥

एषोऽन्धवन्ध्यबधिरातुरकुब्जपंगु
मूकार्तिमोचनकलाकुशलो मुरारिः ।
लोकावनाय वसुधावलयावतीर्ण-
वैकुण्ठशेषगिरिभृङ्गसुरेन्द्रशाखी ॥ ९२ ॥

देख, ये भगवान् अन्धे, बन्ध्यों, बहरों, कुबडों, लूले और गूंगेके दुखों को दूर करने की कला में परमप्रवीण हैं, लोक की रक्षा के लिये भूवलय पर अवतीर्ण वैकुण्ठरूपी शेषगिरि के पवित्र कल्पवृक्ष हैं ॥ ९२ ॥

दोरन्तरालगृहमेधिपयोधिपुत्र्या
यः श्रीनिवास इति विश्रुतनामधेयः ।
रङ्गे फणीन्द्रमणिमञ्चशयं मुकुन्दं
शेषाद्रिनाथममुमाहुरभिन्नमार्याः ॥ ९३ ॥

इनके बक्षस्थल में इनकी गृहिणी, क्षीरसागर की पुत्री, लक्ष्मी रहती है। इससे यह श्रीनिवास के नाम से प्रसिद्ध हैं। देख! यह रङ्गक्षेत्र में शेष के माथे की मणियों की प्रभा में शयन करनेवाले भगवान् है, उन्हें और इन शेषाद्रिनाथ भगवान् को लोग एक ही कहते हैं ॥ ९३ ॥

वर्धिष्णुनिर्झररवे विकसत्कुमार-
वापीसरोजवनवासितवातपोते ।
श्रीवेंकटाद्रिकटके सुमनोभिनन्द्ये
रन्तुं गृहाण करमस्य विभोर्नताङ्गि ॥ ९४ ॥

जहां वढते हुए झरनों का शव्द हो रहा है, जहां कि स्वामिपुष्करिणी के खिले हुए कमलों के वन से सुगन्धि वायु का स्रोत वह रहा है, जो देवों से अभिनन्दित हो रहा है, ऐसे श्रीवेङ्कटपर्वत पर रमण करने के लिये, हे नमे हुए शरीरवाली ! इनके हाथ को पकड ले ॥ ९४ ॥

रङ्गेशयांशमपि वेंकटशैलनाथं
सा रङ्गिसक्तहृदया प्रययौ प्रणम्य ।
प्रायस्सतीक्षुरसशर्करयोरभेदे
लोकस्तृषा पिबति सम्भृतमिक्षुसारम् ॥ ९५ ॥

गोदा का हृदय भगवान् रङ्गनाथ में आसक्त था, इस कारण वेंकटेश भगवान् के रङ्गेश के अंश होने पर भी प्रणाम करके आगे चल दी। यद्यपि ईख के रस और खाढ दोनों में अभेद है, तो भी प्यास लगने पर वर्तनों में भरे हुए ईख के रस को ही लोग पीते हैं ॥ ९५ ॥

वामालके नयनमत्र विधेहि साल-
ग्रामाचलेन्द्रशिखराभरणेऽपवर्गः ।
पण्यं जनाय निरपायमनेन लक्ष्मी-
नारायणेन विदधे वसुधाविपण्याम् ॥ ९६ ॥

हे घुंघराले वालोंवाली ! यहां दृष्टिपात कर, ये सालग्राम पर्वत के शिखर के भूषण वंठे हुए हैं । इन लक्ष्मीनारायण ने दुनिया के वाजार में प्रपन्न पुरुषों के लिये अनश्वर मोक्ष की दूकान खोल रखी है ॥ ९६ ॥

इन्दीवराक्षि हृदयङ्गममिन्दिरायाः
विष्णुं विलोकय वियत्पुरिशायिनाथम् ।
आलम्बते झरवदञ्जनशैलशोभां
प्रालम्बदामकमनीयममुष्य गात्रम् ॥ ९७ ॥

हे कमलनयनी! जिसे उत्कट प्रेम के बल से लक्ष्मी ने अपने हृदय में बिठा रखा है, ऐसे वियत्पुरीशायिनाथ भगवान् को देख! लंबी-लंबी मालाओं से सुशोभित इनका शरीर झरनोंवाले अञ्जनपर्वत की शोभा पा रहा है ॥ ९७ ॥

वीक्षस्व नैमिशवने विहरन्तमालि!
विष्णुं रमाहृदयपद्मविहारिभृङ्गम् ।
धर्मं सनातनमुपादिशदादिमो यः
सूताननाद्वरतपस्विगणाय यत्र ॥ ९८ ॥

हे सखि! नैमिशवन में विचरनेवाले भगवान् को देख! यह लक्ष्मी के हृदयकमल पर विहार करनेवाले भौंरे हैं। इन आदि पुरुष ने सूतजी के मुख से श्रेष्ठ तपस्वियों के समूह को सनातनधर्म का उपदेश दिलाया था ।

तन्वङ्गि! जह्नुतनयातटखण्डधाम्नि
दृष्टिं क्षिपात्र पुरुषोत्तमपुण्यधाम्नि ।
नाथे समस्तजगतां निरपायभूम्नि
नानाचिरन्तनवचश्शिखरैकसीम्नि ॥ ९९ ॥

हे कृशांगी! गङ्गाजी के तटवर्ती खंडनामक पुण्यक्षेत्र में रहनेवाले भगवान् जो पुरुषोत्तम, नानाविध वेदान्तवचनों के मुख्य प्रतिपाद्य है, देख ॥ ९९ ॥

इत्थं तया निगदिता सुदृगन्यभावा
नाथे चकार जगतां न दृशं रसार्द्राम् ।
किं कोकिला स्फुरति पल्लविते रसाले
हृद्येऽपि जिघ्रति मुदाऽन्यतरुप्रवालम् ॥ १०० ॥

सुनयनी गोदा का भाव दूसरी जगह था, अतः अनुग्रहा के कहने पर भी गोदा ने जगन्नाथ भगवान् में सरस दृष्टि नहीं की। क्या, कभी कोयल नई-नई कोपल निकले हुए आम के दीखते रहने पर, दूसरे वृक्ष के सुन्दर प्रवाल को भी प्रसन्नता के साथ सूंघती है? ॥ १०० ॥

सोऽयं विभुर्बदरिकाश्रमसन्निविष्टः
नारायणो नरसखस्तपसां निवासः।
सत्वाधरीकृतरजस्तमसामृषीणां
तत्वावबोधमसकृत्तनुते शुभाङ्गि ॥ १०१ ॥

वहां यह नर के साथ वदरिकाश्रमवासी नारायण भगवान् हैं, यह तपों की निवासभूमि हैं, हे पवित्रशरीरवाली! जिन्होंने अपने सत्वगुण से रज तम को हटा दिया है, एसे ऋषियों को यह वहां वारंवार तत्वज्ञान देते रहते हैं ॥ १०१ ॥

देवेतरान्यजनसङ्गमदुस्सहान्त-
पञ्चास्यपञ्चशरपर्वतनायकोऽयम्।
हन्ता हिरण्यकशिपोरपहाय कोप-
मानन्दसिन्धुरधितिष्ठति योगमुद्राम् ॥ १०२ ॥

देख, यह देवों को छोड कर दूसरे जनों के सङ्गम को न सह सकनेवाले नरसिंग भगवान् हैं, और अहोबिल पर्वत के स्वामी हैं। इन्होंने हिरण्यकशिपु को मारा है। आनन्द के समुद्र ये क्रोध छोड कर योगमुद्रा में आसीन हैं ॥ १०२ ॥

नालीकदीर्घनयने! नरसिंहमूर्ति
श्रीप्रीतिपूःपतिममुं कलयस्व कान्तम्।
क्ष्वेलारवप्रसरणक्षुभितावरोधं
नाकौकसां रिपुमभिन्त नखायुधैर्यः ॥ १०३ ॥

हे कमल के दलों के से बडे-वडे नयनोंवाली गोदा! इन श्रीप्रीतिपुरी के अधिपति नरसिंहमूर्ति भगवान् को पति वना ले, जिन्होंने अपने सिंहनाद से अन्तःपुर की स्त्रियों को भयभीत करते हुए देवशत्रु हिरण्यकशिपु को अपने नखों से चीरा था ।। १०३ ।।

रामं विलोकय पुनस्तरलाक्ष्ययोध्या-
धौरेयकं दशरथार्णवपूर्णचन्द्रम् ।
आर्यां विदेहतनयामपहाय यस्य
स्त्रैणं मनो बहुतृणं गणयांबभूव ।। १०४ ।।

हे चञ्चलनयनी! अयोध्या के राजा रामको देख, यह दशरथरूपी समुद्र के पूर्णचन्द्र है, जिनका मन एक आर्या पूजनीया सीता को छोड कर अन्य स्त्रीसमुदाय को तृण के समान समझा था ।। १०४ ।।

एषोऽष्टदिव्यमहिषीभिरवाप्तकेलिः
श्रीमानुदीच्यमथुरापुरवासुदेवः ।
अङ्गीकुरुष्व जितमातुलकंसमेनं
भूयादयं नववधूपरिभोगहृष्टः ।। १०५ ।।

हे आलि! ये उत्तरदिशा के मथुरापुरके निवासी श्रीमान् वासुदेव भगवान् हैं, आठ दिव्य पटरानियों के साथ सदा खेलते रहते हैं, इन्हों ने अपने मामा कंस को जीता था । यदि इन्हें तुम स्वीकार कर ले तो यह भी नई वहू के सम्भोग से परमप्रसन्न होंगे ।। १०५ ।।

श्रीघोषबन्धुमवलोकय बालकेलि-
निर्धूतवत्सशकटार्जुनपूतनासुम् ।
कस्याश्चिदात्मसुषुमां हृदि चिन्तयन्त्याः
प्राणानसावहृत वल्लववल्लभायाः ।। १०६ ।।

हे प्यारी! श्रीघोष (गोकुल) वासी भगवान् को देख, इन्होंने वाललीला में ही वत्सासुर, शकटासुर, यमलार्जुन और पूतना के प्राण

ले लिये थे, इन्होंने अपनी परम शोभा का ध्यान करती हुई एक गोपकन्या (चिंतयन्ती) के प्राण भी हर लिये थे ॥ १०६ ॥

श्रीद्वारकापुरनिवासिनि वासुदेवे
कामं मृगाक्षि कलयस्व कटाक्षमस्मिन् ।
स्वान्तानि षोडशसहस्रवधूजनानां
क्रान्तानि येन युगपत्स्मरकेलिभङ्ग्या ॥ १०७ ॥

श्री द्वारकापुरी के निवासी इन कृष्ण पर यथेष्ट कटाक्षपात कर, जिन्होंने कामक्रीडा द्वारा एक ही समय में सोलह हजार रानियों के हृदयों को जीत लिया था ॥ १०७ ॥

पर्यङ्कितोरगपतिः प्रथमस्सुराणां
कान्ते! पुरस्स्फुरति ते कलशाब्धिनाथः ।
श्रीभूविलासहसितांकुरनिर्विशेषैः
क्षीरोदवीचिपटलैरभिषिक्तमूर्तिः ॥ १०८ ॥

हे सुन्दरि! जिसने सर्पों के राजा शेष को पर्यङ्क वना रखा है, जो देवगणों में सब से प्रथम है, वह क्षीरसागर शायी तेरे सामने वैठे हुए हैं, जिनका शरीर श्रीदेवी और भूदेवी के विलासहास के अंकुरों के समान क्षीरसमुद्र की तरङ्गों के समूह से अभिषिक्त हुआ करता है ॥

वैकुण्ठदिव्यनगराधिपतिः परोऽयं
व्यूहादिभिन्नहरिबृन्दमितोऽजनिष्ट ।
अब्धेरिवोर्मिकणबुद्बुदफेनजालं
रङ्गेश्वरोऽयमपि मौक्तिकवद्यदंशः ॥ १०९ ॥

यह जो तेरे आगे वैठे हैं, यह श्रीवैकुण्ठनामक दिव्यनगर के स्वामी परवासुदेव है, ये ही व्यूहादि भेदभिन्न भगवान् के रूपों में अवतार लेते हैं—जैसे समुद्र से वबूले फेन आदि के समूह उठते है। ये रङ्गनाथ भगवान् भी मोती के समान जिनके ही अंश हैं ॥ १०९ ॥

तत्रातिलङ्घ्य सकलानरविन्दनाभान्
श्रीरङ्गनायकमवाप मुदाऽनुरूपम् ।
उल्लङ्घ्य फुल्लकुमुदोत्पलहल्लकादीन्
हंसीव नव्यमरविन्दमरालकेशी ।। ११० ।।

सब भगवानों को छोड कर आनन्द से अपने अनुरूप श्रीरङ्गनाथ के पास गोदा पहुंची, जैसे हंसिनी खिले हुए कुमुद नीलोत्पल और हल्लकादिकों को छोड कर नये कमल के पास पहुंचती है ।। ११० ।।

सोऽयं पुरस्सुमुखि! सह्यसुतान्तरीप-
श्रीरङ्गधामपतिसौम्यवराधिराजः ।
तत्तादृशां परिणतिस्तपसां विधातुः
इक्ष्वाकुवंशधनमिष्टफलप्रदाता ।। १११ ।।

हे सुन्दरमुखवाली! तेरे सामने वही यह कावेरी के अन्तरीप पर बसे हुए श्रीरङ्गपुर का स्वामी सौम्यवराधिराज हैं, ये ब्रह्माजी के महान् तप के फल है और इक्ष्वाकुवंश के राजाओं के कुलधन एवं इष्टफल के देनेवाले हैं ।। १११ ।।

पारे सुधाकरसरः प्रणवात्मरङ्ग-
धामन्यनन्तफणिभोगपरार्ध्यमञ्चे ।
स्वापं प्रबोधमिलितं कलयन् सलीलं
योगेन भोगविभवानुभवं विधत्ते ।। ११२ ।।

चन्द्रपुष्करिणी के किनारे प्रणवात्मक रङ्गविमान के भीतर अनन्तसर्पराज के बिछाये हुए भोगरूपी श्रेष्ठ मञ्चपर योगनिद्रा लेते हुए भोगानुभव कर रहे हैं ।। ११२ ।।

वैकुण्ठतः प्रथममाविरभूदवन्यां
योऽर्चावतारमुरवैरिकदम्बकेषु ।
तारागणेषु विधुरद्रिषु रत्नसानू
रत्नेषु कौस्तुभ इवावहते प्रकाशम् ।। ११३ ।।

भगवान् के सव अर्चावतारों में यह सब से पहिले वैकुण्ठ से भूमण्डलपर अवतीर्ण हुए हैं, जैसे तारों में चांद चमकता है जैसे पर्वतों में सुमेरु अद्वितीय है, जैसे सब रत्नों में कौस्तुभ श्रेष्ठ है वैसे ही यह भी सब अर्चावतारों में श्रेष्ठ हैं ॥ ११३ ॥

कस्तूरिकाकलितपुण्ड्रमुखेन्दुचिह्नं
कल्हारदामकमनीयभुजान्तरालम् ।
कन्दर्पदर्पहररूपमुदारहासं
कान्तोपयन्त्रय करार्पणतस्त्वमेनम् ॥ ११४ ॥

इनके मुखचन्द्रपर कस्तूरी के तिलकों का चिह्न है, इनका वक्षस्थल कल्हार की माला से सुशोभित हो रहा है, इनका रूप कामदेव के गर्व को भी हरनेवाला है और इनका हास वडा ही गम्भीर है, इन्हें अपना हाथ देकर अपना प्यारा पति वना ले ॥ ११४ ॥

यं सूक्तिदामभिरुपांशु पुराऽवृणीथा
लावण्यरूपगुणरागवयोऽनुरूपम् ।
अग्रेऽधुना मुरभिदामिह पुष्पदाम्ना
तादृक्षमिन्दुमुखि रङ्गपतिं वृणीष्व ॥ ११५ ॥

जिन्हें तूने अपने सौन्दर्य रूप गुण प्रेम और वय के अनुरूप समझ कर स्तोत्ररूपी मालाओं से वरण किया था वही अव इन अर्चा भगवानों के बीच में वैठे हुए हैं। इन रङ्गनाथ को पुष्पमाला से वरण कर ले ॥ ११५ ॥

सानन्दबाष्पमकरन्दमुदग्रपक्ष्म-
किञ्जल्कमुज्वलविलोलकनीनिकालि ।
पूर्वं न्यधत्त नयनोत्पलदाम गोदा
रङ्गेश्वरे स्वकरहल्लकदाम पश्चात् ॥ ११६ ॥

सब से पहले गोदा ने अपने कटाक्षरूपी नीलकमल की माला भगवान् रङ्गराज को पहनायी इसके बाद अपने हाथों से कमलों की माला उनके गले में डाली। जैसे कमल के फूलों से रस वहता है वैसे ही आंख रूपी कमलों से आनन्द के आंसूरूपी पुष्परस बह रहे थे, दलों के समान ऊंचे उठे हुए पलक कुछ मिचे हुए थे, भ्रमरों के स्थान की पूर्ति उज्वल तथा चञ्चल आखों के काले-काले तारे कर रहे थे ॥ ११६ ॥

गीर्वाणबृन्दकृतकल्पकपुष्पवृष्टया
साकं सरःप्रभृतिसम्मदबाष्पवृष्टया ।
दृष्टया च केशवगणस्य पपात रङ्गि-
कण्ठे तदीयकरहल्लकदामयष्टिः ॥ ११७ ॥

जिस समय गोदा ने अपने करकमलों से भगवान् रङ्गराज के गले में कमल की माला डाली थी उसी समय देवताओं के समूहों ने उन पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा की। उसी समय सरोयोगी आदि की आखों से आनन्द के आंसुओं की वर्षा होने लगी थी और स्वयंवर में आये हुए सब भगवान् की दृष्ठि श्रीरङ्गनाथ भगवान् की ओर आकृष्ट हुई ॥ ११७ ॥

गोदार्पिताभिनवहल्लकमालयाऽस्य
वक्षःस्थलं विपुलमश्नुत रङ्गभर्तुः ।
बालांशुमत्किरणकन्दलसम्प्रदाया-
दूर्जस्वलस्य सुषुमां गगनाङ्गणस्य ॥ ११८ ॥

उदयकाल के सूर्य की किरणों के पड जाने से जो बडे सारे आकाश के आंगन की परमशोभा होती है, वही शोभा गोदा की पहिनाई हुई नई कमलमाला से इन रङ्गराज के विशाल वक्षस्थल को प्राप्त हुई ॥ ११८ ॥

तस्याः पाणिग्रहणविधये, विष्णुबृन्दानि वेधो-
मुख्या देवाः कमलजमुखांस्तान् पुरस्कृत्य भक्ताः ।
तार्क्ष्यारूढं सह तनयया विष्णुचित्तस्य जग्मुः
श्रीरङ्गेशं शठरिपुगृहप्रेप्सया राजमार्गम् ॥ ११९ ॥

गोद का पाणिग्रहण संस्कार कराने के लिये श्रीशठकोपसूरी के दिव्य सदन को पहुंचने की इच्छा से प्रेरित हो राजमार्ग से नातीवार ब्रह्मादिक देवता सब अर्चावतारों को आगे आगे करके आप पीछे चले देवताओं के पीछे-पीछे भक्तमण्डली चली जाती थी। गोदा के साथ गरुडपर बैठे हुए भगवान् भी चलते थे ॥ ११९ ॥

मुक्ताच्छत्रं फणिपतिरधाद्गन्धवाहाम्बुनाथौ
शुद्धां बालव्यजनयुगलीमुज्वले तालवृन्ते ।
चन्द्रादित्यौ हरशतमखौ तोत्रवेत्रे कलाचीं
यक्षेशोऽपि प्रथितगरुडाधिष्ठिते रङ्गराजे ॥ १२० ॥

जिस समय भगवान् रङ्गराज अपने प्रसिद्ध वाहन गरुड पर सवार हुए, उस समय शेषजी ने मुक्ताच्छत्र उनके शिरपर लगाया, वायुदेव और वरुण दोनों ने दो बालव्यजन हाथ में लिया, दो बडे-बडे उज्वल वीजना सूर्य और चन्द्रमा ने लिये; शिवके हाथ में तोत्र और इन्द्र के हाथ में वेत्र था, कुवेर के हाथ में कलाची थी ॥ १२० ॥

द्वादशस्सर्गः समाप्तः ।

त्रयोदशस्सर्गः

अथ प्रतिद्वारवितर्दिभागनिविष्टजाम्बूनदपूर्णकुम्भम् ।
मन्दारपुष्पस्तबकाचिताभिर्मनोहरं वन्दनमालिकाभिः ॥ १ ॥

कुरुकापुरी के राजमार्ग के प्रत्येक द्वार के प्रत्येक चबूतरे पर सोने के सुन्दर जलपूर्ण कलश रखे थे, मन्दार के फूलों के स्तवकों से बनाये हुए वन्दनवार प्रत्येक घर में लटकाये गये थे ॥ १ ॥

प्रासादबद्धोच्छ्रितकेतुमालं प्रत्यग्रपुष्पप्रकरावकीर्णम् ।
निस्साणतूर्यानकशङ्खभेरीनिस्वाननीरन्ध्रितसौधभागम् ॥ २ ॥

बडे-बडे महलोंपर ऊंची-ऊंची ध्वजा पताकाएं बन्धी हुई हैं, खिले हुए फूलों के डेरों से मार्ग ढके हुए मालूम होते हैं, निस्सान मृदङ्ग झांझ नक्कारे, शंख और ढोलक के शब्द से बडे-बडे महल शब्दायमान हो रहे थे ॥ २ ॥

प्रसिच्यमानं हिमवारिपूरैः प्रलम्बमुक्ताकलिकानुविद्धम् ।
नानामणिश्रेणिमहःप्ररोहप्रदर्शितानेकमहेन्द्रचापम् ॥ ३ ॥

ठण्डे पानी से नगर भर में छिडकाव किया गया था, स्थान स्थानपर मोतियों के वन्दनवार बांधे गये थे, नाना प्रकार की मणियों की पांतियां लगी हुई थीं जिनकी प्रभा की प्रखर किरणें बहुत से इन्द्रधनुषों की छटा दिखा रही थी ॥ ३ ॥

रङ्गाधिराजे कुरुकापुरस्य मनोज्ञमासेदुषि राजमार्गम् ।
तदा तदालोकनलोलुपानां वामभ्रुवां कश्चन विभ्रमोऽभूत् ॥ ४ ॥

पूर्वोक्तप्रकार के सुन्दरराजमार्ग पर जिस समय रङ्गनाथ भगवान् चलने लगे उस समय उनके देखने की उत्कट इच्छा रखनेवाली कुरुका-पुरी की स्त्रियों के मनोविकार से कोई विलक्षण हावभाव उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

ताटङ्कितैकश्रवणा प्रयान्ती न्यस्ताञ्जनैकेक्षणपङ्कजैका ।
एकांघ्रिणाऽङ्गीकृतपादुकाऽभूदनङ्गसीमास्थितिकारिणीव ॥ ५ ॥

कोई नारी श्रीरङ्गनाथ भगवान् के दर्शनों के लिये उतावली हो कर गडवडी मे एक ही कान में तटङ्की लगाकर, घर से दौड चली। दूसरी शीघ्रता के कारण कमल के से विशालनयनों में से एक ही में अञ्जन लगा कर दौड गयी। तथा कोई एक ही पैर में पादुका पहन कर उन्हें देखने को घर से निकल आयी, जैसे कामदेव की सीमा की स्थिति का निर्धारण कर रही हो। ये उत्सुकता की दशाएं सुन्दरियों की कामसीमा की स्थिति का कारण हो रही हैं ॥ ५ ॥

प्रासादवातायनमारुरुक्षुः काचित्प्रविष्टं मणिभित्तिभागे ।
पर्याकुला स्वप्रतिबिम्बमेव समाललम्बे परिचारबुद्धया ॥ ६ ॥

कोई महल के झरोखे पर चढकर बैठना चाहती थी पर अत्यन्त आकुलता से मणियों की भीत के एक भाग में पडे हुए अपने प्रतिविम्वको अपनी अनुचरी समझ कर चढने की सहायता लेने के विचार से पकडने लगी ॥ ६ ॥

अन्या तदालोकनपारवश्यादात्मीयवक्त्रप्रतिबिम्बभाजि ।
अग्रांगुलीसङ्गतमात्मदर्शे कस्तूरिकाचित्रकमाततान ॥ ७ ॥

एक स्त्री ने श्रीरङ्गनाथ भगवान् के दर्शनों की परवशता में कांच में पडे हुए अपने ही मुख के प्रतिविम्ब को देख कर अपनी अगली उंगली से वहीं पर कस्तूरी का टीका लगाने लगी ॥ ७ ॥

हस्तोद्धृतालक्तकपङ्कयाऽन्या कयाऽपि सैरन्ध्रिकया पुरन्ध्री ।
गृहीतपादा प्रतिपाद्य तस्यै प्रायादशोकद्रुमदोहदं सा ॥ ८ ॥

किसी सैरन्ध्रिका ने अपने एक हाथ में अलताका लेप लेकर दूसरे हाथ से किसी पुरन्ध्री के चरणों में लगाने की इच्छा से उसके पांव पकडा, किन्तु वह पुरन्ध्री भगवान् के दर्शनों की उत्सुकता में बिलकुल

बेबस हो रहीं थी। इससे उसने उस सैरन्ध्री को अशोकवृक्ष समझ कर संस्कार विशेष के वश अपने अलतालगे पांव से उसे दोहद देकर चलती बनी ॥ ८ ॥

नितम्बबिम्बापगलद्दुकूला निर्मुक्तबन्धाकुलकेशपाशा ।
जगाम गोविन्दपरायणाऽन्या दुःखं विनाऽपि द्रुपदात्मजाभाम् ॥ ९ ॥

किसीका मन भगवान् में लगा हुआ था, इस कारण वह भगवान् के दर्शन में लीन हो रही थी। कमर से धोती गिरी पडती थी, शिर के बाल खुल गये थे, द्रौपदी की जो दशा दुःख में हुई थी वही दशा इसकी दुःख के विना ही हो रही थी। एवं किसी कारण के विना यह द्रौपदी की छटा दिखा रही थी ॥ ९ ॥

आतन्वती हंसकमंसभागे केयूरमंघ्रौ रशनाञ्च कण्ठे ।
मुक्ताकलापं जघने च काचिद्विभूषणव्यत्ययमाचचार ॥ १० ॥

किसीने पैरों के पहिनने के बजने खडुये कन्ध के निकट के हाथ के हिस्से पर पहिन लिये तथा वहां का भूषण केयूर पैरों में पहिन लिया, और करधनी गले में लटका लिया, एवं गले के पहिनने का हार कमर में लटका लिया। इस प्रकार भूषण उलटे पुलटे कहीं पहिन लिये ॥ १० ॥

विस्रस्तधम्मिल्लभराच्चलन्त्याः पुष्पावलिर्निष्पतिता धराङ्गे ।
कस्याश्चिदासीत्सहसा व्रजेति पुष्पेषुणा मुक्तशरच्छटेव ॥ ११ ॥

कोई इतनी तेज चल रही थी कि शीघ्रता के मारे उसका केशपाश खुल गया, जिससे बहुत से फूल नीचे के अङ्गों यानी पांव पर गिर गये, वह फूल ऐसे मालूम हो रहे थे मानों कामदेव ने 'शीघ्र चल' ऐसा कह कर उसके पावों में पुष्पबाण का आघात किया हो ॥ ११ ॥

अस्मै वितीर्यालकदाम गोदा प्रापेदृशं भाग्यमितीर्ष्ययेव ।
सौधाधिरोहश्लथकेशमुक्तमाल्यच्छलात्काऽपि हरेः पुरोऽभात् ॥ १२ ॥

कोई अपने महल पर चढ रही थी कि शिर के केशपाश ढीले हो गये जिससे उसके शिरकी माला भगवान् रङ्ग के आगे गिर गयी, मानो जैसे अपने शिरकी माला देकर गोदा ने यह सौभाग्य प्राप्त किया था, वैसे मैं भी अपने शिरकी माला भगवान् पर चढा कर इस सौभाग्य को प्राप्त करूं, इस ईर्ष्या से यह ऐसा कर रही हो ॥ १२॥

कस्तूरिकापुण्ड्रकलङ्कितानां सुजातमन्दस्मितचन्द्रिकाणाम् ।
छन्नो वधूवक्त्रसुधाकराणां गणैरभूत्सौधगवाक्षमार्गः ॥ १३ ॥

महल के झरोखे का मार्ग तो वहुओं के मुखचन्द्रों से छिप गया था, इन मुखचन्द्रों से मन्दस्मित की चांदनी छिटकी हुई थी, यह मुखचन्द्र कस्तूरी के तिलकों से कलङ्कित हो रहा था ॥ १३ ॥

अहासिषुस्साकमगारकृत्यैरपत्रपां रङ्गिविलोकनोत्काः ।
आचारलाजानकिरन्समन्तात्साकं मृगाक्ष्यः करकङ्कणेन ॥ १४ ॥

सबके मन में रङ्गनाथ के देखने की उत्कण्ठा समायी हुई थी, इस कारण उन्होंने लाज छोड दिया था और साथ ही घर के काम करना छोड दिया, और श्रीरङ्गनाथ भगवान् के शुभागमन के अवसर पर राह में शिष्टाचारस्वरूप धान की खोई छीट रहे थे, हडवडी में उनके हाथ के कंगन भी गिर गये ॥ १४ ॥

रङ्गेन्दुसन्दर्शननिर्निमेषदृशो न निश्चेतुमलंबभूवुः ।
नरास्सुरास्सौधविमानभाजः पुराङ्गनास्तत्र सुराङ्गनाश्च ॥ १५ ॥

लोग यह निश्चय नहीं कर सके कि इन में कौन मानवी नागरियां हैं और कौन देवियां, क्यों कि भगवान् रङ्गनाथ के दर्शनों में लोगों की आखें निर्निमेष लग रही थीं ॥ १५ ॥

त एव गोदागुरवश्शठारिपुरोगभक्ताः खलु भाग्यवन्तः ।
येषां त्रिलोकैकधुरन्धरोऽयं जामातृतां रङ्गपतिर्जगाम ॥ १६ ॥

नगर की गली गली में यही चर्चा थी कि शठकोप स्वामी से लेकर जितने भी गोदा के पितृजन हैं, वे बडे भाग्यशाली हैं, जिन के जमाई तीनों लोकों का एक अद्वितीय धुरन्धर भगवान् रङ्गनाथजी महाराज आकर बने ॥ १६ ॥

गोदैव धन्या किल कन्यकासु यामादरात्संप्रति पर्यगृह्णात् ।
उपेक्ष्य रङ्गेन्दुरुरोगृहिण्यां पद्मालयायां प्रणयातिरेकम् ॥ १७ ॥

कन्याओं में गोदा ही धन्य है, जिसे इस समय भगवान् अपने वक्षस्थल में रहनेवाली कमलवासिनी महालक्ष्मी में के प्रेमातिशय की उपेक्षा करके विवाह रहे हैं ॥ १७ ॥

अर्चावतारेषु सुरानतेषु श्रीरङ्गधौरेयक एव धन्यः ।
यं पाणिदामार्पणतोऽवरिष्ट गोदा समक्षं सकलामराणाम् ॥ १८ ॥

जिन्हें देव वन्दना किया करते है ऐसे अर्चा अवतारों में भगवान् रङ्गनाथ ही धन्य हैं, जिन्हे गोदा अपने हाथ की माला पहनाकर देवताओं के सामने ही वरण किया ॥ १८ ॥

स्वाहेव वह्नेर्गिरिजेव शम्भोः छायेव सूर्यस्य शचीव जिष्णोः ।
रतिर्यथा पञ्चशरस्य गोदा श्रीरङ्गिणश्श्रीरिव वल्लभाऽभूत् ॥ १९ ॥

जैसे अग्नि की स्वाहा प्यारी है, जैसे गिरिजा शिव की प्यारी है, जैसी छाया सूर्य की और शची इन्द्र की प्यारी है, रति कामदेव की प्यारी है, वैसी ही विष्णु भगवान् की लक्ष्मी प्यारी पत्नी है। अब गोदा भी श्रीलक्ष्मी के समान रङ्गनाथ की प्यारी पत्नी हुई ॥ १९ ॥

एवंविधाः पौरविलासिनीनां शृण्वन् कथाः श्रोत्ररसायनानि ।
सम्मानयंस्तांश्च कटाक्षपातैश्शठारिवेश्मान्तिकमाससाद ॥ २० ॥

इस प्रकार नगर की विलासिनियों के कानों को प्यारी लगनेवाली बातें सुनते हुए तथा अपने कटाक्षपात से उन्हें सन्मानित करते हुए भगवान् श्रीरङ्गनाथजी शठकोप स्वामी के घर के समीप पहुंच गये ॥ २० ॥

सौधस्थिताभिः प्रति रङ्गराजं विमुक्तमिन्दीवरलोचनाभिः ।
कदम्बकं कौसुमकन्तुकानामपाकरोत्तार्क्ष्यगरुत्समीरः ॥ २१ ॥

ऊंचे ऊंचे महलों पर बैठी हुई कमलनयनियों ने रङ्गनाथ भगवान् के ऊपर फूलों की गेन्दों का समुदाय छोडा था, जिसे गरुडजी के पंखों की वायु दूर कर दिया ॥ २१ ॥

तार्क्ष्याधिरूढस्य हरेस्तदात्वे परांकुशाग्रेसरभक्तलोकः ।
कर्पूरनीराजनमङ्गलादि भक्त्या सपर्याविधिमाचचार ॥ २२ ॥

उस समय श्रीशठकोपादि भक्तलोगों ने गरुड पर चढे हुए भगवान् को कपूर से आरती की तथा भक्ति के साथ और भी पूजाएं की ॥ २२ ॥

रङ्गेन्दुरालम्ब्य करं हरस्य स्कन्धात्सुपर्णस्य तदाऽवतीर्णः ।
धात्रा कृतस्वस्त्ययनस्स भेजे शठारिणा दर्शितवर्त्म सद्म ॥ २३ ॥

भगवान् रङ्गनाथ गरुड के कन्धेपर सवार थे, जब उतरने की जगह आई तो शिव का हाथ पकड कर गरुड के कन्धे से उतर पडे । ब्रह्मा ने आपके लिये स्वस्तिवाचन किया । शठकोपस्वामी मार्ग दिखाते चले तथा ये घर के नियमित स्थान पर पहुंच गये ॥ २३ ॥

अनेकरम्भाक्रमुकाभिराममाबद्धमुक्ताफलमञ्जरीकम् ।
रङ्गेन्दुरारोपितरत्नदीपं वैवाहिकं मण्डपमाससाद ॥ २४ ॥

इसके बाद रङ्गनाथ भगवान् उस विवाह के मण्डप में पहुंचे, जो केले के वृक्षों से तथा सुपारी के गुच्छों से, मोतियों के झालरों से सुशोभित हुआ था, और रत्नों के दीपक जल रहे थे ॥ २४ ॥

आलम्बमुक्ताकलिकाप्रभाभिः आम्रेडितक्षौमवितानशोभाम् ।
चतुष्कवेदिं शठजिन्निनाय सभद्रपीठां सह गोदया तम् ॥ २५ ॥

लटकती हुई मुक्ताओं की कलियों की प्रभा से मण्डप की सफेद रेशमी चांदनी की शोभा दुगुनी हो रही थी, उसके नीचे चोरस वेदी बनी हुई थी, उस पर भद्रासन पीठ रख हुए थे, ऐसी चौक की वेदी पर शठकोप स्वामी ने गोदा और श्रीरङ्गनाथ भगवान् को बिठाया ॥ २५ ॥

शुभे मुहूर्ते सुरमन्त्रिक्लृप्ते पुण्योदकप्रोक्षितचारुमूर्त्योः ।
पितामहस्सादरमाबबन्ध तयोश्शये कौतुकमाशये च ॥ २६ ॥

बृहस्पतिजी ने जो शुभमुहूर्त विवाह के लिये निकाला था, उसी मुहूर्त में ब्रह्माजी ने पुण्योदक से इन दोनों सुन्दरमूर्तियों का प्रोक्षण किया, पीछे रङ्गनाथ भगवान् और गोदा के हाथ में विवाह का कौतुक (सूत्र) बांधा तथा दोनों के हृदय में भी कौतुक उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥

स सत्कृतः पद्मभवः पुरोधाः कृशानुमादाय घृतेन हुत्वा ।
वधूवरौ तस्य च सन्निधाने संयोजयामास समानरागौ ॥ २७ ॥

इस विवाह के पुरोहित ब्रह्माजी बने हुए थे, विवाहमण्डप में उपस्थित जो व्यक्ति थे, उन्होने ब्रह्माजी का खूब सत्कार किया। ब्रह्माजी ने अग्निस्थापन करके उसमें हवन किया, पीछे परस्पर में समान प्रेमवाले वरवधुओं को उस अग्नि के समीप संयुक्त कर दिया ॥ २७ ॥

करं गृहीत्वा सुदृशः करेण रङ्गाधिपस्सातिशयं रराज ।
स्पृष्ट्वा यथा चण्डकरः करेण सरोरुहिण्याश्शतपत्रकोशम् ॥ २८ ॥

जिस समय रङ्गराज ने सुनयनी गोदा का पाणिग्रहण किया, उस समय उनकी शोभा वैसी अकथनीय थी जैसी शोभा सूर्य की किरणों के शतदलवाले कमलिनी के कोश का छने पर होतो है ॥ २८ ॥

ररराज पाणिग्रहणप्रसङ्गे तयोः करात्स्वेदपयःकणालिः ।
अन्योन्यरागव्यतिहारक्लृप्तेः धारेव वारां मदनेन दत्ता ॥ २९ ॥

पाणिग्रहण के समय उन दोनों के हाथ से पसीने की बून्दों का सोता लग गया था। यह इस प्रकार शोभायमान होता था कि मानों कामदेव ने आपस के प्रेम को एक दूसरे में करने के लिये पानी की धार वहा दी है ॥ २९ ॥

कुतूहलात्पूर्वमुदञ्चितानि पश्चात्त्रपाभारनिकुञ्चितानि ।
विरेजुराविष्कृतविभ्रमाणि तयोस्तदाऽन्योन्यविलोकनानि ॥ ३० ॥

रङ्गराज और गोदा ने पहिले तो आनन्द के वश में हो कर अपनी आंखों को एक दूसरे पर डाला, पीछे स्वाभाविक लज्जा के कारण अपनी दृष्टिको संकुचित कर लिया। फिर उन आंखों में कुछ विलासचेष्टा आने लगी। इन दोंनों की देखादेखी में यह दशा हुई ॥ ३० ॥

जायापती हव्यवहं ज्वलन्तं प्रदक्षिणं तौ बभतुश्चरन्तौ ।
प्रातः प्रबुद्धं परितोऽरविन्दं कृतप्रचाराविव राजहंसौ ॥ ३१ ॥

वे दोनों पतिपत्नी जलती हुई अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए इस प्रकार शोभित होते थे, जैसे प्रातःकाल के खिले हुए कमल के चारों ओर घूमते हुए राजहंस शोभायमान होते हैं ॥ ३१ ॥

धात्रा प्रयुक्ता परिणेतृपाणिस्थितेन गोदा करसंपुटेन ।
अमन्दमन्दाक्षविवर्तिताक्षी चकार सप्तार्चिषि लाजमोक्षम् ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजी ने गोदा से कहा कि वर के हाथों पर अपने हाथ रख कर अग्नि में खीलों का हवन करो, तव गोदा लज्जा के बडे भारी वेग से, आखों को बदल करके वर के हाथों पर रखे हुए हाथों से सप्तजिह्वावाली अग्नि में खीलोंका हवन करने लगी ॥ ३२ ॥

शिखावतो लाजविमोक्षकाले धूमावलिः प्राज्यहविस्सुगन्धिः ।
मुहूर्तमापद्यत कातराक्ष्याः मुखारविन्दे भ्रमरालिशोभाम् ।। ३३ ।।

गोदा अग्नि में खीलों को छोडने के लिये जिस समय झुकी हुई थी, उस समय अग्नि से प्रभूत हवि की सुगन्धियुत धूम छटा उठ रही थी, जिसकी तरफ झुकते ही गोदा की आखें कतराने लगी, एवं वह धूम छटा थोडी देरके लिये गोदा के मुखकमल पर भोंरे की शोभा पाने लगी ।। ३३ ।।

स चोदितश्शङ्करवासवाभ्यामश्मानमारोपयतिस्म तस्याः ।
दोर्भिश्चतुर्भिश्चरणं चिकीर्षुः प्रायःस्वहृत्कौस्तुभसङ्गयोग्यम् ।। ३४ ।।

शिव और इन्द्र के कहने पर श्रीरङ्गनाथ गोदा के चरण को चारों हाथों से उठाकरके सिला पर चढाया, इस लिये कि इस चरण को अपने वक्षस्थल में रहते हुए कौस्तुभमणि के सङ्ग के योग्य बनाना था ।।३४।।

इत्थं स गोदां परिणीय रङ्गी स्तुतो हरब्रह्ममुखैरमर्त्यैः ।
यथा विरेजे न तथा पयोधेः अवाप्य लक्ष्मीं मरुतां समक्षम् ।। ३५ ।।

इस प्रकार रङ्गनाथ भगवान् ने गोदा के साथ परिणय कर लिया। ब्रह्मा और महादेव आदि जितने भी देवता हैं, सबने खूब स्तुतियां की। उस समय उस मण्डली में जिस शोभा को श्रीरङ्गनाथ भगवान् प्राप्त हुए, वह शोभा उन्हें क्षीरसमुद्र से महालक्ष्मी को प्राप्त करने में भी नहीं मिली थी ।। ३५ ।।

सत्कर्तुमीशाजमुखांश्छठारिः श्रीरङ्गिसेनापतिमादिदेश ।
गोविन्दसंघान् मधुरं कविं च महीपतिं वल्लभदेवपाण्ड्यम् ।। ३६ ।।

शठजित् ने श्रीरङ्गनाथ के सेनापति विष्वक्सेन को आज्ञा दी कि शिव ब्रह्मा आदि जो देव आये हुए हैं, इनका सत्कार करो, एवं मधुरकवि और पाण्ड्य के अधिपति वल्लभदेव महाराज को आज्ञा दी कि ये जो १०८ गोविन्द भगवान् आये हुए हैं, इनका सत्कार करो ।। ३६ ।।

तन्मङ्गलाशासनतत्परेभ्यः सरश्शठारातिपुरस्सरेभ्यः ।
गोदागुरुभ्यो दिशतिस्म मुक्तिं शुल्कं तदा रङ्गपतिः प्रहृष्टः ॥ ३७ ॥

उस समय सरोयोगी शठकोप स्वामी प्रभृति जितने भक्तवर्य आये थे, सबके सब मङ्गलाशासन करने में लगे हुए थे। उस समय श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने प्रसन्न हो कर मंगलाशासन में तत्पर सरोयोगी शठकोप प्रभृति गोदा के पितृवर्ग को गोदा के कन्याशुल्क के वदले में मुक्ति दी ॥३७॥

वितीर्य तन्मातृजनाय रङ्गी साकं तदालीपरिचारिकाभिः ।
गोदासखस्तत्र वरानभीष्टान् गान्धर्वपर्यङ्कगतोऽशयिष्ट ॥ ३८ ॥

श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने अभीष्टवस्तुओं को गोदा के मातृवर्ग सखियों तथा परिचारिकाओं को अभीष्टवर देकर वहां ही रात होने के कारण गोदासमेत गान्धर्वपर्यङ्क पर शयन किया ॥ ३८ ॥

श्रुत्यन्तवन्दी शठकोपमुख्यप्रपन्नलोकः क्षणदावसाने ।
जगत्त्रयीरक्षणजागरूकं प्राबोधयद्रङ्गपतिं स्तवेन ॥ ३९ ॥

वेदान्तों के द्वारा स्तुतिपाठ करनेवाले शठकोप आदिक प्रपन्न जनों ने प्रातःकल के सगय स्तवों द्वारा श्री रङ्गनाथ भगवान् को जगाना प्रारम्भ किया, जो श्री रङ्गनाथ भगवान् तीनों लोकों की रक्षा में सदा सजग रहनेवाले हैं ॥ ३९ ॥

एष स्वपादाहतिविह्वलेष्टसरोजिनीशोकविमर्शरुष्टात् ।
उदेष्यतस्त्रस्त इवोष्णरश्मेः स्रस्तांशुकोऽस्ताचलमेति चन्द्रः ॥ ४० ॥

यह चांद चांद के किरणों के प्रहार से व्याकुल हुई प्यारी कमलिनी के शोक के विचार से रुष्ट उदय होनेवाले सूर्य से डरे हुए की नाईं, किरणों को गिरा कर अस्ताचल को जा रहा है। जैसे कोई डरपोक डर के मारे ढीली धोती को किडिढाये हुए कहीं छिपने की प्रयत्न कर रहा है। यह चन्द्रमा मानों उदय होते हुए सूर्यं से डर कर अपने गिरे हुए अंशु का (वस्त्रका) भी ध्यान न करके अस्ताचल को भागा जा

रहा है, क्यों कि इसने [चन्द्रमाने] अपने किरणरूप चरणों के आघात से सूर्य की प्यारी कमलिनी को विह्वल कर दिया था ।। ४० ।।

त्यक्ताम्बरस्स्पष्टतमात्मचिह्नः निमीलिताघूर्णिततारकाभः ।
कामीव विस्रस्तकरो विभाति सोमोऽपराशासुदृशोपभुक्तः ।। ४१ ।।

रात भर किसी दूसरी सुनयनी का भोगा हुआ, सब कुछ दीखता हुआ नङ्गा तथा मिची हुई आखों के घूमते हुए तामेंवाला एवं ढीले हाथों वाला कामी जैसा दीखता है, वैसा ही दिशारूपी सुनयनी का भोगा हुआ चांद दीख रहा है। आकाश को छोड चुका है, कलङ्क परिस्फुट दीख रहा है, उसके चारों ओर धूमनेवाले तारों की आभा मिचसी गयी है, किरणें ढीली हो गयी हैं। अम्बर चिह्न तारक और कर ये द्व्यर्थक हैं। पश्चिम दिशारूपी कामिनीका उपभोग करने के कारण चन्द्रमा की दशा परस्त्रीगमन करनेवाले कामी पुरुष के समान हो रही है, अर्थात् वह त्यक्तवसन, स्पष्टसंभोगचिह्न, निमीलितनयन, घूर्णिततारक और विस्रस्तकर हो रहा है । यहां अम्बर, चिह्न, तारक और कर ये द्व्यर्थक शब्द हैं ।। ४१ ।।

दृष्ट्वाऽपराशादयितानुरक्तं कुमुद्वती सत्पतिमीर्ष्ययेव ।
धत्ते मुखं संकुचितं सहेत का वाऽन्यनारीविहृतिं प्रियस्य ।। ४२ ।।

कुमुद्वती अपने सुयोग्य पति को पश्चिमदिशारूपी प्यारी से अनुरक्त देख कर इर्ष्या के मारे अपने मुंह को सिकोडे हुए बैठी है, क्यों कि ऐसी कौनसी स्त्री होगी जो अपने पति के परस्त्रीविहार को सहन किये बैठी रहेगी ।। ४२ ।।

अग्रेसरस्तस्य सहस्रभानोरनूरुरेवाच्छिनदन्धकारम् ।
प्रायेण तेजस्विपुरस्सराणां स्थातुं पुरः कः प्रभवेदरातिः ।। ४३ ।।

सूर्य तो दूर रहा, उस के आगे चलनेवाले अरुणने ही अन्धकार नष्ट कर दिया। अधिकांश यह वात सत्य है कि तेजस्वी जनों के आगे आगे चलनेवालों के सामने कोई वैरी टिक नही सकता ।। ४३ ।।

विकस्वराणामुदरेऽम्बुजानां विजृम्भिता षट्पदगीतिभङ्गी ।
तनोति तन्मध्यविबुद्धलक्ष्मीपदस्खलन्नूपुरशिञ्जिताभाम् ॥ ४४ ॥

खिले हुए कमलों के बीच में भौंरों के तरह तरह के गुञ्जार की ध्वनि आने लगी है, यह ऐसी मालूम होती है कि जगी हुई कमलासना के पैरों के नूपुरों की ध्वनि हो रही हो ॥ ४४ ॥

एकस्स्वपत्कैरवसंपुटान्तः परिभ्रमन्तीं भ्रमरीं निरीक्ष्य ।
कृतारवो मोचयते द्विरेफश्चलत्पतत्राञ्चलघट्टनाभिः ॥ ४५ ॥

किसी भौंरे ने मुकुलित होते हुए सफेद कमल के सम्पुट के भीतर घूमती हुई भ्रमरी को देखा, जिस से वह भी गुञ्जार करता हुआ चलते हुए पंखों रूप अञ्चल के आघात से आवरण को हटा कर भोंरी को निकाल लेने में तत्पर हुआ ॥ ४५ ॥

कुमुद्वतीं संकुचितां विहाय मधुव्रतः कश्चन मंजुनादः ।
विकस्वरं प्रेप्सति पुण्डरीकं सापायमेकोऽपि न लम्बते हि ॥ ४६ ॥

कोई मधुर गुंजार करनेवाला भौंरा कुम्हिलाई हुई कुही को छोड कर खिले हुए इच्छित कमल पर आ गया, यह वात प्रसिद्ध है कि आपद युक्त स्थान का कोई भी अवलम्बन नही लेता ॥ ४६ ॥

निशातरुण्याश्शशिनाऽन्वितायाा व्योमस्थलीतल्पविकीर्णमर्कः ।
नक्षत्रवेणीकुसुमं तमिस्रकस्तूरिकाभिस्सह मार्ष्टि पादैः ॥ ४७ ॥

व्योमस्थली की शय्या पर निशारूपी युवती चन्द्रमा के साथ सो रही थी, और नक्षत्ररूपी शिर के वालों के फूल गिर पडे थे, अन्धकाररूपी कस्तूरी के साथ उन फूलों को अपनी किरणरूपी चरणों से सूर्य पोंछ रहा है ॥ ४७ ॥

प्रत्यूषतो वासवदिक्तरुण्यां जाते सुजाते दिननाथबिम्बे ।
निमीलिताम्भोरुहकोशकारानिकेतनात् षट्चरणा विमुक्ताः ॥ ४८ ॥

पूर्वदिशारूपो युवती में प्रातःकाल से सूर्यमण्डल का जन्म हुआ और थोडे हीं समय में भली भांति निकल आया, जिसके निकलते ही कमल खिले गये एवं संकुचित कमलों के कोशरूपी कारागृह में जो भोंरे वसे हुए थे वे, सब कमलों के खिल जाने पर उन में से छूट कर उडने लग गये ॥ ४८ ॥

बालातपो नूतनपल्लवाभां द्रुमेषु शैलेषु च धातुशोभाम् ।
आम्रेडितामब्जरुचिं सरस्सु काश्मीरकान्ति कुरुतेऽङ्गनासु ॥ ४९ ॥

प्रातःकाल के सूर्य की घाम ने वृक्षोंपर पड कर उनपर नये पल्लवों की शोभा फैला दी, पहाडोंपर धातुओं की शोभा चमका दी, सरोवरों में पडते ही कमल के फूलों की शोभा को दुगुनी कर दी, तथा स्त्रियों के शरीरपर पडते ही केसर की शोभा कर दी ॥ ४९ ॥

बालातपालोहितपद्मपर्णपाथःकणानब्जगताण्डबुद्ध्या ।
हंसीं स्पृशन्तीमवलोक्य चञ्च्वा हंसो हसत्यम्बुजकोशवर्ती ॥ ५० ॥

प्रभातकाल के सूर्य की रोशनी से भली भांति लाल हुए कमल के पत्तों पर पडी हुई पानी की बूदों को अण्ड मान कर चोंच से पकडती हुई हंसी को देख कर कमलकोश पर खडा हुआ हंस हंस रहा है ॥ ५० ॥

भास्वानवाप प्रथमाद्रिशृङ्गं घनं तमो भिन्नमभूत्प्रभातम् ।
प्रफुल्लपुष्पात्स्रवते मरन्दो रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५१ ॥

हे रङ्गेश्वर! सूर्यनारायण उदयाचल की चोटी पर पहुंच गया, घना अन्धकार जाता रहा, सवेरा हो आया, खिले हुए फूलों से मकरन्द टपक रहा है, आप नींद त्याग कर उठिये ॥ ५१ ॥

प्रसूनगन्धी नवमल्लिकायाः पूर्वो मरुद्वाति हि नाथ पक्षौ ।
विधूय हंसो बुबुधेऽब्जशायी रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५२ ॥

पूर्वी हवा नई चमेली के फूलों की सुगन्धि लिये हुए चल रही है, कमलों पर सोनेवाला हंस अपने पंखों को फरफरा कर उठ खडा हुआ है, हे रङ्गेश्वर! आप अपनी नींद को त्याग उठ वैठें ॥ ५२ ॥

दिक्ष्वर्कदीप्तिर्विततोडुकान्तिः मग्नास्तरोचिर्हिमरुग्गतोऽस्तम् ।
आवाति पालीसुरभिस्समीरो रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५३ ॥

इस समय दिशाओं में सूर्यनारायण का प्रकाश फैल रहा है, तारों की आभा नष्ट हो गयी है, चन्द्रमा भी फीका फीका अस्त हो रहा है, देखो! हवा सुपारी के गुच्छों के गन्ध को लिये हुए चल रही है, हे रङ्गेश्वर! नींद त्यागकर उठ वैठिये ॥ ५३ ॥

उद्यानमुद्यद्द्रुतपक्षिजालं रात्रिर्गता व्युष्टमितोऽब्धिघोषः ।
मालाकरो देवगणोंघ्रिसेवी रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५४ ॥

वाग में वाग के पखेरू अपनी पंखों को फरफरा कर वैठ गये हैं, रात समाप्त हो चुकी, प्रभात हो गया, रात को जो समुद्र गरज गरज कर वढ रहा था, इस समय उसका गरजना समाप्तसा हो गया है। चरण सेवक देवगण मालाओं को हाथ में लिये हुए खडे हैं, हे रङ्गेश्वर! नींद को त्याग कर उठ वैठें ॥ ५४ ॥

गोष्ठेषु गोपाहितवेणुनादः मोक्षे महिष्या वृषहुंकृतिश्च,।
व्याप्तोऽलिझङ्कारवो दिशासु रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥

जहां गायें वांधी जाया करती हैं वहां गाओं को जंगल में ले जाकर चरानेवाले ग्वाले वंशी वजा रहे हैं, भैंस के खोलने के अवसर पर विजार हुंकार कर रहे हैं, भोरों की झंकार का शब्द दिशाओं में व्याप्त हो गया है, हे रङ्गेश्वर! नींद को त्यागकर उठिये ॥ ५५ ॥

रथेषु सूर्या वृषभेषु रुद्राः गुहो मयूरे वसवो मरुद्भिः ।
सनृत्तगीतिस्तुतयोऽङ्गणे ते रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५६ ॥

आपके आंगन में द्वादशादित्य रथ पर सवार हो, और एकादश रुद्र वैलों पर चढ कर तथा मोर पर षडानन सवारी करके नाचते गाते हुए स्तुति कर रहे हैं। मरुतों के साथ वसु भी आप के आंगन में आकर नाच गाकर आप की प्रार्थना कर रहे हैं, हे रङ्गेश्वर! नींद को छोड कर उठ बैठें ॥ ५६ ॥

अमी सुराणां मुनयो मरुद्भिः इन्द्रो गजो द्वारि निपीड्यमानम् ।
गन्धर्वविद्याधरयक्षबृन्दं रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५७ ॥

ये देवर्षि आप के दरबार में खडे हुए हैं, मरुद्गणों को साथ लिये हुए इन्द्र भी आपकी हाजिरी बजा रहा है, आपका हाथी भी आप के द्वार पर खडा हुआ है, गन्धर्व विद्याधर और यक्षों का समुदाय आप के जाग उठने की प्रतीक्षा कर रहा है, हे रङ्गेश्वर! नींद त्याग उठ बैठिये ॥ ५७ ॥

निधिव्रजोद्यत्कपिलात्मदर्शाद्यर्घास्सुरास्तुम्बुरुनारदाद्याः ।
प्राप्ता मुनीन्द्राश्च रविर्दिवीन्धे रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥

निधियों का समूह कपिला गौ, काच आदि सामग्रियों को लेकर देवता लोग आ गये हैं, तुम्बुरु और नारद आदिक गानविद्याविशारद तथा महामुनिजन सब आ गये हैं, सूर्य आकाश में प्रदीप्त हो रहा है, हे रङ्गेश्वर! नींद को छोड कर उठ बैठिये ॥ ५८ ॥

मृदङ्गवीणामुखवाद्यनादैः गानं पुरः कैन्नरगारुडं तत् ।
गन्धर्वसिद्धादिगणस्सभार्थी रङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ५९ ॥

मृदङ्ग और वीणा आदि बाजों के शब्द के साथ किन्नर व गरुड सामने हो रहा है। गन्धर्व और सिद्धों का समुदाय आपकी सभा में आना चाहता है, हे रङ्गनाथ! नींद को त्यागकर उठ वैठिये ॥ ५९ ॥

फुल्लाब्जमभ्युद्गतभानुबिम्बं स्नाताङ्गनाधूतकचार्द्रचेलम् ।
उषःस्फुटं सह्यसुतापरीतरङ्गेश्वरोत्तिष्ठ विहाय निद्राम् ॥ ६० ॥

कमल खिल चुके, सूर्यमण्डल निकल आया, स्त्रियां स्नान करके अपने बालों को सुखा रही हैं, शिर धुल चुके, कपडे भीगे हुए हैं, प्रातः काल परिस्फुट प्रतीत हो रहा है, कावेरी से घिरे रहनेवाले रङ्गेश्वर! नींदको छोड कर उठ बैठिये ॥ ६० ॥

समाकृतिस्रक्तुलसीभरोद्यत्प्रसूनपेटीघटितांसभागः ।
भक्तांघ्रिरेणुर्दशगाथयेत्थमर्घं वितेने द्रमिडोक्तिमय्या ॥ ६१ ॥

सुन्दर तुलसी की मालाएं और तुलसीदल की भरी हुई बांस की खुली पेटी कन्धे पर लटकाये हुए भक्तांघ्रिरेणु भी द्रविडभाषा की अपनी दश गाथाओं से आपकी पूजा कर रहे हैं ॥ ६१ ॥

प्राबोधकं सूक्तिकदम्बमित्थं भक्तैश्शठारातिमुखैः प्रणीतम् ।
आकर्ण्य कर्णामृतमम्बुजाक्षः प्राबुद्ध रङ्गाधिपतिः प्रभाते ॥ ६२ ॥

इस प्रकार के वन्दीपाठ शठकोप आदि मुनिवर्यों ने कहे थे, जो रङ्गनाथ भगवान् को अमृत के समान मीठे मालूम होते थे, जिन्हें सुनते ही कमलनयन रङ्गनाथ भगवान् जाग पडे ॥ ६२ ॥

ततस्समुत्थाय विभातयोग्यान्निर्वर्त्य रङ्गी नियमानशेषान् ।
मुरारिबृन्दारकसूरिभूपचयान्निजांघ्रिप्रवणान् ददर्श ॥ ६३ ॥

इस के बाद उठे और प्रातःकाल के करने के सब नियमों से निवृत्त होकर अपने चरणों में चित्त लगाये हुए जो १०७ भगवान् सब देवता भक्तगण और सब राजा लोग उपस्थित थे, उनको देखा ॥ ६३ ॥

अथाधिरुह्याधिपतिं खगानां स गोदया साकमुपास्यमानः ।
मुकुन्दबृन्दारकभक्तबृन्दैः प्रतिष्ठतेस्म प्रति रङ्गधाम ॥ ६४ ॥

इसके बाद पक्षिराज गरुड पर गोदासमेत सवार हो गये । जो समीप में उपस्थित थे, वे सब विनम्रभाव से उपासना करते रहे । आपने रङ्गधाम के लिये प्रस्थान कर दिया ॥ ६४ ॥

यियासति श्रीमति रंगराजे स्वानौपवाह्यानधिरूढवन्तः ।
गृहीतबालव्यजनादयस्ते सर्वेऽपि कैङ्कर्यपरा बभूवुः ।। ६५ ।।

श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने जब श्रीरंगक्षेत्र चलने की इच्छा की तब उनके पास जो खडे हुए थे, वे चामरादिक ले अपनी अपनी सवारियों पर चढ चले और सेवा में तत्पर हो गये ।। ६५ ।।

धाता मरालं हरयस्सुपर्णान् हरो वृषं वज्रधरः करीन्द्रम् ।
देवा विमानानि नृपास्स्ववाहान् आरुह्य भक्तैश्च तमन्वगच्छन् ।।

ब्रह्मा हंस पर चढे, १०७ भगवान् अपने अपने गरुड पर सवार हुए, शिवने अपना वैल संभाला, इन्द्र ने हाथी की सवारी ली, देवता विमानों पर लद गये, अन्य राजालोग अपनी अपनी सवारियों पर सवार हो रङ्गनाथ भगवान् के पीछे पीछे हो लिये । भक्त लोग भी इन के साथ साथ चल पडे थे ।। ६६ ।।

पतत्रवातप्रसरावधूतपयोमुचा पत्ररथेश्वरेण ।
गच्छंस्तदा रंगपतिस्सहेलं मोदेन गोदामिति वाचमूचे ।। ६७ ।।

भगवान् गरुड पर चढे हुए आकाश मार्ग से श्रीरङ्गक्षेत्र को जा रहे हैं, गरुड की पंखों के वेगसे बादल इधर उधर चलते फिरते हैं, उस समय आप प्रसन्नता में ओतप्रोत होकर हंसते हुए गोदा से ऐसा कहने लगे ।। ६७ ।।

पश्याग्रतः पर्वतसार्वभौमं कान्ते पटीरद्रुमबृन्दसान्द्रम् ।
यस्मिन् मुनीन्द्रः कबलीकृताब्धिः करोति वासं कलशीकुमारः ।। ६८ ।।

देख प्रिये! यह अपने आगे पर्वतों का राजा आ गया है। देख! इस पर चन्दन के वहुत से सघन वृक्ष लगे हुए हैं, इसी पर्वत पर कुम्भज मुनिराज वास करते हैं, जो समुद्र को एक चुल्लू कर पी गये थे ।। ६८ ।।

तन्वि त्वमालोकय ताम्रपर्णीं पटीरमुक्तागरुचारुगात्रीम् ।
यां पावनीमद्रिरसावनैषीत्पत्युर्नदीनां प्रथमावरोधम् ।। ६९ ।।

हे दुबले से शरीरवाली! इस ताम्रपर्णी नदी को तो देख! यह इस का कलेवर चन्दन मुक्ता और अगरु से कैसा शोभायमान हो रहा है, जिसे उस पर्वत ने नदीपति महासागर को पहली पत्नी के रूप में पहुंचायी ॥ ६९ ॥

वेगेन गोदे! विनतासुतस्य तीर्त्वा क्षणाद्वेगवतीप्रदेशात् ।
आमोदमेदस्विसुजातवातमारामभूमीधरमागतौ स्वः ॥ ७० ॥

हे गोदे! गरुड के वेग से बहुत थोडी देर में वेगवती के प्रदेश को पार करके उस बाग के पर्वत पर आ गये हैं, जिसके संपर्क से हवा सुगन्धि सारवाली बन जाती है ॥ ७० ॥

आलोकयारामगिरिं पुरस्तात्क्रीडागिरिं सुन्दरि मामकीनम् ।
यत्प्रान्तसीमा हरति प्रजानां जनिश्रमं मन्मृगयाश्रमञ्च ॥ ७१ ॥

हे सुन्दरि! सामने बाग के पर्वत को देख। यह मेरा क्रीडा पर्वत है, जिसके प्रान्त की सीमा मनुष्यादिकों के जन्म के परिश्रम को तथा मेरे मृगयाश्रम को हर लिया करतीं है ॥ ७१ ॥

मञ्जीरसिन्धूर्मिविहारशीतमाधूतनानासुमनस्सुगन्धिम् ।
आरामशैलः कुरुते पुरस्तादुपायनं मन्धरगन्धवाहम् ॥ ७२ ॥

यह मेरा क्रीडापर्वत मंजीरा नदी की लहरों के विहार से ठण्डी एवं गिरे हुए अनेक तरह के फूलों की सुगन्धि को लिये हुए जो मन्दी मन्दी हवा चल रही है, उसे सामने से हमारा भेंट कर रहा है ॥ ७२ ॥

शाखाग्रनिर्भिण्णशशाङ्कबिम्बक्षरत्सुधापूरभृतालवाला ।
अत्रावली स्वादु वनस्पतीनां फलं ददातीति किमत्र चित्रम् ॥ ७३ ॥

इस बाग के ऊंचे पेडों की शाखाओं से चांद का मण्डल छिद जाता जिस से अमृत चू चू कर शाखाओं के द्वारा आलबालों में आकर इकट्ठा हो जाता है, ऐसे ऐसे पेडों तथा वनस्पतियों का समुदाय जो मीठे फल दे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥ ७३ ॥

अस्मिन्ननालम्बनभोविहारमातन्वतामर्कतुरंगमाणाम् ।
मञ्जीरसिन्धुर्मरुदंकुरोत्थैः अम्भःकणैश्श्रान्तिमपाकरोति ॥ ७४ ॥

विना किसी आलम्वन के सूर्य के घोडे आकाश में चलते चलते जव इसके ऊपर आ जाते हैं, तो मंजीरसिन्धु हवा के झोखे से उडाये गये पानी के कणों से, उन घोडों के परिश्रम को दूर कर देते हैं ॥ ७४ ॥

अत्रेयमाभाति हरिन्मणीनामभीशुपाली परिजृम्भमाणा ।
पतंगरश्मिप्रकटाभियोगात् त्रस्ता तमिस्रा शरणागतेव ॥ ७५ ॥

यहां यह चारों ओर फैलती हुई हरितमणियों की पांतियां ऐसी मालूम होती हैं कि सूर्यनारायण की किरणों के आक्रमण से डरी हुई रात यहां शरणागत हो कर आयी है ॥ ७५ ॥

झरेण पार्श्वद्वयनिस्सृतेन बिम्बेन मूर्ध्नि स्फुरता सुधांशोः ।
उत्क्षिप्तबालव्यजनातपत्रः व्यनक्त्यसौ क्षोणिधराधिपत्यम् ॥ ७६ ॥

इस पर्वत को दोनों पाश्र्वों की ओर वहते हुए सफेद पानी के झरने चमर या सफेद वालों के वीजने की शोभा दे रहे हैं, शिर पर चन्द्रमण्डल छत्र वना हुआ है, इनसे यह अपने पर्वतों के आधिपत्य को दिखा रहा है ॥ ७६ ॥

उपत्यकापातविसृत्वराणां कदम्बकैर्निर्झररश्मिकाणाम् ।
आशांगनानां स्तनभूधरेषु हारावलीकान्तिमसौ विधत्ते ॥ ७७ ॥

यह पर्वत अपनी उपत्यकाओं में गिरने के कारण फैले हुए झरनों की किरणों की पांतियों से दिगङ्गनाओं के स्तनस्थानीय पर्वतों पर मुक्ताहारों की शोभा कर रहा है ॥ ७७ ॥

मरन्दपूरैस्सह माधवीनां मञ्जीरसिन्धोः प्रवहन्ति कुल्याः ।
मधुव्रतानां पटलेन साकं कादम्बिनी चात्र करोति केलिम् ॥ ७८ ॥

मञ्जीर सिन्धु की छोटी छोटी लहरियां माधवी लताओं के फूलों की मधु के प्रवाह के साथ वह रही हैं, यहां मेघमालाएं भौंरों के दल के साथ खेल कर रही हैं ।। ७८ ।।

अरण्यमालोकय चोलपाण्डचमध्यस्थितं तन्वि! महद्‌गभीरम् ।
यत्रासते भानुमदंशुपुञ्जाद्वित्रासमुत्सृज्य तमस्समूहाः ।। ७९ ।।

हे पतले से शरीरवाली गोदे! चोल और पांडच के बीच के वन को देख, यह कितना वडा गम्भीर है, यहां ही दिन में अन्धकार का समुदाय सूर्यकिरणों के समुदाय से होनेवाले भय को छोड कर रहता है।। ७९ ।।

कलापिचञ्चूधृतकञ्चुकीन्द्रफणामणिप्रापितदीपिकेषु ।
क्रीडां वितन्वन्ति किरातयोषाः गुहागृहेष्वत्र कुशेशयाक्षि ।। ८० ।।

हे कमलनयने! किरातों की स्त्रियां इस वन की गुफारूपी गृहों में मोर के चोंच से पकडे गयें सांपों के फनों की मणियों के दीपक के प्रकाश में क्रीडा कर रही हैं ।। ८० ।।

चोलेषु दृष्टिं सुतनो! विधेहि कवेरकन्यासलिलाप्लुतेषु ।
मन्दानिलान्दोलितपूगपाली-निष्यन्दिशीथूत्करदुर्दिनेषु ।। ८१ ।।

हे सुन्दर शरीरवाली! चोलदेश पर दृष्टि डाल, यह कावेरी के पानी से भीगा हुआ रहता है, तथा इस देश में मन्द मन्द वायु से हिलती हुई सुपारी के गीले रस के समुदाय से सदा दुर्दिन वना रहता है ।। ८१ ।।

गोदे! पुरः पश्य पतिं नदीनां महानसं मन्मथमर्दनस्य ।
उत्पत्तिभूः पत्युरसावुडूनां शय्यागृहं शाश्वतमस्मदीयम् ।। ८२ ।।

हे गोदे! देख यह सामने समुद्र है, कामदेव के मर्दन करनेवाले का (शिव का) यह महानस (पाकशाला) है, तथा नक्षत्रों के पति चन्द्रमा की यह जन्मभूमि है, और हमारा तो यह सदा का शयनागार ही है ।। ८२ ।।

अयं धरण्याः प्रियमन्तरीयममुं समस्तास्सरितश्श्रयन्ते ।
आविष्कृतं किञ्चन निर्जराणामायुष्कलाकारणमप्यनेन ॥ ८३ ॥

यही भूमि का प्यारा कटिवस्त्र है, इसी में आकर सब नदियां गिरती हैं, देवताओं की उम्र बढाने की कला का कारण भी इसने प्रकट किया था ॥ ८३ ॥

सारम्भजम्भारिकराधिरूढनिशातदम्भोलिनिपातभीतान् ।
शैलाधिराजान् शरणार्थिनोऽयं वीचीभिराकारयतीव हस्तैः ॥ ८४ ॥

क्रोधाविष्ट जो इन्द्र, उसके हाथ में धारण किये गये पैने वज्र के गिरने के डर से भयभीत अत एव शरणार्थी पर्वत राजों को, यह समुद्र तरङ्गरूपी हाथों से, शरण देनेवाले के कर्तव्य को पालन करता हुआ मालूम होता है, बुला रहा है ॥ ८४ ॥

सैरावतोच्चैःश्रवसा च जिष्णुं यो जीवनेनापि च कालमेघम् ।
सोमेन चेशं सुधया च देवान् श्रीकौस्तुभाभ्याममपि मामताप्र्सीत् ॥

इसने ऐरावत हाथी और उच्चैःश्रवा घोडे से इन्द्र को तृप्त किया, कालमेघ को पानी से प्रसन्न किया, चांद से शिव को प्रसन्न किया, अमृत से देवताओं को तुष्ट किया, और लक्ष्मी और कौस्तुभ रत्न से मुझे तृप्त कर दिया ॥ ८५ ॥

परोपकारप्रतिपादनेन स्पर्धेत कस्सार्धमनेन साध्वि! ।
कल्पद्रुचिन्तामणिकामधेनुमुख्याश्च यज्जन्मजुषो वदान्याः ॥ ८६ ॥

हे साध्वि! परोपकार के प्रतिपादन में इसके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है, कल्पवृक्ष चिन्तामणि कामधेनु आदि भी इसीसे जन्म पाकर वर देनेवाले हुए हैं ॥ ८६ ॥

पश्यार्णवाभ्यर्णवने चरन्तं बलाहृताध्वन्यधनाहितेन ।
परान्तकं भागवताहंणेन प्रसादलिप्सुं मम पद्मनेत्रे! ॥ ८७ ॥

कमलनयने! इस परकाल को देख, यह समुद्र के समीप के वन में विचर रहा है तथा पथिकों के धनको वलपूर्वक छीन कर उससे किये गये वैष्णवपूजन द्वारा मुझे परितुष्ट करना चाहता है ॥ ८७ ॥

अद्याध्वगालोकनजागरूकान् अश्वत्थश्रृङ्गे विनिवेश्य योधान् ।
आस्तेऽत्र कान्ते! तदलाभखिन्नो मद्भक्तपूजाविरतेरसोढा ॥ ८८ ॥

हे प्रिये! इस समय यह परकाल पथिकों के देखने में सजग जो अपने वीरों को अश्वत्थ के शृङ्ग पर विठाकर स्वयं पथिकों के न मिलने के कारण खिन्नचित्त होकर वैठा हुआ है, यह इस वात को सहन नहीं करता कि मेरे भक्तों की पूजा बन्द हो ॥ ८८ ॥

मनोरथं वैष्णवभक्तितुष्टः प्रपूर्य तन्वङ्गि! परान्तकस्य ।
संयोज्य तं त्वत्कपितृव्यवर्गे तदीयकैङ्कर्यसुखं भजेयम् ॥ ८९ ॥

हे दुवले से शरीरवाली! मैं परान्तक की वैष्णवपूजा से परम प्रसन्न हूं। मैं अव इसके मनोरथ को पूरा करके इसे तेरे पिताओं की कोटी में पहुंचा कर, इसके द्वारा की गयी सेवाओं के सुख को भोगूंगा ॥ ८९ ॥

इत्यूचिवांस्तार्क्ष्यहयाधिरूढो जामातृवेषोचितभूषणश्रीः ।
आतिष्ठतास्मै भगवान् सभार्यः पुरोहितेनात्मभुवाऽनुयातः ॥ ९० ॥

यों कहकर भगवान् वर की वेषभूषा से सजे हुए, गोदासमेत गरुड को ही घोडा वना कर गोदा समेत उसपर चढे हुए, परान्तक के सामने आये। इनके पीछे पीछे पुरोहित ब्रह्माजी भी आ गये ॥ ९० ॥

नासीरसेनापतिपाल्यमाननागाननाग्रेसरपारिषद्यैः ।
धृतोपबर्हप्रकरैः परीतः फणीश्वरोत्क्षिप्तसितातपत्रः ॥ ९१ ॥

उस समय रङ्गनाथ भगवान् सेनामुख में सेनापतियों से सुरक्षित जो नागान, आदि सभासद थे, उनसे चारों ओर से घिरे हुए थे, और ये सब ऐश्वर्य के उपकरण को लेकर चल रहे थे, तथा शिरपर शेषनाग ने सफेद छत्र चढा रखा था ॥ ९१ ॥

योधैस्तदाऽधिष्ठितपिप्पलाग्रैः प्रदर्शितं सौम्यवरं विलोक्य ।
तुतोष तद्वित्तमसौ जिहीर्षुः यथाऽतिथेयोऽतिथिदर्शनेन ॥ ९२ ॥

परकाल के डाकू सिपाही पीपल की चोटी पर चढे हुए थे। इन्हों ने सुन्दर वर को दिखाया, उस समय तक परकाल को कोई भी लूट के लिये नहीं मिला था। देखते ही उनके धन छीनने की इच्छा से प्रेरित हो इस तरह प्रसन्न हुआ जैसे कि अतिथिसत्कार करनेवाला अतिथि को देख कर प्रसन्न होता है ॥ ९२ ॥

उदायुधैश्चोरभटैः परीतः कुत्रापि गुल्मे निभृतं निगूढः ।
त्यजत्यजाकल्पमिति ब्रुवाणो मुकुन्दमासन्नमसौ न्यरोत्सीत् ॥ ९३ ॥

परकाल के चोर वीरों ने अपनी तलवारें खींच रखी थी, जिनसे यह चारों ओर से घिरा हुआ था, किसी भी गुल्म के वीच इस तरह छिपा हुआ था कि इसे कोई देख न सके। आते हुए भगवान् को यह कहता हुआ कि, जो भी कुछ भूषण तेरे पास है, रख दो, रख दो, झठ आगे जाना रोक दिया ॥ ९३ ॥

आलोक्य घुष्यद्विरुदानकेन विधूतखण्डेन विभुं निरुद्धम् ।
क्रुद्धेभवक्त्रादिगणामराणां कोलाहलः कोऽपि तदा जजृम्भे ॥ ९४ ॥

उस समय परकाल के यश को घोषित करनेवाले नगाडे बज रहे थे। तलवार को घुमाते हुए आगे से रङ्गनाथ भगवान् को रोके हुए परकाल को देखकर गजानन आदि देववर्ग में क्रोध के कारण अभूतपूर्व कोलाहल मच गया ॥ ९४ ॥

अग्रेसरस्तस्य तदाशयज्ञो रङ्गेशसेनापतिरुज्जिहानान् ।
सुरान् गणेशानपि वेत्रभृङ्गस्पन्देन निष्पन्ददशामनैषीत् ॥ ९५ ॥

भगवान् रङ्गनाथ के आगे चलनेवाला उनका सेनापति भगवान् के मतलव को अच्छी तरह समझता था। उसने वेत की नोक के इशारे

से उन सजग हुए सुर और गणेशों को शान्त कर दिया, जो परकाल को देखकर सजग हुए थे ।। ९५ ।।

प्रशान्तवृन्दारकबृन्दवेगं निवृत्तगन्धर्वकदम्बगर्वम् ।
निरुद्धसिद्धप्रकरानुभावं विसृष्टविद्याधरवीरवादम् ।। ९६ ।।

देवों के समुदाय का वेग शान्त हो गया, गंधर्वों के समुदाय का गर्व निवृत्त हो गया, सिद्धों के समुदाय का प्रभाव रुक गया, विद्याधरों का वीरवाद चला गया ।। ९६ ।।

अपास्तवेधोरथपक्षपातमपेतभूतेशवृषप्रणादम् ।
अपोढशक्रद्विपबृंहितं तदाज्ञावशाद्व्योमतलं बभूव ।। ९७ ।।

उनकी (सेनापती की) आज्ञा से आकाश ऐसा हो गया जिसमें कि ब्रह्मा के रथ हंस के पंखों का पुरपुराना वन्द हो गया, शिव के वैल की रभाना न जानें कहां चली गयी, इन्द्र के हाथी की चिग्घारना न जानें कहां चली गयी। इस तरह आकाश निश्शब्द हो गया ।। ९७ ।।

मन्दायिताडम्बरपारिषद्यं वाचंयमीभूतपरांकुशादि ।
निराकृतोर्वीपतिदोर्विलासं निरस्तपत्रेशपदप्रचारम् ।। ९८ ।।

और वारात में होनेवाला कोलाहल ढीला पड गया, परांकुश आदि भक्त मौन हो गये, राजाओं की भुजाओं का विलास दूर हो गया, गरुड के पैरों का चलना शान्त हो गया ।। ९८ ।।

समुज्झिताशेषशकुन्तघोषं निश्चेष्टसिंहादिसमस्तसत्वम् ।
निर्मारुतं निश्चलवृक्षमासीच्चित्रस्थवद्भूतलमाज्ञयाऽस्य ।। ९९ ।।

और इनकी आज्ञा से वन के पक्षियों की ध्वनि न जाने कहां चली गयी, सिंह आदि सारे प्राणी चेष्टारहित हो गये, हवा का चलना वन्द हो गया, जिससे पेड निश्चल हो गये, मानो भूतल चित्रलिखितवत् हो गया ।। ९९ ।।

एवं विभौ तस्थुषि निर्विकारे महाम्बुराशाविव निस्तरङ्गे ।
आकल्पपेटीरपहृत्य तूर्णमङ्गाच्च तस्याभरणान्यहार्षीत् ॥ १०० ॥

इस प्रकार भगवान् ऐसे निर्विकार खडे हो गये थे, जैसे कि किसी महासमुद्र ने अपनी तरङ्गों का उठना बिलकुल रोक लिया हो, उस समय परकाल ने शीघ्र ही आकल्पपेटी (भूषणों की पेटी) को छीन कर उनके अङ्गों से भी आभरणों को छीन लिये। (अलङ्कार सामग्री रखने की पेटी को आकल्प पेटी कहते हैं) ॥ १०० ॥

हृत्वा विभूषास्स यदा तदङ्गान्मुद्रोर्मिकां नाक्षमत ग्रहीतुम् ।
तदा जिघृक्षुर्दशनैर्विदश्य तत्प्राप देवात्कलियाभिधानम् ॥ १०१ ॥

परकाल रङ्गनाथ भगवान् के अङ्गों के आभूषणों को छीन कर जव उनकी मुद्रिका यानी नाम से मुद्रित अंगूठी छीना, तो वह उसे ले न सका, तब उसे लेने की इच्छा से उसने उसे दातों से काटकर छीन लिया। उसी समय रङ्गनाथ भगवान् ने परकाल का नाम 'कलियन्' (समर्थ) रख दिया ॥ १०१ ॥

एवं हृतैराभरणैस्तदङ्गादापूरितामात्मभटैस्सहापि ।
पेटीं समुद्धर्तुमसावशक्तो जगाद रोषात्सपुरोधसं तम् ॥ १०२ ॥

इस प्रकार परकाल ने रङ्गनाथ भगवान् के शरीरों से आभूषण उतार-उतार कर एक पेटी भर ली। जब उसको अपने सिपाहियों की पूंण सहायता से भी न उठा सका, तब क्रोध से प्रेरित होकर पुरोहितजी समेत रङ्गनाथ भगवान् को कहने लगा कि ॥ १०२ ॥

ममाद्य को वा युवयोरवादीन्मञ्जूषिकोत्तम्भनभङ्गमन्त्रम् ।
इत्यूचिवांसं धृतखड्गमूचे विधिर्न मे कृत्यमिदं वरस्य ॥ १०३ ॥

इस समय आप दोनों में से किसने मेरी मंजूषा के उठाने को स्तम्भनमन्त्र (रोकने का मन्त्र) पढा है, यह कहते हुए हाथ में तलवार

लिये हुए परकाल को देख कर ब्रह्म वावा ने कहा कि यह हमारा काम नहीं है, यह तो इसी वर का काम है ॥ १०३ ॥

श्रुत्वा वचस्तस्य वरं जगाद मञ्जूषिकोत्तम्भनहेतुमन्त्रम् ।
ममाधुना ब्रूहि न चेदनेन क्रुद्धो हनिष्यामि महासिना त्वाम् ॥ १०४ ॥

ब्रह्मा के वचन सुनकर परकाल ने वर से कहा, कि 'यह पेटी उठाने का मन्त्र कहो, नहीं तो मैं क्रुद्ध होकर इस महाखड्ग से तुम्हें मार डालूंगा' ॥ १०४ ॥

इत्यूचिवांसं तमुवाच देवः पेटीसमुत्क्षेपकलार्हमन्यम् ।
वक्ष्यामि मन्त्रं भवतस्तदर्थं स्नात्वा त्वमागच्छ स चाकृतोक्तम् ॥

ऐसे कहते हुए परकाल से भगवान् बोले कि मैं पेटी उठाने की कला के योग्य दूसरा मन्त्र कहूंगा, उसके लिये आप स्नान करके चले आयें। यह सुनते ही परकाल स्नान करके चला आया ॥ १०५ ॥

अपारसंसारमहाम्बुराशिमज्जज्जनोत्तम्भनलब्धवर्णम् ।
अष्टाक्षरं मन्त्रवरं विनाम्य श्रीमानुपादिक्षदधोक्षजोऽस्मै ॥ १०६ ॥

जिसका पार पाना परम कठिन हैं, ऐसे संसाररूपी महासमुद्र में डूवते हुए जन को उठाने में समर्थ, ऐसे आठ अक्षरोंवाले श्रेष्ठ मन्त्र का उपदेश परकाल को नमस्कार करा करके भगवान् ने दिया ॥ १०६ ॥

अस्योपदेशेन तमस्यपास्ते ज्ञानोदये तादृशि जृम्भितेऽस्मै ।
स्वं रूपमष्टाक्षरमन्त्रवाच्यं प्रादर्शयद्विश्वमयं मुकुन्दः ॥ १०७ ॥

इस अष्टाक्षरमन्त्र का श्रीभगवान् के मुंह से उपदेश होते ही परकाल के अज्ञान का नाश हो गया तथा उत्तमज्ञान का उदय हो गया। उस समय रङ्गनाथ भगवान् ने अष्टाक्षर मन्त्र के वाच्य अपने विश्वमय स्वरूप के भी परकाल को दर्शन दिया ॥ १०७ ॥

तथैव बद्धासिकमंसकूटे तार्क्ष्यस्य लक्ष्म्या सह गोदया च ।
पञ्चायुधालंकृतबाहुदण्डं स्तुतं विरिञ्चाग्रसरैस्सुरैश्च ।। १०८ ।।

वैसे ही दोनों पैरों को नीचे लटकाये हुए लक्ष्मी और गोदा के साथ गरुड के कन्धे पर वैठे हुए थे, पांचों आयुधों से वडी-बडी भुजाएं शोभायमान थीं, ब्रह्मा आदि जितने देवता थे, वे सव आपकी स्तुतियां कर रहे थे ।। १०८ ।।

समीक्ष्य बाष्पाम्बुभृतेक्षणस्य रोमाञ्चसञ्छन्नकलेबरस्य ।
आनन्दसिन्धुर्हृदयस्थितोऽस्य स्तवस्वरूपेण बहिर्जजृम्भे ।। १०९ ।।

इस प्रकार देखकर परकाल की आखों में आंसू भर आये, शरीर में रोमांच हो आया, जो आनन्द का समुद्र परकाल के हृदय में विराजमान था, वह स्तुति के रूप में बाहर निकल आया ।। १०९ ।।

चतुर्युताशीत्यधिकं सहस्रं गाथा यदीया द्रमिडोक्तिरूपाः ।
चक्रे बृहच्छ्रीवचनाभिधानं स तादृशं प्राथमिकं प्रबन्धम् ।। ११० ।।

उस समय परकाल ने द्राविडभाषा की १०८४ गाथाओं में एक बृहच्छ्रीसूक्त (पेरिय तिरुमोऴि) नाम का प्रवन्ध रचा, यह अपने ढङ्ग का अनूठा परकाल का पहला प्रबन्ध था ।। ११० ।।

स्वस्मै स्वरूपं सविभूति विष्णुरष्टाक्षरेण प्रकटीचकार ।
नीव्या सह द्रव्यमिवेदमर्थं स तत्र पद्यैर्दशभिर्बबन्ध ।। १११ ।।

श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने अष्टाक्षर मन्त्र से अपने निजस्वरूप को प्रकट किया था, जैसे कि कोई दाता धन के साथ वह बांधने का वस्त्र भी देता है। इस अर्थं का परकाल ने पूर्वोक्त ग्रंथ के दस पद्यों से विवरण किया ।। १११ ।।

तत्रायमुत्कूलसुधाप्रवाहहृद्यैश्शतन्यूनसहस्रपद्यैः ।
तुष्टाव रङ्गेश्वरपार्श्वभाजो नारायणान् साष्टशतालयेन्द्रान् ।। ११२ ।।

वहीं परकाल ने नौ सौ पद्यों से १०८ भगवानों की स्तुति की। ये उस समय रङ्गनाथ भगवान् की वगल में उपस्थित थे। उन पद्यों की रचना इतनी मधुर है जिसे देख कर यह मानना पडता है कि अमृत का प्रवाह किनारा काट कर वह रहा है ॥ ११२ ॥

असौ चतुष्षष्ट्यधिकेन विष्णून् गाथाशतेनैष दशावतारान् ।
तत्रावशिष्टैर्दशभिश्च पद्यैः सार्धं तदा रङ्गिणमेवमाह ॥ ११३ ॥

इन्हों ने १६४ गाथाओं से विष्णु भगवान् के दशों अवतारों की स्तुति की। अवशिष्ट दशपद्यों से साथ के साथ रङ्गनाथ भगवान् की स्तुति की और रङ्गनाथ से कहा ॥ ११३ ॥

साशीविषे गेह इवोपविष्टं सांयात्रिकं मारुतभिन्ननावि ।
द्रुमं सरिद्भिन्नतटे द्विभागलग्नाग्निकाष्ठे च पिपीलिकौघम् ॥ ११४ ॥

हे विभो! सांपवाले घर में रहनेवाले की जैसी दशा होती है, जैसी कि हवा से टूटी हुई नाव में बैठे हुए व्यापारी की जो दशा होती है, जैसी नदी से कटे किनारे के वृक्ष की दशा होती है, जैसी दोनों शिरे जिस के दहक रहे हैं, उस काठ पर रहनेवाले पिपीलिका पांति की दशा होती है ॥ ११४ ॥

ओघस्य मध्ये महतस्सृगालमुद्भ्रामतापत्रयवीचिजाले ।
मामद्य संसारमहाम्बुराशौ मग्नं विभो! पालय पालयेति ॥ ११५ ॥

महान् प्रवाह के बीच में डूवते हुए शृगाल की जैसी दशा होती है, उसी प्रकार की दशा संसाररूप महासागर में डूवते हुए मेरी हो रही है। हे विभो! मेरी रक्षा करें! मेरी रक्षा करें! ॥ ११५ ॥

बन्धे कुरुन्दाण्डकनाम्नि गाथाविंशत्युपेते विदधे द्वितीये ।
भवश्रमध्वंसितया मुरारेः तद्धामसक्ता जनतेति धन्या ॥ ११६ ॥

वीस गाथाओं का परकाल का दूसरा प्रबन्ध है, द्रामिडभाषा में इसे "तिरुक्कुरुत्ताण्डकम् (श्री छोटा दंडक)" कहते हैं। भवश्रम को दूर करनेवाले होने के कारण भगवान् के उस दिव्यस्थान में निवास करनेवाली जनता धन्य है इस प्रकार परकाल ने उक्त प्रबन्ध में कहा है ॥ ११६ ॥

श्रीसप्तभागस्थितिनाम्नि पद्यैः चित्रे तृतीयेऽकृत स प्रबन्धे ।
पुराऽन्वभूवं मनसेति बाह्याश्लेषाद्गतिं शार्ङ्गिणमित्यवापम् ॥११७॥

परकाल के बनाये हुए तीसरे सुन्दर प्रबन्ध का नाम द्राविड भाषा में 'तिरुवेऴुकूत्तिरुक्कै' यह है। इसका संस्कृत अनुवाद 'सप्त भागस्थिति' किया गया है। इसमें परकाल ने ऐसी ही बहुतसी बातें कहीं हैं कि पहिले मैंने मानसिक अनुभवों से ही भगवान को पाया था, पर अब मैं वाह्य आलिङ्गन से उपायभूत रङ्गनाथ भगवान् को पा गया ॥११७॥

श्रीमन्महास्वाल्पदलाख्यबन्धद्वये चतुर्थेऽकृत पञ्चमे च ।
योक्तुं पुराणं त्वरया पुमांसं भाग्याद्रुपायान्तरमित्यलप्सि ॥ ११८ ॥

परकाल ने लघुपालीप्रबंध (शिरिय तिरुमडल्) व गुरुपालीप्रवंध (पेरिय तिरुमडल्) नामके अपने चौथे और पांचवें प्रवन्ध में यही प्रतिपादन किया कि परमपुरुष के साथ शीघ्र ही योग करने के लिये दूसरे दूसरे उपाय मुझे भाग्य से मिले हैं ॥ ११८ ॥

श्रीमन्नेडुन्दाण्डकनाम्नि गाथात्रिंशत्समेये चरमे प्रबन्धे ।
कारुण्यसिन्धोः कमलापतेस्स्वमभीष्टलाभक्रममाचचष्ट ॥ ११९ ॥

परकाल के अन्तिम प्रबन्ध का नाम 'श्रीमन्नेडुन्दाण्डक' है। यह तीस गाथाओं का बनाया गया है। इसमें परकाल ने करुणासिन्धु कमलापति से जिस प्रकार अपना अभीष्ट प्राप्त हुआ है, वह क्रम बताया है ॥ ११९ ॥

निशम्य तेनाकलितान् प्रपन्नैः शठारिमुख्यैस्सह षट्प्रबन्धान् ।
संयोज्य भक्तेष्वपि तं प्रहृष्टो बभूव रङ्गाभिमुखस्स रङ्गी ॥ १२० ॥

भगवान् रङ्गनाथ श्री शठकोप आदि प्रपन्नवर्गों के साथ बैठकर परकाल के छओं प्रवन्धों को सुनकर परमप्रसन्न हुए। उन्हें अपनी भक्त गोष्ठी में मिलाया, पीछे आप रङ्गक्षेत्र की ओर चल दिये ।। १२० ।।

गत्वा रङ्गपुरीं व्यसर्जयदसौ रङ्गेश्वरो गोपुरे
प्रत्यावृत्य गिरा वृषाचलपतिं हासादिभाद्रीश्वरम् ।
लोलापाङ्गनिरीक्षणादुपवनक्षोणीधरेशं शिरः-
कम्पेनापि च शार्ङ्गपाणिमितरान् भ्रूसंज्ञया चाच्युतान् ।। १२१ ।।

जिस समय रङ्गनाथ भगवान् नगर के द्वार पर पहुंचे, वहां पहुंच कर उन्होंने सवको सन्मानपूर्वक सङ्केतमात्र से वापिस कर दिया। वेङ्कटेश भगवान् को वाणी से, तथा हस्तिपर्वतवासी भगवान् को हास से वापिस किया, एवं चञ्चल आखों के देखने से उपवन के पर्वत (वनगिरि) के अधिपति को लौटा दिया, शिरके इशारे से शार्ङ्गपाणि को भेज दिया। एवं दूसरे भगवानों को भौंओं के सङ्केत से उनके उनके स्थानों को भेज दिया ।। १२१ ।।

आलोकेनाब्जयोनिं गिरिदुहितृपतिं केलिसंलापभङ्ग्या
निर्देशेनांगुलेश्च त्रिदशपतिमुखान् दिक्पतीन् सर्वदेवान् ।
विष्वक्सेनाननेन क्षितिपतितिलकान् वल्लभादीन् विसृज्य
श्रीरङ्गी भक्तवर्गैस्सह हरिरगमत्ताररूपं विमानम् ।। १२२ ।।

अपने कटाक्ष से ब्रह्मा को, केलि की बातों के इशारे से शिव को, अंगुलियों के इशारे से देवपतियों दिक्पतियों और सव देवों को, तथा विष्वक्सेन के मुख से वल्लभादिक मुख्य राजाओं को विदा कर पीछे आप अपने भक्तों के साथ तार अर्थात् प्रणवरूप विमान को चले गये ।। १२२ ।।

त्रयोदशस्सर्गः समाप्तः ।

चतुर्दशस्सर्गः

अथ सैनिकेन सकलेन वृतो वृषशैलनायकसिषेविषया ।
निर्याय रङ्गपतिनाऽनुमतः प्रतिवेङ्कटाद्रि परकालविभुः ॥ १ ॥

इस के उपरान्त परकालसूरि ने रङ्गनाथ भगवान् की आज्ञा प्राप्त करके श्रीवेङ्कटेश भगवान् के सेवन की इच्छा से प्रेरित हो कर अपने समस्त सैनिकों के साथ वेङ्कटाचल की ओर प्रस्थान किया ॥ १ ॥

स पथि व्रजन् दिनमणेः किरणैः दिनयौवनं गतवतः कठिनैः ।
ग्लपितां न्यवीविशदवेक्ष्य चमूं तटसीम्नि तादृशि पयस्सरितः ॥ २ ॥

मार्ग में चलते-चलते दोपहर के सूर्य की तीखी किरणों के मारे परकाल की सेना कुम्हिला गयी, इससे उन्होंने अत्यन्त मनोहर क्षीर नदी के किनारे की सीमा पर पडाव डाला ॥ २ ॥

पिबतिस्म वारि सरसं तृषिता क्षुधिता बिसान्यभिनवान्यचरत् ।
दिनमध्यदारुणपतङ्गकरग्लपिता ममज्ज च जलेऽस्य चमूः ॥ ३ ॥

प्यासी सेना ने सरस पानी पिया एवं भूख के मारे नये-नये कमलों की भालो खाये तथा सूर्यनारायण की कठिन किरणों के मारे सन्तप्त हो कर पानी में गोते लगाये ॥ ३ ॥

भगवान् विचिन्त्य परकालविभुं सहसैनिकेन मधुजित्क्षुधितम् ।
पथि वृद्धवैष्णवमहीसुरतामवलम्ब्य पाण्डवपुराविरभूत् ॥ ४ ॥

विष्णु भगवान् ने साचा कि परकाल और परकाल के सैनिक भूख से व्याकुल हो रहे हैं, झठ पथ में ही आप पथिक वन गये। उस समय आप वृद्ध वैष्णव ब्राह्मण का रूपधारण करके परकाल के सामने आये ॥ ४ ॥

अवबद्धमन्नमधिपाणि वहन्नरविन्दबीजतुलसीस्रगितः ।
विमलोर्ध्वपुण्ड्रनिचितापघनो जरसाऽऽकुलो विहितमन्दगतिः ॥ ५ ॥

ये कमल और तुलसी की माला पहिने हुए थे, माथे में श्रीवैष्णवी ऊर्ध्वपुण्ड्र लगे हुए थे, बुढापे से व्याकुल लकडी टेक-टेक कर धीरे-धीरे चलते थे, गठरी मे बंधे हुए अन्न हाथ में लिये हुए थे ॥ ५ ॥

स विलोक्य वृद्धमवदत्किमिदं तव पुस्तकं वसति पाणितले ।
तिथितारकाकरणयोगदिनान्यभिधत्स्व सम्प्रति विविच्य मम ॥ ६ ॥

परकाल ने इस वृद्धब्राह्मण से पूछा कि आप के हाथ में कोई पुस्तक है? अगर पुस्तक है तो इस समय मेरे कैसे दिन नक्षत्र करण और योग है, सो तो देख कर कहिये ॥ ६ ॥

अपि च क्षुधाऽद्य सकलं च बलं परिबाधते सह मया विबुध! ।
अवबद्धमन्नमिदमर्पयता भवताऽस्मदार्तिमपनेतुमलम् ॥ ७ ॥

हे विप्रवर्य! इस समय और तो क्या मुझे और मेरी सारी सेना को भूख सता रही है। आप के पास जो यह अन्न है, इसे मुझे दे दीजिये जिस से हम सब की क्षुधा-बाधा दूर हो जायगी ॥ ७ ॥

इति तेन तत्र पथिकः कथितः तमवोचदित्थमधुनाप्रभृति ।
हरिवारयोगकरणोडुतिथीरवधेहि नात्र विशयः क्रियताम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार जब परकाल ने उस पथिक ब्राह्मण से कहा तो वह पथिक ब्राह्मण बोला कि तुमने जो पूछा है सो मैं कहता हूं। आज से तुम्हारे तिथि नक्षत्रादि सब हरिमय हो गये। इसमें किसी प्रकार का सन्देह न करना ॥ ८ ॥

इदमन्नमप्यतिसृजाम्यसमं भवते बलाय च विभज्य समम् ।
इति मुष्टिमात्रमददान्मुदितः प्रतिपूरुषं घनकृपाजलधिः ॥ ९ ॥

मेरे हाथ में जो यह उत्तम अन्न है, उसे मैं आप और आपकी सेना में बराबर बांट देता हूं। ऐसे कहकर प्रसन्न हो एक-एक मुष्टि अन्न बडी कृपा करके कृपानिधि भगवान् ने प्रत्येक को दे दिया ॥ ९ ॥

चतुर्दशस्सर्गः

अथ सैनिकेन सकलेन वृतो वृषशैलनायकसिषेविषया ।
निर्याय रङ्गपतिनाऽनुमतः प्रतिवेङ्कटाद्रि परकालविभुः ॥ १ ॥

इस के उपरान्त परकालसूरि ने रङ्गनाथ भगवान् की आज्ञा प्राप्त करके श्रीवेङ्कटेश भगवान् के सेवन की इच्छा से प्रेरित हो कर अपने समस्त सैनिकों के साथ वेङ्कटाचल की ओर प्रस्थान किया ॥ १ ॥

स पथि व्रजन् दिनमणेः किरणैः दिनयौवनं गतवतः कठिनैः ।
ग्लपितां न्यवीविशदवेक्ष्य चमूं तटसीम्नि तादृशि पयस्सरितः ॥ २ ॥

मार्ग में चलते-चलते दोपहर के सूर्य की तीखी किरणों के मारे परकाल की सेना कुम्हिला गयी, इससे उन्होंने अत्यन्त मनोहर क्षीर नदी के किनारे की सीमा पर पडाव डाला ॥ २ ॥

पिबतिस्म वारि सरसं तृषिता क्षुधिता बिसान्यभिनवान्यचरत् ।
दिनमध्यदारुणपतङ्गकरग्लपिता ममज्ज च जलेऽस्य चमूः ॥ ३ ॥

प्यासी सेना ने सरस पानी पिया एवं भूख के मारे नये-नये कमलों की भालो खाये तथा सूर्यनारायण की कठिन किरणों के मारे सन्तप्त हो कर पानी में गोते लगाये ॥ ३ ॥

भगवान् विचिन्त्य परकालविभुं सहसैनिकेन मधुजित्क्षुधितम् ।
पथि वृद्धवैष्णवमहीसुरतामवलम्ब्य पाण्डवपुराविरभूत् ॥ ४ ॥

विष्णु भगवान् ने साचा कि परकाल और परकाल के सैनिक भूख से व्याकुल हो रहे हैं, झठ पथ में ही आप पथिक वन गये। उस समय आप वृद्ध वैष्णव ब्राह्मण का रूपधारण करके परकाल के सामने आये ॥ ४ ॥

अवबद्धमन्नमधिपाणि वहन्नरविन्दबीजतुलसीस्रगितः ।
विमलोर्ध्वपुण्ड्रनिचितापघनो जरसाऽऽकुलो विहितमन्दगतिः ॥ ५ ॥

ये कमल और तुलसी की माला पहिने हुए थे, माथे में श्रीवैष्णवी ऊर्ध्वपुण्ड्र लगे हुए थे, वुढापे से व्याकुल लकडी टेक-टेक कर धीरे-धीरे चलते थे, गठरी मे वंधे हुए अन्न हाथ में लिये हुए थे ॥ ५ ॥

स विलोक्य वृद्धमवदत्किमिदं तव पुस्तकं वसति पाणितले ।
तिथितारकाकरणयोगदिनान्यभिधत्स्व सम्प्रति विविच्य मम ॥ ६ ॥

परकाल ने इस वृद्धब्राह्मण से पूछा कि आप के हाथ में कोई पुस्तक है? अगर पुस्तक है तो इस समय मेरे कैसे दिन नक्षत्र करण और योग है, सो तो देख कर कहिये ॥ ६ ॥

अपि च क्षुधाऽद्य सकलं च बलं परिबाधते सह मया विबुध! ।
अवबद्धमन्नमिदमर्पयता भवताऽस्मदार्तिमपनेतुमलम् ॥ ७ ॥

हे विप्रवर्य! इस समय और तो क्या मुझे और मेरी सारी सेना को भूख सता रही है । आप के पास जो यह अन्न है, इसे मुझे दे दीजिये जिस से हम सब की क्षुधा-वाधा दूर हो जायगी ॥ ७ ॥

इति तेन तत्र पथिकः कथितः तमवोचदित्थमधुनाप्रभृति ।
हरिवारयोगकरणोडुतिथीरवधेहि नात्र विशयः क्रियताम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार जव परकाल ने उस पथिक ब्राह्मण से कहा तो वह पथिक ब्राह्मण वोला कि तुमने जो पूछा है सो मैं कहता हूं । आज से तुम्हारे तिथि नक्षत्रादि सब हरिमय हो गये। इसमें किसी प्रकार का सन्देह न करना ॥ ८ ॥

इदमन्नमप्यतिसृजाम्यसमं भवते बलाय च विभज्य समम् ।
इति मुष्टिमात्रमददान्मुदितः प्रतिपूरुषं घनकृपाजलधिः ॥ ९ ॥

मेरे हाथ में जो यह उत्तम अन्न है, उसे में आप और आपकी सेना में वरावर वांट देता हूं । ऐसे कहकर प्रसन्न हो एक-एक मुष्टि अन्न बडी कृपा करके कृपानिधि भगवान् ने प्रत्येक को दे दिया ॥ ९ ॥

ववृधे तदन्नमरविन्ददृशा प्रतिपादितं रसविधूतसुधम् ।
दधिदुग्धमाक्षिकगुडाज्यसुधाबहुभक्ष्यभोज्यरसनीययुतम् ॥ १० ॥

भगवान् की कृपा से वह अन्न बढ गया । उस अन्न में अमृत के समान रस था। एवं दही, दूध, मधु, गुड, घी आदि बहुतसी भक्ष्यभोज्य और स्वादिष्ट वस्तुओं से मिश्रित था ॥ १० ॥

स परान्तकस्सह बलेन तदा विगतक्षुधो द्विजमुवाच पुनः ।
किमिहागतोऽसि तव को विषयः वद नामधेयमपि किं भवतः ॥११॥

उस अन्न से परकाल और परकाल की सैनिक दोनों ही तृप्त हो गये । पीछे परकाल उस ब्राह्मण से पूछने लगे कि आप कहां से आये? आप का देश कौनसा है? एवं आप का नाम क्या है? ॥ ११ ॥

इति तेन वैष्णववरो गदितः निजगाद क्लृप्तविनतिं पुरतः ।
प्रथमानदन्तरुचिपूरमिषात्स्नपयन्निवैनममृताम्बुनिधौ ॥ १२ ॥

परकाल यह वात नम्रता के साथ सामने खडे हो कर पूछ रहे थे, भगवान् तो वैष्णवों के वश है ही, झठ हंसते हुए अपने दंतपंक्तिप्रकाशरूप अमृत के समुद्र में परकाल को स्नान कराते हुए वोले ॥ १२ ॥

सुमनोहरं किमपि काञ्चयभिधं पुरमस्ति तस्य किल पश्चिमतः ।
निवसामि धाम्नि मम नाम पुनः परमष्टबाहुनरसिंह इति ॥ १३ ॥

कि एक भली भांति मनोहर काञ्ची नाम का नगर है, उसके पश्चिमभाग में मैं रहता हूं। मेरा नाम अष्टवाहु नरसिंह है॥ १३ ॥

हरिरित्युदीर्य पुरतोऽन्तरधात्स च विस्मितस्स्वहृदयेऽकलयत् ।
सबलाय वत्सलतया प्रददौ क्षुधिताय मह्यममृतान्नमसौ ॥ १४ ॥

भगवान् ऐसा कह कर झट उनके सामने ही अन्तर्धान हो गये । यह देख परकाल विस्मित हो अपने हृदय में विचार करने लगे कि

वात्सल्य से प्रेरित हो कर भगवान् ने मुझे और मेरी सब सेना को अमृतान्न दिया है ।। १४ ।।

स मयाऽप्यपृच्छि किल कस्त्वमिति प्रतिभाषतेस्म निजनाम च मे ।
स भवेद्ध्रुवं नृहरिरष्टभुजः धृतपञ्चहेतिफलकाब्जशरः ।। १५ ।।

जब मैंने उन से पूछा कि आप कौन हैं, तो उन्होने अपना नाम भी मुझे बता दिया । यह निश्चय है, यह अष्टभुज नृसिंह ही होंगे दूसरा कोई नहीं, अवश्य ही ये पञ्चायुध धारण करनेवाले अष्टभुज नृसिंह भगवान् हैं ।। १५ ।।

स हि वामनस्स हि यदुप्रवरः स हि राघवस्स हि वराहवपुः ।
स हि मेऽधिदैवमिति तद्विषयां नुतिमाततान दशपद्यमिताम् ।। १६ ।।

यही वामन हैं, यही कृष्ण हैं, यही राघव हैं, यही वराह भगवान् हैं, यही मेरे देव हैं, इस प्रकार भगवान् के विषय में दस पद्योंवाला एक स्तोत्र बनाया ।। १६ ।।

चलितस्ततः कतिपयैर्दिवसैः स ददर्श वेङ्कटगिरिप्रवरम् ।
कुहनाकिरातपदतामरस-द्वितयार्पणक्रमपवित्रतटम् ।। १७ ।।

इसके बाद श्री परकालजी ने वहां से प्रस्थान किया और थोडे ही दिनों में वेङ्कटाचल पर्वत के दर्शन कर पाये, जिसके तटभाग कपट किरात वेषधारी भगवान के चरणार्पण से पवित्र है ।। १७ ।।

गुहवापिकाविकसदब्जवनीमधुगन्धतुन्दिलमरुत्पृथुकम् ।
शठकोपपुष्करसुपर्वनदीमुखपुण्यतीर्थलहरीमुखरम् ।। १८ ।।

स्वामिपुष्करणी में खिले हुए कमलों के रस की सुगन्धि से भरा हुआ मन्दमन्द वायु जहां चल रही है, एवं जो श्रीशठकोप पुष्करिणी और सुपर्वनदी आदि मुख्य पुण्यतीर्थों के प्रवाहों के शब्द से शब्दायमान हो रहा है ।। १८ ।।

विकसत्प्रसूनमधुपानकलामुदितद्विरेफरटितार्भटिभिः ।
मुखरं प्रपन्नजनसन्नविपत्पटलप्रयाणपटहध्वनिभिः ॥ १९ ॥

खिले हुए फूलों के रस पीने की कला से प्रसन्न हुए भौंरे वारंवार मधुर गुंजार कर रहे हैं, मानों प्रपन्न जनों की आपदाओं के प्रयाणकाल के पटहध्वनि हो रही है ॥ १९ ॥

नटदेकनीलगलमुत्समिषाद्रजताचलं परिहसन्तमिव ।
सततप्रवृत्तनटनारभटीपटुनीलकण्ठनिकुरुम्बतया ॥ २० ॥

इस पर्वत पर सैकडों नीलकण्ठ मोर सदा नाच रहे हैं, इससे मानों एक नीलकण्ठवाले कैलास का बहते हुए झरनों के व्याज से परिहास कर रहा है ॥ २० ॥

स समेत्य पादमुरगेन्द्रगिरेः अवसत्त्रिरात्रमुरुभक्तितया ।
न तमारुरोह मनसाऽऽकलयन्कमलानिवासचरणाम्बुरुहम् ॥ २१ ॥

उस शेषाचल पर्वत के समीप पहुंच कर तीन दिन तक निवास किया। भगवान् की उत्कट भक्ति के कारण उस पर्वत पर चढे नहीं। पर मन से श्रीनिवास भगवान् के चरणकमल का ध्यान करते रहे ॥

पुरतोऽस्य वत्सलतया भगवानहिराजशैलपतिराविरभूत् ।
अयमप्यभीष्टमधिगत्य ततः स्तुतिमातनोन्मधुमिदे मधुराम् ॥ २२ ॥

परकाल के ऊपर जो वेङ्कटेश भगवान् का वात्सल्यभाव था, इससे प्रेरित होकर वे उनके सामने प्रकट हो गये। परकाल भी अपने अभीष्ट वेङ्कटेश भगवान् को पाकर उनके लिये ललित स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

कटकान्निरेत्य फणिराजगिरेः सकलं निषेव्य हरिधाम पथि ।
समुपार्जितोर्जितधनस्सबलः भजतिस्म रङ्गनगरं परजित् ॥ २३ ॥

परकाल वेङ्कटाचल पर्वत की मेखला पार करके रास्ते में जितने भगवान् के दिव्यदेश मिले, उन सब का दर्शन करते हुए बहुतसा धन इकट्ठा करके, सेनासहित रङ्गनगर लौट आये ॥ २३ ॥

प्रणिपत्य रङ्गिपदपङ्कजयोः वसुना निजेन दृढभक्तिरभूत् ।
समहानसावरणयुग्मपुरस्सरकृत्यषट्ककरणप्रवणः ॥ २४ ॥

रङ्गनगर में पहुंच कर रङ्गनाथ भगवान् के चरणों में जाकर प्रणाम किया । यह दृढभक्त परकाल ने अपने धन से रसोई घर और दो परकोटा आदि कैंकर्य करने में लग गये ॥ २४ ॥

स परान्तकः किल चतुर्थमहावरणादिनिर्मितिकलावसरे ।
कमपि व्यलोकत तदध्वगुहागतयोगिनं दृढसमाधिविधिम् ॥ २५ ॥

उस परकाल ने वडे भारी चौथे परकोटा के वनाने के समय किसी योगी को उसके रास्ते की गुफा में देखा, जिसकी कि समाधि दृढ थी ॥ २५ ॥

तमुपेत्य जातविनयः परजित्स्तुतिभङ्गिपूर्वकमपृच्छदिति ।
अवनौ न्यषेवि हरिधाम कियत्कति पुष्कराण्यपि पुरा भवता ॥२६॥

परकाल उन योगिराजजी के पास पहुंच कर परम विनम्र हो गये और प्रार्थनापूर्वक उनसे पूछने लगे कि आपने पहिले भूमण्डल के कितने दिव्यदेशों का सेवन किया है और कितने तीर्थों पर आप स्नानार्थ पधारे हैं ॥ २६ ॥

इति तेन योगितिलको गदितः परकालमाह विनयावनतम् ।
हरिधाम साष्टशतमैक्षि मया भुवि पुण्यतीर्थततिरप्यखिला ॥ २७ ॥

परकाल से इस प्रकार पूछे जाने पर नम्रता से नवे हुए परकाल से योगिराज कहने लगे कि मैंने भगवान के १०८ धाम देखे हैं तथा भूमण्डल पर जितने भी पुण्यतीर्थ हैं, वे सब देखे हैं ॥ २७ ॥

स तमाह निर्गमनकारि वचः शृणु पश्चिमे हिमवतः शिखरे ।
महतीं गुहामधिगतो नृहरिः वरदो न्यषेवि विततोष्टभुजः ।। २८ ।।

परकाल ने उस योगी को वहां से हटाने की इच्छा से उनसे कहा, कि क्या, आपने पश्चिम हिमाचल के शिखर पर गुफा के भीतर बैठे हुए आठ भुजावाले नरसिंह भगवान् का दर्शन किया है? ।। २८ ।।

किमु न न्यषेवि भवता नृहरिः नखकोटिपाटितमहादनुजः ।
इति तद्वचश्श्रवणहृष्टमनाः तमुपासितुं मुनिवरो निरगात् ।। २९ ।।

जिन नरसिंह भगवान् ने अपने नखों की कोर से बड़े भारी असुर को फार डाला था, क्या उनका दर्शन आपने नहीं किया। परकाल के ये वचन सुनकर योगिराज प्रसन्न हुए और नृसिंह भगवान् की उपासना करने के लिये चल दिये ।। २९ ।।

वितथेतरं परमभक्तवचः प्रतिपादयन्नरहरिर्भगवान् ।
तुहिनाद्रिमूर्धनि गभीरगुहाकुहरे तथैव मुनिना ददृशे ।। ३० ।।

परमभक्त परकाल के वाक्यों को सत्य करने के लिये नृसिंह भगवान् ने हिमवान् के शिखर पर की गहरी गुफा में जैसा कहा था वैसे ही उस योगिराज को दर्शन दिया ।। ३० ।।

स विलोक्य विस्मितमना नृहरिं तमुपास्त योगितिलकस्सुचिरम् ।
परजित्स सालकरणाद्वसुना रहितो बभूव सहितो यशसा ।। ३१ ।।

वह योगिराज नृसिंह भगवान् को देख कर बड़े ही अचम्भे में पड गये। इधर परकाल श्रीरङ्गनाथ के मन्दिर का प्राकार बनवाने लगे। इससे उनका यश तो खूब हुआ, किन्तु पास का द्रव्य सब खर्च हो गया ।। ३१ ।।

स पुनस्तृतीयखिलसालकृतावविचक्षणस्स्वयमपोढधनः ।
अनुजीविनो रहसि चौर्यकलाकुशलानुवाच परकालविभुः ।। ३२ ।।

परकाल फिर टूटे हुए तीसरे प्राकार को बनाना चाहते थे। पर धन के अभाव से असमर्थ थे। चोरी करने में चतुर सेवकों को बुलाकर एकान्त में कहा ॥ ३२ ॥

न विलोकये वसु तृतीयमहावरणं विधातुमधुनेषदपि ।
किमु वाऽत्र कार्यमधुनेति विभोः द्रविणागमक्रमविधौ भणत ॥ ३३ ॥

मेरे पास थोडासा भी धन नहीं है, जिससे यह तीसरा परकोटा वनाया जा सके। क्या, इस समय भगवान् को तीसरा कोट नहीं वनाना है, यदि वनाना है तो धन कैसे आये? यह वताओ ॥ ३३ ॥

इति तस्य वाचमवगम्य भटाः तमवादिषुर्विदितचौर्यकलाः ।
सकलेषु कर्मसु वयं द्रविणाहरणोचितेष्वधिगताः पटुताम् ॥ ३४ ॥

परकाल के अनुजीवी इनकी इन वातों का मतलव समझ कर परकाल से वोले, जो चोरी के काम में वडे चतुर थे। महाराज! हम धन चुराने के सव कामों में वडे ही निपुण हैं ॥ ३४ ॥

चतुराः प्रहृत्य रभसात्पथिकानधिकाननं धनमवाप्तुमलम् ।
दिवसे विलोकितमपि द्रविणं दिवसेऽपहर्तुमशकाम वयम् ॥ ३५ ॥

हम इतने चतुर हैं कि वन में पान्थों को शीघ्र ही लूटकर उनके धन को प्राप्त कर सकते हैं और तो क्या यदि दिन में हमें दिखलाई पड जाय कि धन यहां है, तो हम दिन में ही उसे वहां से उडाने के लिये समर्थ हो सकते हैं ॥ ३५ ॥

अररार्गलाविघटनारभटीपटुमूलमाचरितमन्त्रजपाः ।
बिभृमोऽञ्जनं च निधिलाभकरं जनमोहकृत्किमपि चूर्णमपि ॥ ३६ ॥

हमने मन्त्र सिद्ध कर रखा है और किवाडों का अर्गल विना आवाज के ही हटानेवाली औषधि भी हमारे पास है। हमारे पास ऐसा अञ्जन है, जिससे हम पृथ्वी के भीतर की निधि को देख सकते हैं,

एवं चूर्ण भी हमारे पास ऐसा है, जिसकी एक बुरकी से मनुष्य वेहोश हो जाय ॥ ३६ ॥

शलभान् प्रदीपशमनान् सिकतागुणचर्मकर्कटकरज्जुघटान् ।
कृतकं शिरश्च बिभृमोऽत्र वयं दृढभित्तिभेदपटुदण्डमपि ॥ ३७ ॥

हमारे पास ऐसे पतङ्ग हैं जिन्हें छोडते ही वे दीपक को वुतादें, रेती धनुष की ज्या, चाम, कर्कटक, (कमन्द) रज्जु और घडे हम अपने पास रखते हैं, यहां हम नकली शिर भी लिये हुए हैं, एवं सेंध फोडने के हथियार भी हमारे पास हैं, जिन से कैसी भी पक्की भींत क्यों न हो टूट जाय ॥ ३७ ॥

प्रथमाब्धिपश्चिमतटाभरणायितनागपट्टणवरे किमपि ।
कनकात्मकं वसति बौद्धकुलप्रतिपादितं सुगतबिम्बमुरु ॥ ३८ ॥

पूर्वसमुद्र के पश्चिमी किनारे के आभूषण वने हुए नागपट्टण में सोने की बडी भारी बुद्ध भगवान् की एक प्रतिमा है, जिसे बौद्धों ने स्थापित की है ॥ ३८ ॥

तदपाहरेम भवता तरसा सुसमेत्य तत्र तपनीयमयम् ।
इति तद्वचश्श्रवणहृष्टमनास्तुरगास्थितस्स सबलो निरगात् ॥ ३९ ॥

हम आप के साथ चलेंगे और उस सुवर्ण की वुद्ध मूर्ति को वहां से ले आवेंगे । परकाल यह सुन कर परमप्रसन्न हुए और घोडे पर सवार हो सेना के साथ वहां से नागपट्टण के लिये रवाना हो गये ॥ ३९ ॥

धृतसौगताकृतिरवाप्य पुरं तदवेक्ष्य धाम सुगतस्य पुनः ।
सुदुरासदं पिहितमार्गतया सुचिरं बभूव परिखिन्नमनाः ॥ ४० ॥

नागपट्टन के पास पहुंच कर परकाल ने बुद्धोंका सा वेष वना लिया । पीछे वह स्थान देख लिया जहां वह प्रतिमा थी । उसका रास्ता छिपा हुआ था, जिसे देख कर परकाल बहुत समय तक खिन्नचित्त रहे ॥ ४० ॥

स कमप्यपृच्छदथ तक्षवरं तदभिज्ञमाह स पुनस्तमिति ।
इदमामन्त्युपरिक्लृप्तपथं सुगतस्य धाम तदुदन्तविदः ॥ ४१ ॥

वहां परकाल को कोई अच्छा बढई मिल गया जो उस रहस्य को जानता था । परकाल ने उससे पूछा कि हमें इस प्रतिमा तक जाने आने का रास्ता बताओ । उसने कहा कि इस के जाननेवाले कहा करते हैं कि इसका रास्ता ऊपर होकर है, सो यह है ॥ ४१ ॥

इति तक्षवाक्यमवगम्य ततो व्यघटिष्ट धामशिखरं पिहितम् ।
स तदन्तरर्गलकवाटतया न हठात् प्रवेष्टुमजनिष्ट पटुः ॥ ४२ ॥

इस के बाद वह उस बढई की बातों को समझ कर मन्दिर के छिपे हुए शिखर को पहिचान कर रास्ता निकाला । वहां किवाड बन्द थे जिनके भीतर से अर्गल लगा हुआ था । परकाल इस काम में चतुर थे, पर उस में सहसा न घुस सके ॥ ४२ ॥

झषकच्छपादिदशरूपजुषः पुरुषस्य रङ्गनगराधिपतेः ।
चरणारविन्दशपथेन तदा स तदन्तरर्गलभिदां व्यधत ॥ ४३ ॥

मच्छकच्छपादि दश अवतार लेनेवाले रङ्गनगर के अधिपति जो रङ्गनाथ भगवान् हैं उनके चरणकमलों की सोगन्द से परकाल ने उस गुप्त द्वार के भीतर के अर्गला को काटा ॥ ४३ ॥

पिहितारराविघटनाद्विवृते सति धामशृङ्गसरणीविवरे ।
स्वसृनाथमाप्तमवरोपितवान् दृढशृङ्खलाकलितमन्तरसौ ॥ ४४ ॥

भीतर के अर्गल के हट जाने से किवाड खुल गया जो कि मन्दिर के शिखर से भीतर जाने के लिये बना था । झट परकाल ने विश्वास पात्र अपनी बहिन के पति को मजबूत साकल से बांध कर नीचे उतारने लगे ॥

तमवेक्ष्य गर्भगृहमध्यगतं तपनीयबिम्बहरणप्रवणम् ।
चकिताः सुवर्णसुगतानुगताः प्रतिमा विलेपुरिति मुक्तगलम् ॥ ४५ ॥

जिस मन्दिर में सोने की बौद्ध प्रतिमा को लेने परकाल गये थे, उसमें बुद्ध के अनुयायियों की भी दूसरी-दूसरी धातुओं की मूर्तियां थीं, वे सब प्रतिमाएं गर्भगृह के बीच में पहुंचे हुए एवं सोने की बुद्धमूर्ति के चुराने में लगे हुए परकाल के वहनोई को देखकर डरकर गला फाड-फाड कर रोने लगी ।। ४५ ।।

न विशिष्टधातुतनवोऽत्र वयं त्रपुसीसपिच्छटकताम्रमयाः ।
अयमेव हेमसुगतः पुरतः तदमुं गृहाण विविधाभरणम् ।। ४६ ।।

यहां हम रांगा सीसा पीतल और तामेके बने हुए शरीरवाले हैं, सोनेके शरीरवाले नहीं हैं, देखो यही आपके सामने सोने का वौद्ध खडा है जो अनेक तरह के आभूषणों से लदा हुआ है, आप इसे लेलें ।। ४६ ।।

स तथागतोऽपि कनकात्मतया विपदागतेति परिचिन्त्य तदा ।
निरगाद्यथारुचि सुवर्णतनोः प्रसवाद्यथा मधुकरोऽपचितात् ।। ४७ ।।

उस बुद्ध ने भी यह सोचा कि मुझे सोने का होने के कारण ही यह विपत्ति आई । उसी समय झट उसने वो सोनेका शरीर ऐसा छोड दिया जैसे तोडे हुए फूल में से भौंरों उड जाता है ।। ४७ ।।

समुदञ्च्य काञ्चनमयीं प्रतिमां स वरत्रया नियमितामकरोत् ।
अपकृष्य रज्जुकृतबिम्बमिदं बहिरप्रहोष्ट परकालविभुः ।। ४८ ।।

परकालने वहनोई की सोने की मूर्ति को ऊपर उठाकर चमडे की रस्सी से बांध दी और परकाल ने ही उस रस्सी को खींच कर मूर्ति ऊपर उठा ली ।। ४८ ।।

भगिनीपतिं सपदि गर्भगृहादधिरोढुमक्षममवेक्ष्य गुणैः ।
अवकृष्य किञ्चिदिव तस्य शिरः स तदाऽच्छिनत्करगृहीतकचः ।।

जब भगिनीपति को गर्भगृह से ऊपर चढने में असमर्थ देखा, तव कमन्द फेंक कर उसको ऊपर खींचा । वे इसके बाद अत्यन्त वोझिल

समझ कर रस्सी से उसका कुछ शिर खींच हाथ से पकड ऊपर निकालने लगे। पर रास्ता छोटा होने के कारण धड अड गया, तव उसका सिर काट कर धड नीचे गिरा दिया ॥ ४९ ॥

विनिपात्य तस्य स कवन्धमधः परिगृह्य सौगतभयेन शिरः ।
निरगात्परेतशिबिकां पिहितां तपनीयबिम्बमधिरोप्य निशि ॥ ५० ॥

उसके धड को तो नीचे पटक दिया और शिर को हाथ में ले लिया तथा वौद्धों के भय से मृतक की रथी पर मूर्ति रख कर उसे चारों ओर से छिपा कर उसके सव ओर अपने योद्धाओं को लगा कर रात में ही चल दिया ॥ ५० ॥

कतिचित्पुरो दहनपात्रधराः कतिचिच्छिरोविधृतकाष्ठभराः ।
कतिचिद्विमुक्तकचबाष्पतया शिविकामवाक्षुरपरेऽस्य भटाः ॥ ५१ ॥

कुछ तो मुर्दे को जलाने की आग का वर्तन लेकर चलने लगे, कुछ एक सिरो पर लकडी का वोझ लिये चलने लगे कुछ एक इसके वहादुर सिपाही डोली को कन्धे पर रख कर जल्दी-जल्दी चलने लगे। कुछ लोग सिर के वाल विखेर कर आंसू वहाते हुए जाने लगे। यह सव काम इसलिये किया कि कोई पहिचान न सके कि वौद्धप्रतिमा है या मुर्दा है ॥ ५१ ॥

पुर एव वासरमणेरुदयात्प्रतिपद्य कृष्णनगरीं परजित् ।
अधिवप्रपङ्कमखनत्प्रतिमां वृषलस्य कस्यचिदुदीर्णभयः ॥ ५२ ॥

परकाल सूर्य उदय होने से पहिले ही कृष्णनगरी पहुंच गये और डर के मारे वहां के किसी किसान के खेत की गोली मेंड की कींच में प्रतिमा को छिपा दिया ॥ ५२ ॥

उदिते रवौ कृषिचिकीर्षुरसौ परजित्कृषीवलमिति न्यरुधत् ।
मम वप्रमेतदिह माद्य कृथाः कृषिमस्ति चोलनृपतेश्शपथः ॥ ५३ ॥

सूर्य के उदय हो जाने पर उस भूमि का मालिक हल जोतने के लिए वहां आया, तब परकाल उस कृषक को यह कह कर रोकने लगे, कि यह खेत मेरा है, खबरदार तू इस पर खेती न कर, जो तू इसपर खेती करे तो तुझे चोलमहाराज की सौगन्द है ।। ५३ ।।

स निशम्य तस्य वचनं कृषकः तमजीगमत्पुरसदो विवदन् ।
अभियोगमुत्तरमवेक्ष्य तयोः निरणैष्ट सभ्यनिकुरुम्बमिति ।। ५४ ।।

कृषक परकाल के ऐसे वाक्यों को सुन कर उससे विवाद करता हुआ नगर के पंचों के पास ले आया। कृषक ने अपना अभियोग सुना दिया। परकाल ने उसका उत्तर दे दिया। दोनों तरफ की बात सुनकर पंचों ने यह निर्णय किया कि ।। ५४ ।।

लिखितक्षयाच्च निजभुक्तिकलापगमाच्च साक्षिविगमादपि च ।
यदि भूमिसत्यमधिवप्रमयं परजित्करोति भविताऽस्य मही ।। ५५ ।।

न तो तुम लोगों के पास इसका पट्टा है, एवं न यह भूमि तुम्हारे कब्जे में ही है, तथा न कोई गवाही ही है। अतएव अगर परकाल खेत पर खडे होकर शपथ करे तो यह खेत परकाल की हो सकती है ।। ५५ ।।

स तथेति सप्तमतमः पुरुषः मम वामनोऽजनि तदंघ्रिमिता ।
अहमस्मि तच्चरणगोत्रमतः धरणी ममेत्यकृत सत्यविधिम् ।। ५६ ।।

परकाल ने कहा कि मैं शपथ खाता हूं कि हमारे सप्तमपुरुष वामन थे, उन्होंने इस जमीन को अपने पैरों से नापा था, मैं उस वामन भगवान् का गोत्रवाला और चरणवाला हूं, अतएव यह भूमि मेरी है ।। ५६ ।।

वृषलेन भोक्तरि गते धरणीम् अपहाय तत्र स निनाय दिनम् ।
'परमान्नमर्चकमुखेन ददौ स परःपुमान् परजितो मुदितः ।। ५७ ।।

भूमि का पहिला स्वामी वृषल अपनी भूमि को छोड कर दूसरी जगह चला गया। परकाल ने यह दिन यहीं बिताया। वहीं प्रसन्न हुए उस नगर के निवासी परमात्मा ने पुजारी के द्वारा परकाल तथा परकाल की सेना को बढिया भोजन खिलाया ॥ ५७ ॥

स विधाय कृष्णपुरवासिहरेः निरवद्यपद्यदशकं सरसम् ।
निशि निर्जगाम परिगृह्य ततः सह सैनिकेन सुगतप्रतिमाम् ॥ ५८ ॥

परकाल ने भी कृष्णपुरवासी भगवान् की स्तुति में निर्दोष सरस दश पद्य बनाये, फिर वहां से रात में उस बौद्धप्रतिमा को लेकर सेना के साथ आगे रवाना हो गये ॥ ५८ ॥

स मृदापगातटपथेन चलन् हरिमन्दिरेषु दिवसं निवसन् ।
कृततत्तदच्युतनुतिः प्रतिमां निशिनिश्युदञ्च्य सबलः प्रययौ ॥ ५९ ॥

वह मृदापगा नदी के किनारे के मार्ग पर चलते हुए और भगवान् के मन्दिरों में दिन को टिकते हुए एवं उन उन मन्दिरों के भगवानों की स्तुति करते हुए केवल रात ही रात सेनासमेत प्रतिमा को ले कर चलने लगे ॥ ५९ ॥

स कदाचिदध्वनि निशि प्रथितं प्रतिपद्य सङ्गमपुरं परजित् ।
हरये निवेद्य कृतभक्तविधिः मिलितं तदा स्वजनमित्यवदत् ॥ ६० ॥

वह इस प्रकार रात को चलते हुए एक दिन जगत्प्रसिद्ध सङ्गम पुर पहुंचे वहां भगवान् को निवेदन करके प्रसाद पाया। बस्ती के जो लोग इकट्ठे हुए उनसे उन्होंने कहा कि ॥ ६० ॥

सरणिप्रदर्शनकलाकुशलं धृतकार्मुकं व्यसृजतैकभटम् ।
इति तद्वचो निशि निशम्य जनाः बहुमेनिरे न तदमुष्य वचः ॥६१॥

जो रास्ता दिखाने की कला में प्रवीण हो ऐसा एक धनुर्धारी हमारे साथ कर दें। पर इनके इन वचनों को रात में सुनकर उन लोगों ने ध्यान न दिया ॥ ६१ ॥

निशि तत्पुराधिपतिरस्य पुरश्चलतो हरिर्धृतधनुर्निरगात् ।
शरणागतावनविधौ महतां करुणाविधेयमधिकं हि मनः ।। ६२ ।।

पर इस पुर के अधिपति भगवान् रात में इनके आगे आगे धनुष लेकर चलने लगे क्योंकि शरणागत के रक्षण की विधि में महापुरुषों का मन करुणा के अधिक वशीभूत होता है ।। ६२ ।।

स विलोक्य धन्विनमुवाच ततः क्वनु यासि कस्त्वमिति सोऽप्यवदत् ।
पुरपालकस्तव कृते निरगां नगरादितो भुवनरक्ष्यभिधः ।। ६३ ।।

परकाल अपने आगे आगे चलते हुए धनुर्धारी को देखकर उनसे कहने लगे कि तुम कौन हो, कहां जा रहे हो? यह सुन वह धनुर्धारी कहने लगा कि मैं इस नगर का रक्षक हूं। मुझे लोग भुवनरक्षक कहते हैं। मैं तेरे लिये इस नगर से चला हूं ।। ६३ ।।

अमुमाप्रभातमनुगम्य रवावुदिते स तत्र हरिरन्तरधात् ।
स च पालकः क्वनु जगाम भवानिति शश्वदाह्वयदवेक्ष्य दिशः ।।६४।।

जब तक सवेरा नहीं हुआ उस समय तक भगवान् धनुष लेकर आगे आगे चलते रहे। सूर्य के उदय होते ही अन्तर्धान हो गये पीछे परकाल उन्हें न देख, चारों ओर देख देखकर पुकारने लगे कि तुम कहां चले गये ।। ६४ ।।

तमगोचरं स च विचिन्त्य हरिं हृदि भक्तवत्सलतयाऽनुगतम् ।
अनवद्यपद्यदशकं व्यतनोदमृतप्रवाहसुखमस्य नुतिम् ।। ६५ ।।

चरमचक्षु से न दीखनेवाले भगवान् ही भक्तवत्सलतावश से स्वयं हमारे साथ चल रहे थे, ऐसा विचार कर उनकी स्तुति के निर्दोष दशपद्य बनाये, जिन में अमृत के प्रवाह का सुख था ।। ६५ ।।

स समेत्य रङ्गमवभिन्नतथागतबिम्बविक्रयहृतद्रविणैः ।
पृथुशालिशालमणिसालमहानसगोपुरादिविधिमारभत ।। ६६ ।।

इसके पीछे परकाल रङ्गक्षेत्र में उपस्थित हो गये। वहां सोने की वुद्धप्रतिमा के टुकडों को वेचने से जो धन प्राप्त हुआ उससे रङ्गनाथ का लम्बी चौडी धान्यशाला, मणिप्राकार, रसोईघर और गोपुर आदिक वनाना आरम्भ किया ॥ ६६ ॥

अथ धाम्नि जालकपथेन हिरण्मयबुद्धबिम्बमनवेक्ष्य मुहुः ।
विषसाद नागपुरबौद्धकुलं कमलं यथांशुमददर्शनतः ॥ ६७ ॥

यह तो हाल कहा वुद्ध प्रतिमा की चोरी और उसके लाने आदि का अव नागपट्टन के वौद्धों का हाल कहा जाता है कि नागपुर के बौद्ध लोग मन्दिर में जाली के रास्ते से सोने के वुद्ध प्रतिबिम्वको न पाकर इस प्रकार दुःखीं हुए जैसे सूर्य के न दीखने से कमल दुःखो होता है ॥ ६७ ॥

शिखराध्वना तमवगम्य हृतं शिखरस्थचोरपदविन्यसनम् ।
अवलम्ब्य पश्चिमदिशाभिमुखं भजतिस्म रङ्गमथ बौद्धजनः ॥ ६८ ॥

पदों के चिन्हों से उन्होंने समझ लिया कि शिखर के मार्ग से ही मूर्ति चोरी गयी है। इससे इसी पदचिन्ह के आधार पर खोजते हुए वौद्ध लोग पश्चिम की ओर को चल कर रङ्गपट्टन पहुँच गये ॥ ६८ ॥

अवलोक्य तत्र परकालविभुं मनसा तदेव पदविन्यसनम् ।
ध्रुवमेतदीयमिति बौद्धचयः कृतनिश्चयस्तमिति सञ्जगदे ॥ ६९ ॥

सुगतं हृतं द्रुतसुवर्णमयं वितरास्मदीयमिति पृष्टवतः ।
निजगाद सौगतगणान् गतभीः परजिद्रुषा परुषमेव वचः ॥ ७० ॥

रङ्गक्षेत्र में परकाल को देख कर बौद्धों ने मन में सोचा कि हो न हो इसीके पैरों के वे चिन्ह हैं, ऐसा निश्चय करके उन लोगों ने परकाल से कहा कि सोने की वुद्धप्रतिमा जो तुमने चुराकर ले आये हो,

वह दे दो। बौद्धों के इस कथन पर परकाल क्रोध में आकर कठोर वचन कहने लगे ॥ ६९, ७० ॥

क्वनु यूयमाः क्वनु वयं सुगतः क्वनु वेदृशं क्वनु वचो भवताम् ।
निरवग्रहग्रहकृतग्रहणाः किमु चित्तविभ्रममगाहिषत ॥ ७१ ॥

कहां तुम, कहां मैं, कहां तुम्हारा सुगत, कहां तुम्हारी ये बातें। किसी बडे भारी दुराग्रह के वशीभूत हो कर तुम विभ्रम में तो न ही पड गये हो ॥ ७१ ॥

इति तं ब्रुवाणमविशङ्कमवादिषुरुद्धतं सुगतमार्गगताः ।
जगृहे त्वयैव तपनीयतथागतबिम्बमालयशिरोध्वविदा ॥ ७२ ॥

इस प्रकार कहते हुए निःशङ्क एवं उद्धत उस परकाल से वौद्ध लोग कहने लगे कि बुद्धप्रतिमा, मन्दिर के शिखर के रास्ते को जानने वाले तूने ही ली ॥ ७२ ॥

ददृशे तदेव पदविन्यसनं सुगतस्य धामशिखरे पथि च ।
तदिदं त्वदंघ्रितलतुल्यमतः सुगतं त्वमेव शिखरादहरः ॥ ७३ ॥

क्यों कि मन्दिर के शिखर पर जो पदचिह्न देख गये, वैसे ही चिन्ह मार्ग में भी पाये गये और उन्हीं चिन्हों से मिलते जुलते तुम्हारे पांव भी हैं। इसलिये अवश्य तूने ही सोने की बुद्धप्रतिमा, शिखरकी राह से चुरायी है ॥ ७३ ॥

इति निश्चितार्थमसकृद्ब्रुवते कलिजित्स सौगतगणाय तदा ।
चरमांगुलिं कनकमारजितः प्रददीय नूनमिति पत्रमदात् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार बौद्धलोग सत्य वात को बार-बार कहने लगे, तव परकाल ने उनसे कहा कि अगले वर्ष तुम लोग आवो, मैं तुम्हारी मूर्ति दूंगा, वह छोटी उंगली से कम भी न होगी। इस बात को कागजपर लिख कर उन्हें दे दिया ॥ ७४ ॥

चरमांगुलिं क्वच निधाय ततः प्रतिमां महारजतमारजितः ।
मणिसालगोपुरपुरस्सरषट्करणादिषूपयुयुजे कलिजित् ॥ ७५ ॥

परकाल ने सुवर्णमयी बौद्धप्रतिमा की छोटी अंगूली छिपा कर कहीं रख दी । बाकी स्वर्णमय बुद्धप्रतिमा को मणिप्राकार और गोपुर आदि छः कामों में लगा दिया ॥ ७५ ॥

स्वधनैश्च हेमसुगतेन सुधीरसमाप्तसालमुखषट्करणः ।
भृतिमर्पयेयमिति शिल्पकुलैरवशिष्टकर्म निरवर्तयत ॥ ७६ ॥

अपने धन से और सोने के बुद्ध से भी वह काम पूरा नहीं हुआ जितना कि इसने आरम्भ कर रखा था। तब कारीगरों से यह कह कर कि तुम्हारी मजूरी पीछे दूंगा, बाकी काम पूरा करा लिया ॥ ७६ ॥

कनकापगोत्तरतटे भवतामर्धनीपतीर्थगतमेहमणौ ।
द्रविणं दिशेयमिति कर्मकृतः स निनाय नावमुपरोधकृतः ॥ ७७ ॥

और कावेरी के उत्तर तटपर जो मन्दिर है वहां मैं तुमें मजूरी की रकम दूंगा। यह कह कर सब को नाव पर ले गये ॥ ७७ ॥

अघमप्यधोक्षजकृते कलितं कुशलीयतीति च स कर्मकरान् ।
सुगतीन् विधित्सुरधि सह्यसुतं प्रियनाविकालिभिरपातयत ॥ ७८ ॥

भगवान् के लिए किया गया पाप भी पुण्यरूप हो जाता है, यह सोचकर कारीगरों को नदी में सद्गति देने की इच्छा से अपने मल्लाहों के द्वारा कावेरी में डुबा दिया ॥ ७८ ॥

स कनिष्ठकामथ निरोधकृते सुगतस्य सौगतगणाय ददौ ।
विनिवेद्य वृत्तमपि पत्रिकया सह तां नृपस्य पुरतो निदधे ॥ ७९ ॥

इसके पीछे दूसरे वर्ष जब वे बौद्धलोग बुद्धमूर्ति मांगने आ गये, तब परकाल ने मूर्ति की कनिष्ठिका उङ्गली लाकर उन्हें दे दी।

इसपर वौद्धलोग झगडा करने लगे। तव परकाल ने वहां के राजा के सामने उस चिट्ठी को रखकर सब बातें समझायीं ॥ ७९ ॥

उपहूय चोलनृपतिः कुपितः परकालमालयतलेषु पुरा ।
विहितप्रतिष्ठसुरबिम्बभिदा भुवनस्य मे च न शुभेत्यवदत् ॥ ८० ॥

यह देख कर निचुलापुरी के महाराज बडे ही अप्रसन्न हुए और परकाल को बुला कर कहा कि तुमने विधि के साथ प्रतिष्ठा की गयी मूर्ति का खंडन किया है, इस कारण मेरा और राज्य का अव कल्याण नहीं होगा ॥ ८० ॥

निगमेतराध्वनिरता जनता यमतिष्ठिपत्कमपि धाम्नि सुरम् ।
दलनेन तस्य न विभेत्तुरघं न भुवो न राज्ञ इति सोऽप्यवदत् ॥८१॥

अवैदिक पथ में लगे हुए जनता ने मन्दिर में जिस किसीं भी देवता की प्रतिष्ठा की हो, उस मूर्ति के तीड दैने में न तो तोडने-वाले को कोई पाप लगता है, और न वहां के राजा को ही कोई पाप लगता है, और न भूमि का ही कुछ अनिष्ट होगा, यह परकाल ने चोलराज को उत्तर दिया ॥ ८१ ॥

अवतार एव सुगतोऽपि हरेर्दलितस्त्वया कृतधियाऽपि यतः ।
तदसाम्प्रतं त्वमपराधपदं जगदेकनाथ इति संजगदे ॥ ८२ ॥

राजा ने कहा, यह बुद्ध भी तो भगवान् का ही अवतार था, सब कुछ जाननेवाले तुमने उसे गला डाला। यह तुमें युक्त नहीं था, इस कारण तुम अपराधी हो ॥ ८२ ॥

इति राज्ञि मुक्तगलमुक्तवति प्रतिभाषतेस्म परकालविभुः ।
तिलतैलवज्जगदवाप्य हरिः सचराचरं वसति सर्वमपि ॥ ८३ ॥

मुक्तकण्ठ से राजा के ऐसा कहने पर परकाल ने कहा कि जैसे तिल में तेल व्यापक है, उसी तरह भगवान् भी इस संपूर्ण चराचर में वसते हैं ॥ ८३ ॥

परमात्मना किमपि तेन विना न सदस्ति न स्फुरति न श्वसिति ।
सुगतावतारमकरोत्स पुरा त्रिपुरासुरालिनिपिपातयिषुः ।। ८४ ।।

उस परमात्मा के विना कुछ भी सत्पदार्थ नहीं है, न कोई जीता है और किया कर रहा है । उसने ही पहले त्रिपुरासुर की मण्डलि को मारने के लिए बुद्धावतार लिया था ।। ८४ ।।

श्रुतिमार्गबाह्यसमयेषु वसन्ननुपास्यतां हरिरुपैति बुधैः ।
जननी सुतैरिव रजःप्रसवे शवसङ्गमे गृहशिखीव जनैः ।। ८५ ।।

जैसे शव के सम्वन्ध से घर की आग और रजोदर्शन काल में माता भी पुत्र के लिए अनुपास्य हो जाती है, वैसे ही वेदवाह्य मतों के संसर्ग से भगवान् भीं वुधजनों के लिए अनुपास्य हो जाते हैं।। ८५ ।।

अमुमर्थमाह परमोऽपि हरि श्श्रुतिबाह्यधामकृतविम्बगतम् ।
अवलोक्य मामपि नमेद्यदि यस्स भवेद्विलंघितमदाज्ञ इति ।। ८६ ।।

इस अर्थ को परमात्मा ने भी अपने मुंह से कहा है कि वेदवाह्य लोगों के मन्दिरों में वनाई हुई मेरी मूर्तियों में मुझे देख कर जो प्रणाम करता है, उसे मैं अपनी आज्ञा का लांघनेवाला समझता हूं ।।

अथ सौगतादिमतषट्कजयं वचनैः क्रियामलघुयुक्तिघनैः ।
क्रमशस्तथेति कृतवादविधीन् सुगतादिषण्मतगतान् परजित् ।
अकरोन्निशातशुचिशास्त्रहतान् पुनरुक्तिरेव नृपशस्त्रहतिः ।। ८७ ।।

हम वौद्ध आदि मतों का क्रमशः निरसन करेंगे, इस प्रकार प्रतिज्ञा करके विवाद के लिए डटे हुए सुगतादि मतवादियों को अपने पैने और शुद्धशास्त्ररूप आयुधों से निहत कर दिया । और राजा ने जो अपने शस्त्रों से उन्हें मारा, वह तो यहां पुनरुक्ति ही हुई ।। ८७ ।।

मुदितादवाप्य निचुलाधिपतेः मदसिन्धुरावधिमहाविभवान् ।
अभिवन्द्य रङ्गनिलयं सबलः परजिज्जगाम परिरम्भपुरीम् ।। ८८ ।।

परकाल के किये हुए वेदबाह्य मतों के खण्डन को सुनकर निचुलापुर के महाराज परमप्रसन्न हुए और परकाल को हाथी आदि समस्त बहुमान की चीजें भेंट देकर सम्मानित किया। पीछे श्रीरङ्गनाथ भगवान् को प्रणाम करके सेनासमेत परिरम्भपुरी को चले आये ॥ ८८

परकालमाकलितबौद्धजयं परितुष्टचोलरचितापचितिम् ।
निरगाद्दिदृक्षुरथ कालिपुरात्त्रिकविर्निपीतगिरिजास्तनजः ॥ ८९ ॥

गिरिजा के दूध पीनेवाले त्रिकवि ने सुना कि परकाल ने बौद्धों पर विजय पायी जिससे राजा ने प्रसन्न हो कर खूब भेंट-पूजा दी। तब झट परकाल को देखने की इच्छा से कालिपुर से चल दिया ॥ ८९ ॥

स पथि व्रजन्निजपुराभिमुखः त्रिकविर्विलोक्य निहतक्षपणम् ।
तुरगादवातरदनल्पबलः जयडिण्डिमध्वनिलसद्बिरुदः ॥ ९० ॥

त्रिकवि ने रास्ते में जाते हुए देखा कि अपने नगर की राह को तै करता हुआ परकाल जा रहा है। तुरन्त परम बलवान् त्रिकवि घोडे से उतर पडा। उस समय लोग जय की ध्वनि के साथ त्रिकवि का यशोगान कर रहे थे ॥ ९० ॥

त्रिकविर्मिथः कुशलवादविधेरथ तं तदुक्त्यमृतपानमनाः ।
निजमाव्रजेति पुरमाह्वयत प्रजगाद सोऽपि परकालविभुः ॥ ९१ ॥

त्रिकवि ने आपस के कुशलप्रश्न के बाद परकाल की कविता को सुनने की इच्छा से उनसे कहा कि आप हमारे नगर चलें। यह सुन कर परकाल ने उत्तर दिया कि ॥ ९१ ॥

नगरीरपेतमुरजित्प्रतिमा न कदाऽपि सांप्रतमुपैतुमतः ।
न समाव्रजामि भवदीयपुरीम् इति तं वदन्तमवदत्स पुनः ॥ ९२ ॥

जिन वस्तियों में भगवान् की प्रतिमा न हो, उनमें जाना योग्य नहीं है, अतएव मैं तुम्हारी वस्ती में नहीं जा सक्ता। तव फिर त्रिकवि ने कहा ॥ ९२ ॥

हरिधाम कालिनगरेऽस्ति पुरा विदधे खलैः खिलमवेदरतैः ।
क्वचिदर्चकेन सदनेऽत्र रहो हरिरर्च्यतेऽत्र स च धामपतिः ॥ ९३ ॥

पहिले कालिनगर में भगवान् का मन्दिर था, उसे दुष्ट अवैदिकों ने भ्रष्ट कर दिया। वही कालिनगराधिपति भगवान् किसी पुजारी के घर में छिपे तौर पर पूजे जाते हैं ॥ ९३ ॥

रजनीचरेन्द्रमृगयार्थचरद्रघुनायकेन यदवासि पुरा ।
भजते तदाप्रभृति रामवियत्पुरनाम तत्पुरमशङ्कमयाः ॥ ९४ ॥

रावण की मृगया अर्थात् मारने के लिए जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी ने यहां पर विश्रम किया था, तव से इस वस्ती का नाम 'रामवियत्' पुर (काञ्चीरामविण्णगरम्) पडा है। अतएव आप निस्सन्देह चलिये ॥ ९४ ॥

स तथेति तेन सममेत्य पुरं तदधीशितुर्मधुजितस्सरसम् ।
विततान पद्यदशकं जलधेः विशिखापतज्जलजहेतिसखम् ॥ ९५ ॥

परकाल ने त्रिकवि की वात को स्वीकार किया और वे त्रिकवि के साथ उस नगर में चले आये। वहां पहुंच कर उस गाम के अधिनायक भगवान् की समुद्र से निकल कर सडक पर गिरनेवाले शंख आयुध के समान दश पद्यों से स्तुति की ॥ ९५ ॥

मकुटाकृतिं तदनु सप्तवतीं तमशुश्रवत्स निजचित्रकृतिम् ।
मुदितस्तदीयफणितिश्रवणात्त्रिकविस्सपद्यमकृतास्य कृते ॥ ९६ ॥

परकाल अपनी वनाई हुई सप्तवती नाम की मुकुटाकृति चित्र कविता उसे सुनाई। उसके सुनने से प्रसन्न हुए उस त्रिकवि ने इन के लिए पद्य बनाया ॥ ९६ ॥

**हरधामधूर्वहजनान् मुदितान् परजित्स सत्कृतिपरानवदत् ।
हरिमत्र रम्भपुरधाम्नि यथापुरमस्तदर्पमुपपादयत ।। ९७ ।।**

उस नगर के जो जो प्रधान पुरुष थे, जो कि परकाल की सेवा में लगे हुए थे, उनसे परकाल ने कहा कि यहां जैसे पहले भगवान् का मन्दिर था, उसी तरह बना दें और उसमें भगवान् को पधरा दें ।।९७।।

**अथ ते तथेति हरिधाम तदा विदधुर्व्यसर्जयदमुं मुदितम् ।
त्रिकविश्चतुष्कविधुरीण इति प्रतिपाद्य काहलरवेण यशः ।। ९८ ।।**

वहां के लोगों ने परकाल की वातों को स्वीकार करके वहां एक मन्दिर वनवा दिया और इससे प्रसन्न हुए परकाल को वहां से विदा किया । तथा काहली के शब्द के साथ यह घोषित करके कि परकाल द्राविडभाषा की चारों तरह की कविता करने में परम-प्रवीण हैं, इन्हें विदा किया ।। ९८ ।।

**परजित्प्रपद्य परिरम्भपुरीं श्रुतिनायकं च विविधार्हणया ।
परितोष्य जन्मभुवमेत्य तदा पुनरीक्षतेस्म कुमुदप्रभवाम् ।। ९९ ।।**

परकाल परिरम्भपुरी में पहुंचे । बहां श्रुतिनायक भगवान् की विविध भांति से सेवा पूजा की । जिससे भगवान् उसपर परमप्रसन्न हुए । पीछे अपनी जन्मभूमि में गये । फिर कुमुदवल्ली को जाकर देखा ।। ९९ ।।

**हरिविश्वरूपविभवोपगमप्रमुखं निशम्य चरितं कमितुः ।
सह तेन कैरवलता मुदिता पितुराप नागपुरसङ्गि गृहम् ।। १०० ।।**

वहां कुमुदवल्ली से जाकर परकाल ने अपना सब समाचार सुनाया । जैसे-जैसे इसे भगवान् के विश्वरूप के दर्शन आदिक हुए थे, जिसे सुनकर कुमुदवल्ली परमप्रसन्न हुई । पीछे परकाल के साथ नागपुर में पिता के सुन्दर घर को आयी ।। १०० ।।

विनिवेद्य वृत्तमखिलं गुरवे कुमुदोद्भवा सह ततो गुरुणा ।
अधिगौरवाऽपि परकालविभोः पुरतोऽभिषेकमिषतोऽन्तरधात् ।।१०१।।

कुमुदवल्ली ने सब बातें पिता से कहीं । पीछे पिता के साथ उसी तालाब में स्नान करने गयी, जहां वह पैदा हुई थी । यद्यपि परकाल के यहां इसका अत्यन्त आदर था तो भी नहाने के वहाने पिता के साथ वहीं परकाल के देखते-देखते अन्तर्धान हो गयी ।। १०१ ।।

गुरुणा समं मणिविमानगतां परजिद्विभाव्य दिवि दिव्यवधूम् ।
प्रययौ प्रहृष्टहृदयस्तदनु प्रतिरङ्गमुज्झितसमस्तरतिः ।। १०२ ।।

परकाल ने देखा कि मेरी प्यारी पत्नी पिता के साथ मणिविमान में वैठी हुई अप्सरा के रूप में स्वर्ग को जा रही है, देख कर प्रसन्न हुए और समस्त सांसारिक विषयनुराग का त्याग कर रङ्गनाथ भगवान् की सन्निधि में चले आये ।। १०२ ।।

नत्वा श्रीरङ्गनेतुश्चरणकमलयोस्सर्वमप्यात्मभारं
विन्यस्यात्मीयशक्तिं तदनिशभजनाधित्सयाऽर्चाकृतौ च ।
लब्ध्वा तस्मादनुज्ञां परममथ पदं प्रेप्सुराप्तः कुरङ्ग-
स्थानं भद्राश्रमाख्यं न्यविशत परजिन्निर्विकल्पे समाधौ ।। १०३ ।।

श्रीरङ्गनाथ भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम करके अपने सब आत्मभार को भी उनके ही चरणों में विसर्जित किया तथा अपनी शक्ति को उनका सतत भजन करने के लिए अपनी अर्चामूर्ति में विन्यस्त करके श्रीरङ्गनाथ भगवान् से आज्ञा लेकर परमपद की प्राप्ति के लिए भद्राश्रम नाम का कुरङ्गनगरी स्थान गये । और वहां निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गये ।। १०३ ।।

चतुर्दशस्सर्गः समाप्तः ।

पञ्चदशस्सर्गः

वसन्तवर्णनम् ।

अथ समजनि चेरचोलपाण्ड्यक्षितिपसुता कमलासखं सगोदम् ।
ऋतुपरिषदुपासितुं मुरारिं जनितयथास्वतरुप्रसूनलक्ष्मीः ।। १ ।।

चेर चोल पांड्य राजों की कन्याएं लक्ष्मी और गोदा के सहित भगवान् की उपासना करने के लिए अपने-अपने समय के पुष्पों को लेकर यथासमय सब ऋतुओं की मण्डली उपस्थित हुई ।। १ ।।

विकचकुरवकं विनिद्रचूतं विसृमरकेसरसौरभाभिरामम् ।
विकसितकमलं व्यलोकताग्रे विषमशरैकसखं हरिर्वसन्तम् ।। २ ।।

रङ्गराज महाराज ने ऋतुराज वसन्त को आगे देखा जो कामदेव का मुख्य मित्र है, जिसमें लालझिंटी के सुन्दर पुष्प खिले हुए हैं एवं आमों की अर्थात् आम की मञ्जरियां खिल गयी हैं । जो कि फैलनेवाली केसर की सुगन्धि से यह ऋतु सुहावना हो रही है और कमल खिले हुए हैं ।। २ ।।

स्तबकितसहकारकर्णिकारं कुसुमितचम्पकपूगबिल्वपूगम् ।
भ्रमदलिपरिवारसिन्धुवारं भरितमरन्दझरीकपुण्डरीकम् ।। ३ ।।

अत्यन्त सुगन्धिवाले आम और कर्णिकार के फूलों के गुच्छे चारों ओर मनोहरिणी सुगन्धि फैला रहे हैं । चम्पक सुपारी और वेल अधिक संख्या में फूला रहे थे, निर्गुन्डी के सुगन्धित एवं सरस फूलों पर बहुत से भौंरे झूम रहे थे। श्वेतकमलों में भरे हुए पुष्परस के झरने बह रहे थे ।। ३ ।।

परिमलपरिवाहगन्धवाहं कलनिनदाविकलालिकोकिलालिम् ।
भुवनविजयिदर्पकोरुदर्पं प्रसरदशोकपरागदत्तरागम् ।। ४ ।।

सुगन्ध लिये हुए वायु वह रही थी, मीठी बोली बोलनेवाली कोएवं मधुरगुञ्जार करनेवाले भौंरों की टोलियां बैठी हुई फूलों का रस ले रही थी। भुवन को जीतने का अभिमान रखनेवाले काम का मद बढ रहा था एवं इसने फैलनेवाली अशोक की धूली का रङ्ग दे रखा था ॥ ४ ॥

कुसुमसमयसम्पदा स्फुरन्त्या हृतहृदयो भगवान्स रङ्गराजः ।
उपवनमखिलैस्सहावरोधैः नवकुसुमायचिचीषया जगाम ॥ ५ ॥

खिली हुई वसन्त की समृद्धि ने भगवान् श्रीरङ्गनाथ का हृदय हर रखा था, इसीसे ये अपनी सभी महिषियों के साथ नये फूल तोडने की इच्छा से उपवन को पधारे ॥ ५ ॥

प्रसृमरकलकण्ठकण्ठनादप्रकटितपञ्चशरागमप्रपञ्चम् ।
विकसितविविधप्रसूननिर्यन्मधुरसपूर्णमहीरुहालवालम् ॥ ६ ॥

दूर-दूर तक फैलनेवाले कोकिल आदि के मीठे शब्दों से कामदेव के आने की घोषणा स्पष्ट प्रतीत हो रही थी, खिले हुए तरह-तरह के फूलों के मीठे रस से उन वृक्षों की क्यारियां भरी हुई थी ॥ ६ ॥

अवनतविटपाभिजातचापे स्फुटरवटंकृतिशालिषट्पदज्ये ।
प्रसवमयशरं प्रयोज्य यत्र प्रथयति केलिमभङ्गुरामनङ्गः ॥ ७ ॥

जहां कामदेव, भौंरों की गुञ्जारवरूप स्पष्ट टङ्कार करनेवाले या पकीज्यावाले विटपों के सुन्दर धनुष पर पुष्प के बाणों चढा कर चिरस्थायिनी केलि कर रहा है ॥ ७ ॥

विविधतरुलतानिकुञ्जगञ्जाभुवि सुरभिध्वजिना हृतं नवीनम् ।
विकचकुसुमभाजनेषु यस्मिन् मधु मधुपा महिलासखाः पिबन्ति ॥८॥

जहां भौंरे अपनी पत्नियों के साथ नानाप्रकार के वृक्ष और लताओं की कुंजरूपी मद्यगृह में वसन्त के द्वारा लाये गये विकसित पुष्परूप पात्रों में रखे हुए नया मधु पी रहे हैं ॥ ८ ॥

मधुरमधुरमिदं नमेरुजातं वकुलभवं बहलं सुगन्धि यत्र ।
इति किल निगदन् सझंक्रियाभिः पिबति च पाययति प्रियां द्विरेफः ॥

जहां भौंरे अपनी प्यारियों को झंकारों के व्याज से यह कहते हुए कि यह देखो! बहुत मीठा नमेरू के फूलों का मधु है, और इधर देख, वकुल का अत्यन्त सुगन्ध मधु है, स्वयं पी रहा है और उन्हें पिला रहा है ॥ ९ ॥

मधु कुसुमगतं निपीय यत्र भ्रमरगणस्तनुते लतागृहेषु ।
पिककुलकलगीतिकेषु चञ्चत्किसलयपाणिलयेषु ताण्डवानि ॥ १० ॥

इसी लतागृह में बहुत से भौंरे फूलों का रस पी-पी कर नाचने लगे, कीयलें गीत गाने लगीं, वृक्ष हिलते हुए पल्लवरूपी हाथों से ताल देने लगे ॥ १० ॥

मधुनि कुसुमपात्रभाजि भृङ्गीं प्रतिफलितां पतितां विचिन्त्य यत्र ।
कृतरवमजिघृक्षत द्विरेफः मधुलिहि भाविचरित्रमीदृशं हि ॥ ११ ॥

कहीं कुसुमपात्रों में भरे हुए मधु में भोंरी की परछायीं दीख रही थी जिसे किसी भौंरे ने यह समझा कि इस में भोंरी गिर पडी है, जिससे वह भोंरा दैन्यशब्द करता हुआ उस प्रतिबिम्ब को पकडने की कोशिश करते हुए मधु का पान करने लगा, क्यों कि मधु पीनेवालों की ऐसी ही दशा होती है ॥ ११ ।

मधु सुरभि निपीय सल्लपन्ती भ्रमरवधूरवधूय काऽपि लज्जाम् ।
कलयति महतीं प्रमोदमुद्रां मनसि मधुव्रतकार्मुकस्य यत्र ॥ १२ ॥

कोई भोंरी मधुमत्त हो निर्लज्जता के साथ सल्लाप करने लगी, जिसे देख कर उसके कामी भौंरे के मन में अखण्डानन्द की अविचल धाराएं बहने लगीं ॥ १२ ॥

रचितकलरवो रजोऽनुलिप्तश्चटुलगतिः परिघूर्णमाननेत्रः ।
मधुकरनिकरः परं प्रमत्तो मधुपदशामुररीकरोति यत्र ॥ १३ ॥

रङ्गराज के अद्वितीय उपवन में भौंरों मे झुण्ड के झुण्ड मधु का पान करके प्रमत्त हो सुन्दर गुंजार कर रहे हैं तथा फूलों की रज से सने हुए हैं। चञ्चल और अटपटी गति है, आंखें फिरी हुई हैं, एवं जितनी भी मद्य पी लोगों की दशा है, वे सव इनकी हो रही हैं॥ १३॥

सुललितमहिषीवृतस्स केलीवनभुवि तत्र रराज रङ्गराजः।
व्रततिपरिवृतस्य कल्पकद्रोः श्रियमधिनन्दनमुज्ज्वलां दधानः॥ १४॥

इन्द्र के नन्दनवन में ललित लताओं से डके हुए कल्पवृक्ष की अकलङ्क शोभा को धारण करते हुए रङ्गराज महाराज उस वन भूमि में सुललित राजरानियों से घिरे हुए देदीप्यमान हो रहे थे॥

प्रणदितवलयं परिप्लवाक्षं प्रचलितकुन्तलमाकुलोत्तरीयम्।
अहमहमिकया हरेस्तरुण्यो नवकुसुमान्यपचिन्वतेस्म तत्र॥ १५॥

वहां भगवान् श्रीरङ्गनाथ की दिव्यमहिषियों अहमहमिका से नये फूलों को तोड रही थी, एक कहती थी कि मैं तोडूंगी तो दूसरी कहती थी कि मैं तोडूंगी। उस समय उनके हाथों के रत्नजटित कङ्कण आपस में वजते थे, आंखें ऊपर को फैली हुई थी, शिर के घुघराले वाल इधर उधर को हिल रहे थे, ओढनी ऐसी मालूम होती थी कि कहीं गिर न जाय॥ १५॥

कुसुममपचितं विना प्रवालं करतलकान्तिकरम्बितं विलोक्य।
हरिहरिणदृशा कयाऽपि मेने प्रतिनवपल्लवतल्लजानुविद्धम्॥ १६॥

किसी मृगनयनी ने विना प्रवाल के ही फूल तोडा, उनकी हथेली की आभा उस पर पड गयी, जिससे उन्होंने समझा कि मैंने कोमल लाल पल्लव के साथ ही वह फूल तोडा है॥ १६॥

अभिनवमपचिन्वतः प्रसूनं सुतनुजनस्य कचोच्चये सुगन्धौ।
न्यपतदलिकुलं विहाय पुष्पं जगति न कःप्रणयी गुणाधिके स्यात्॥

नवीन फूलों को तोडते हुए स्त्रियों के सुगन्धशाली केशों पर, भौंरें फूलों को छोड कर गिर पडते थे, संसार में ऐसा कौन है जो अधिकगुणवालों पर न रीझे ।। १७ ।।

हृतसकलसुमं नमेरुमेका प्रभवति न स्म शुचिस्मिता विहातुम् ।
न सकलमशकत्परापचेतुं कुसुमभरं तिलकाद्विलोकयन्ती ।। १८ ।।

एक पवित्र स्मितवाली राजारानी सब फूल तोड लेने पर भी पुन्नाग को छोडने के लिए समर्थ न हुई और दूसरी देखती हुई भी आखों की नीलिमा के कारण तिलक के वृक्ष से सब सफेद फूलों को न तोड सकी ।। १८ ।।

सुललितवचना परा समस्ताः नवसुमनःकलिका नवप्रियालात् ।
अशकदुपवनेऽपचेतुमन्या कुरवकतोऽपि दृढोपगूढशाखात् ।। १९ ।।

कोई उपवन में मधुरवचन बोलती हुई चिरोंजीक संपूर्ण नयी नयी कलियां न तोड सकी, कोई एक कुरवक की सब कलियों को हजार प्रयत्न करने पर भी न तोड सकी, क्यों कि उसने स्वयं उसकी एका शाखा को अलिंगित कर रखा था जिससे नये फूल निकलने लगे ।

स्तबकिनि नवचम्पके परस्याः श्रवणविलंघनकेलिजांघिकानि ।
नयनविवलनानि संहितानि व्यधिषत तत्र मूहूर्तभृङ्गशङ्काम् ।। २० ।।

किसी दूसरी के कान के आगे भी लांघजाने का खेल करने की होड करनेवाले नयनों के विक्षेप नये चम्पक के गुच्छों पर पडने से एक क्षण के लिए भौंरे की शङ्का उत्पन्न करती है ।। २० ।।

सरभसमवलम्ब्य पाणिनैका दयिततमस्य समुन्नतांसकूटम् ।
प्रपदनिबिडितक्षमाऽपरेण द्रुमविटपाग्रगमाजहार पुष्पम् ।। २१ ।।

शीघ्र ही प्यारे प्रियतम के ऊंचे कन्धों को हाथ से पकड कर, एडी को उचकाकर के फूलों के वृक्ष की चोटी के पुष्प तोडने लगी ।।

अकृत बहुलयावकारुणेन प्रहृतिमशोकतरोः पदेन यत्र ।
कुसुमभरमसौष्ट सोऽपि शोणं गुणमधिगच्छति कारणाद्धि कार्यम् ।।

किसी ने घने महवर लगे हुए लाल पैर से अशोक के वृक्ष में ठोकर मारा, उस अशोक ने भी वैसी ही लाल फूल तत्काल उत्पन्न कर दिये। क्योंकि कारण के गुणों को ही कार्य प्राप्त होता है। पैर के प्रहार से फूल आये थे, अतएव उनका वैसा ही लाल रङ्ग हुआ ।। २२ ।।

भुवि विबुधतरुश्च सत्यभामाप्रमदचिकीर्षुरुपाहरः पुरा यत् ।
तव दयित तदद्य पुष्पिताग्रद्रुमविटपानमनेऽस्ति कोऽत्र भारः ।।२३ ।।

आप पहिले सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए कल्पवृक्ष को ही स्वर्ग से भूतलपर ले आये थे। ए प्यारे! इस समय आपको ऊपर पुष्प लगे हुए विटप को नवाने में कौनसा भार प्रतीत हो सकता है? ।।२३।।

अलिकुलतमसा समं निरुन्धि प्रसवरजोऽक्षिगतं प्रियादरेण ।
सपदि विनमते जनाय सत्वं दिशसि रजस्तमसी निहत्य यस्मात् ।।

प्यारी का आदर करने के लिए या उस से प्रेरित होकर भगवान् रङ्गनाथ प्यारी पर गुंजार करनेवाले भौंरों के साथ प्यारी की आखों पर उड कर आयी हुई फूलों की रज को रोक देते हैं। इसमें कारण यही है कि भगवान् रङ्गराज को रज तम रोकने का अभ्यास पडा हुआ है, क्योंकि शरण में आनेवाले मनुष्य के लिए वे रज तम का नाश करके शीघ्र ही सत्व दे देते हें ।। २४ ।।

इति कृतवचसां मनस्विनीनां हरिरविलम्बितमाचरन्निदेशान् ।
अलकभरमलञ्चकार तासां पुलकितबाहुरभंगुरप्रसूनैः ।। २५ ।।

इस प्रकार कहनेवाली मानिनीयों के कथन को शीघ्रता के साथ पूरा करते हुए पुलकित हाथों से उनके केशपाश को परमसुगन्धित अखण्डित फूलों द्वारा सुशोभित करने लगे ।। २५ ।।

ललितवचनवीक्षणोपगूहस्मितकृतदोहदजातहासपुष्पात् ।
अभिमतमसितेक्षणाः तदात्वे फलमलभन्त मुकुन्दपारिजातात् ॥२६॥

सुन्दरवचन, दृष्टिपात, आलिङ्गन और मुसकानरूपी दोहद से उत्पन्न हासरूपीं पुष्पवाले मुकुन्द भगवान्रूपी पारिजात अर्थात् कल्पवृक्ष से इन्दीवरकमल के से नयनोंवाली रङ्गराज की राजमहिषियों को तत्काल अभीष्ट फल मिल गये ॥ २६ ॥

अथ ग्रीष्मर्तुवर्णनम्

अथ मधुमथनं मधौ प्रयाते विकसितपाटलपाटलीकृताभः ।
अशिशिरसमयः प्रफुल्लमल्लीपरिमलसम्पदुपायनस्सिषेवे ॥ २७ ॥

ऋतुराज वसंत जब भगवान् रङ्गराज की सेवा करके चला गया तव गीष्मऋतु खिले हुए पाटलवृक्ष के पुष्पों से चारों ओर लालरंग फैलाता हुआ और खिली हुई जुही की सुगन्धरूप भेट लिये हुए श्रीरङ्गनाथ भगवान् की सेवा में उपस्थित थी ॥ २७ ॥

सुरभि सुमनसां भरे व्यपेते शुचिसमयप्रभवेषु नोदितेषु ।
कलयति मदनस्स्म कामिनीनां कतिचिदहानि कटाक्षमेव बाणम् ॥

वसन्त के सुन्दर-सुन्दर फूल वसन्त के साथ ही चले गये थे और ग्रीष्मऋतु के फूल उस समय पूरे नहीं खिले थे । तब कामदेव ने कुछ दिन के लिए कामिनियों के कटाक्षों को ही अपना तीर बनाया ॥ २८ ॥

मरुदुदयकथाऽपि नोष्मकेऽभून्मनसिजभूमिपतिर्मधौ स्ववाहम् ।
समुदितहरिदन्तजैत्रयात्राश्रममधिमन्दुरमाबबन्ध नूनम् ॥ २९ ॥

ग्रीष्म में तो वायु बहने की कोई बात ही नहीं होती थी । मालूम होता था कि कामदेव राजा ने वसन्त में दिग्विजय की यात्रा के श्रम से श्रान्त पवनरूप अपने वाहन घोडे की थकावट मिटाने के अभिप्राय से घुडसाल में वांध दिया था ॥ २९ ॥

शुचि जलमपहृत्य निम्नगानां द्युमणिरुचिर्मृगतृष्णिकामकार्षीत् ।
शुभगुणमपनीय दुर्गुणालीं नियतिरिव प्रतिकूलतां प्रपन्ना ॥ ३० ॥

सूर्यदेव की प्रचण्ड किरणों ने नदियों के स्वच्छ पानी को सोख कर वहां केवल मृगतृष्णा कर दी थी, जैसे भाग्यदेव जब प्रतिकूल होता है, तव मनुष्यों के शुभगुणों को छोडकर दुर्गुणों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

श्रमजलकणिकावलिस्तताान स्तनकलशोपरि तादृशीमभिख्याम् ।
शिशिरविमलतारहारमालाभरणमभूत्पुनरुक्तमङ्गनानाम् ॥ ३१ ॥

स्त्रियों के कलशसदृश स्तनों पर पसीने की बूंदें अपूर्व शोभा दे रही हैं जिससे स्तनों पर पडे हुए शीतल और विमल मुक्ताहार का भूषण उसके ऊपर से दुवारे माला पहनने के समान हो गया ॥ ३१ ॥

सलिलविहृतियोग्यमायियासोस्समयममुं परिचिन्त्य रङ्गभर्तुः ।
उपगमकथको मरुद्वृधायास्समजनि पश्चिममारुतः प्रचण्डः ॥ ३२ ॥

इस समय को भगवान् रङ्गनाथजी की जलक्रीडा के उपयुक्त समझ कर कावेरी के प्रवाह के आगमन का सूचक प्रचण्ड पश्चिमी पवन चलने लगा ॥ ३२ ॥

सलिलनिधिनृपावरोधसह्यक्षितिभृदपत्यपुरोगसौविदल्लः ।
विपिनदहनकेलिबालमित्रं पृथुतरसह्यफणीन्द्रफूत्क्रियौघः ॥
विमथितविटपी विधूतशैलो भ्रमितमदान्धमतङ्गजप्रकाण्डः ।
विलुलितजलदो विभिन्नवेश्मा विघटितसह्यसुतातरङ्गसंघः ॥ ३४ ॥

समुद्ररूपी राजा की पत्नियां राजमहल के व्सनेवाली जो सह्यपर्वत कन्याएं प्रभृति के जो अन्तःपुर के द्वारपाल के हैं, और आगे-आगे चलनेवाला कंचुकी एवं बनकी आग का वचपन का क्रीडासचिव, तथा सह्य और फणीन्द्रपर्वत की फूत्कार का मोटा समुदाय, दावाग्नि के वालसखा सह्यपर्वत के बडे-वडे सर्पों के फूफकाररूप वन के वृक्षों को

हिलाता हुआ, बडे-बडे पर्वतों को कम्पाता हुआ, मत्त हाथियों के झुण्डों को घुमाता हुआ, मेघपटल को छिन्न भिन्न करता हुआ, घरों को ढाता हुआ, कावेरी की तरङ्ग के संघों को बढाता हुआ ॥ ३३,३४ ॥

गगनमलघुवालुकाकदम्बैस्स्तबकिततारगणं दिवाऽपि कुर्वन् ।
ज्वलितदवकृशानुदत्तनीराजनविधिभासितसर्वदिग्विभागः ॥ ३५ ॥

मोटे-मोटे बालू के कङ्करों को आकाश में उडाकर दिन में ही तारे खिलाता हुआ, जलती हुई दावाग्नि के द्वारा चारों दिशाओं में आरती उतारता हुआ ॥ ३५ ॥

चलितशललसूचिशातदंष्ट्रो ज्वलितदवानलकीललोलजिह्वः ।
विवृतहृतविशालवेश्मवक्त्रस्सकलजिघत्सुरिवाकृतिं प्रपद्य ॥ ३६ ॥
कृतरुचिरभितो विनिस्सृताभिस्स्फुरदतिलोहितधूलिपालिकाभिः ।
गिरितरुशिखरत्वराभिघातक्षतसमुदञ्चदसृग्भरैरिवाक्तः ॥ ३७ ॥

उडते हुए सेह के कांटोंरूपी नोकीली पैनी दाडवाला, जलती हुई दावाग्नि की ज्वालारूपो चञ्चल जिह्वावाला, खुले हुए बडे-बडे मकानरूपी मुंहवाला, साकार संसारका संहार करनेवाले महाकाल के समान पर्वतशिखा पर उगे हुए बडे-बडे वृक्षों पर किये गये प्रबल आघात से उत्पन्न हुए लहू की धारा से भीगे हुए के समान मालूम पडता हुआ पवन बहने लगा ॥ ३६, ३७ ॥

तरलघनतरङ्गसङ्गिजञ्झानिलहृतशीकरदुर्दिनीकृताशा ।
प्रवहति झडितिस्म सह्यकन्या सकलकृषीवललोकभागधेयम् ॥ ३८ ॥

जिस ने चञ्चल सघन तरङ्गों की सगिनी आँधि से उडायी हुई पानी की छोटी-छोटी बूंदों के कारण सब दिशाओं को दुर्दिन मेघच्छन्न बनाती हुई सारे किसानों की भाग्यरूप कावेरी नदी शीघ्र ही उमड कर बहने लगी ॥ ३८ ॥

प्रबलपवनघोरघातरिखत्तरलतरङ्गविशृंखलप्रणादा ।
विघटिततटपादपाकुलाम्भोलहरिविजृम्भणफेनपिण्डपाण्डुः ॥ ३९ ॥

अन्यत वेग के साथ चलनेवाली हवा के कठोर टक्कर होने के कारण उठी हुई चञ्चल तरङ्गों से, दूर-दूर तक पहुंचनेवाली थी। किनारे को टूटने के कारण गिरे हुए वृक्षों से पानी आकुल हो फेन से पाण्डु रङ्ग की होती थी ॥ ३९ ॥

धरणियुवतितारहारयष्टिः मदकलसह्यकरीन्द्रदानधारा ।
भुवनविदितरङ्गराजधानी सुतनुदुकूलनिभोभयप्रवाहा ॥ ४० ॥

कावेरी का यह प्रवल प्रवाह क्या है, मानो पृथ्वीरूप युवती का तारों में पिरोया हुआ हार है, अथवा मद से व्याप्त सह्यादि रूप हाथी के मद की धार है, अथवा श्रीरङ्गनाथ भगवान् की भुवनप्रसिद्ध राजधानी-रूपी स्त्री का कटिवस्त्र है ॥ ४० ॥

विविधशफरकूर्मनक्रपालीविवलनकेलिविजृम्भितप्रवाहा ।
विचलदलघुवीचिजालडोलाविहरणलोलमरालचक्रवाका ॥ ४१ ॥

नानाप्रकार की मछलियों कछओं और मगरों के झुंड की उछलकूद से पुष्ट हुई प्रवाहवाली और हिलती हुई वडी-वडी तरङ्गो के जालरूपी झूलों में क्रीडा करती हुई हंस और चक्रवाकों से शोभित हैं ॥ ४१ ॥

चलितमुखरहंसका तरङ्गभ्रुकुटिविवर्तनपुण्डरीकवक्त्रा ।
हरिसविधमवाप खण्डितेव द्रुतगमना कलुषा कवेरकन्या ॥ ४२ ॥

कावेरी खण्डिता स्त्री की भांति शीघ्रगामिनी और कलुषित होती हुई भगवान् रङ्गनाथ के पास पहुंची। हंस पक्षियों का चलना और वोलना खण्डिता स्त्री के पांव के *हंसक नामक भूषण के सदृश है। उसकी टेढीमेढी ताखें ही भौंहों का मानना या टेढी आंसू है,

उसमें के पुण्डरीक (लालकमल) उसका रोषभरा लाल मुंह है। वेग से बहना उसका द्रुतगमन है । और प्रवाह के साथ कूडे कचरा का बहना उसकी कलुषित हृदयता है । यहां हंसकशब्द श्लेषार्थक है जिसका अर्थ कावेरी के पक्ष में हंसपक्षी है और खण्डितानयिका के पक्ष में पाव का भूषण है ।। ४२ ।।

* हिन्दी में उसको पैरी कहते हैं जिसका व्यवहार छोटी जाति की स्त्रियां करती हैं ।

अधिशुचि परिवार्य रङ्गिणोऽष्टादशदिवसे नगरीं कवेरकन्या ।
निवसनमभिवाञ्छति स्म तस्मान्मणिमयमङ्गलभूषणेन साकम् ।।

शुचिमास के (कर्कमास के) १८ वें दिन कावेरी श्रीरङ्गनाथ की नगरी को चारों ओर से घेर कर उनसे मणिमयमङ्गल भूषण के साथ वस्त्र की वांछा करती है (कर्क मास के १८ वे दिन कावेरी का उत्सव मनाया जाता है।) ।। ४३ ।।

अधित तटविलंघिसह्यकन्यालहरिनिचोलितरङ्गधामसङ्गी ।
प्रलयजलधिवारिपूरवल्गद्वटदलखेलनवैभवं मुकुन्दः ।। ४४ ।।

किनारे को लांघजानेवाली कावेरी की लहरों से चारों ओर छिटे हुए श्रीरङ्गधाम में बसनेवाले भगवान् ने प्रलयकालीन समुद्र के पानी के प्रवाह में लहलहाते वटपत्रपर की क्रीडा के वैभव को धारण किया ।। ४४ ।।

स जलविहरणोत्सुकस्तदाऽस्यै प्रथमविभूषणवाससी प्रदित्सुः ।
तटमभजत सह्यकन्यकायाः सह महिषीभिरिमामिवोद्विविक्षुः ।। ४५ ।।

जलविहार के उत्सुक श्रीभगवान् श्रीरङ्गनाथ उसी समय कावेरी को भूषण वसन देने की इच्छा से उसके तट पर अपनी समस्त पटरानीयों के साथ आये मानों कावेरी से विवाह करने की इच्छा से आये हों ।। ४५ ।।

अथ मधुमथनात्कवेरकन्या निवसनकण्ठविभूषणे गृहीत्वा ।
सपदि नववधूरिव ह्रियाऽग्रे चलशफराक्षमधोमुखी बभूव ।। ४६ ।।

इसके उपरान्त कावेरी भगवान् से कण्ठभूषण और वस्त्र लेकर शीघ्र ही इस प्रकार अधोमुखी हो गयी जैसे कि नई बहू लाज के मारे मछली के से नयनों को चला कर मुंह नीच कर लेती है ।। ४६ ।।

सलिलविहरणच्छलात्तदीयं हृदयमनुप्रविशन्स रङ्गराजः ।
सरितमवततार पारसीम्नः सह महिषीभिरुदारविभ्रमाभिः ।। ४७ ।।

रङ्गराज भगवान् कावेरी के पानी में विहार करने के बहाने कावेरी के हृदय में प्रवेश करते हुए अच्छे हावभावोंवाली पटरानीयों के साथ तट की भूमि से नदी में उतरे ।। ४७ ।।

अपघनरुचिभिः कलिन्दकन्याममरधुनीममलस्मितांकुरेण ।
निवसनमहसा च शोणवेणीमकृत स सह्यसुतामनेकधैकाम् ।। ४८ ।।

भगवान् रङ्गराज ने एक कावेरी को अनेक रूपवाली कर दिया, नीले मेघकीसी शरीरकान्ति से कावेरी को कालिन्दी (यमुना) बना दी, निर्मल मन्दहास के अंकुर से आकाशगङ्गा बना दिया, वस्त्रों की कान्ति से सोनभद्रा बना दिया ।। ४८ ।।

सकुतुकमवलम्ब्य बाहुदण्डानवतरणे सरितो हरेस्तरुण्यः ।
व्यधिषत सुदृशो यतो विहारं सफलममुष्य चतुर्भुजत्वमासीत् ।।४९।।

नदी में उतर कर बैठने में भगवान् रङ्गराज की सुन्दरनयनवाली पटरानियां कोतुक के साथ भगवान् की भुजाएं पकड कर विहार करने लगीं, इसी कारण रङ्गराज भगवान् का चतुर्भुज होना सफल हो गया ।। ४९ ।।

सलिलविहृतिलोलकामिनीनां निबिडनितम्बनिमज्जनेन पूर्वम् ।
अजनि तटबिलंघि वारि पश्चात्सममजनिष्ट गभीरनाभि(पी)वीतम् ।।

जलविहार में चञ्चल हुई कामिनियों के मोटे-मोटे नितम्बों के पानी में डूबने से पहले तो पानी किनारे पर छलांग मारने लगा। पीछे नाभियों में पानी भर जाने से बराबर हो गया ॥ ५० ॥

विसृमरविभवे विगाहमाने भगवति रङ्गपतौ तदीयकण्ठम् ।
युवतिभुजलताः कवेरकन्यातरलतरङ्गभुजैस्सहाग्रहीषुः ॥ ५१ ॥

विस्तृतविभववाले भगवान् रङ्गनाथ जब पानी में डुबकी मारते थे, उस समय उनके कण्ठ को पटरानियों की भुजलताएं कावेरी की चञ्चल तरङ्गरूपी भुजों के साथ पकडती थीं ॥ ५१ ॥

व्यतनुत जलकेलिविभ्रमोद्यद्युवतिपयोधरमग्नवारिपूरा ।
सरिदियमुदरोपविष्टमेनातनयगिरेर्महिमानमम्बुराशेः ॥ ५२ ॥

जलविहार के विभ्रम में नगी हुई युवतीयों के वडे-बडे स्तनों के पानी में डूवने के कारण आया है प्रवाह जिस में ऐसी यह कावेरी नदी मैनाकपर्वत जिसमें डूबा हुआ है, ऐसे समुद्र की महिमा को प्राप्त कर रही थी, अर्थात् मैनाकपर्वत के समुद्र में डूवने से समुद्र की जैसी शोभा थी, वैसी ही शोभा इन तरुणियों के स्तन कावेरी में डूवने से इसकी भी हुई ॥ ५२ ॥

करकमलपुटोद्धृतैः पयोभिः कमलदलायतलोचनास्सलीलम् ।
करिणमिव करेणवः कराग्रैः प्रचलितकङ्कणमेनमभ्यषिञ्चन् ॥ ५३ ॥

कमलदल के समान बडी-बडी आखोंवाली देवियां खेलने-खेलने दोनों हाथों की अंजली से पानी भगवान् रङ्गनाथ को इस प्रकार सींचने लगी, जैसे हथिनियां अपने हाथी पर सूण्डों से पानी डाला करती हैं। उस समय भगवान् को देवियों के हाथों के कङ्कण बज रहे थे ॥ ५३ ॥

नयनविवलनं विवृत्तमीनैः चिकुरभरस्सह शैवलावलीभिः ।
स्तनयुगलमपि व्यलोकि कोकैर्युवतिषु वारिविहारकारिणीषु ॥ ५४ ॥

जलविहार करती हुई स्त्रियों में आखों का चलाना उछलती हुई मछलियों के समान जान पडता था, उनका केशभार शैवाल की आवलि समान दीखता था, एवं दोनों स्तन कोकपक्षी के समान दीखते थे। यहां नदी में उपमान दोनों और उपमेय एक साथ उपस्थित थे ॥ ५४ ॥

असिचदमलभस्त्रिकाम्बुनैका हरिमपरा करयन्त्रमुक्ततोयैः ।
अपि लघुकरभृङ्गवारिणाऽन्या घनपटलीव पयोभिरञ्जनाद्रिम् ॥

एक ने पखाल के निर्मलपानी से भगवान् को सींचा तो दूसरी ने पिचकारी से भगवान् को शराबोर कर दिया, तीसरी छोटे से फुव्वारे की छोटी-छोटी बूंदें भगवान् पर ऐसा बरसाने लगी जैसे मेघमाला अञ्जनपर्वत पर छोटी-छोटी बूंदें बरसाती हो ॥ ५५ ॥

गलदविरलवारिनालमीशं प्रति तरुणी यदमुञ्चतासिताब्जम् ।
प्रसवशरविमुक्तवारुणास्त्रं तदजनि नो यदि तं कथं नु जेयात् ॥

एक युवती ने भगवान् पर नालसहित नीलकमल फेंका जिससे अविच्छिन्न पानी टपकता था। वह कामदेव का छोडा हुआ वारुणास्त्र बन गया। यदि ऐसा न होता तो कामदेव भगवान् रङ्गनाथ पर विजय कैसे पाता ॥ ५६ ॥

अधिजलमपरा ममज्ज केल्या तदनु निमज्जनमच्युतोऽपि तन्वन् ।
पुनरपि स युगान्तसिन्धुमज्जद्धरणिसमुद्धरणक्रियामवाक्षीत् ॥ ५७ ॥

एक देवी पानी में खेल से डूबने लगी, उसके पीछे रङ्गराज भगवान् भी उसको निकलने के लिए डूबने लगे। यह ऐसा मालूम होता था कि युगान्त में समुद्र में डूबी हुई धरती का उद्धार करने के लिए डुबकी मार रहे हैं ॥ ५७ ॥

विहरणमधिकं वितन्वतीनां पयसि गलद्वयसे विलासिनीनाम् ।
विचलदलकषट्पदानि चक्रुः विकसिततामरसद्रुतिं मुखानि ॥ ५८ ॥

युवतीयां गले तक पानी में बैठी हुई क्रीडा कर रही थीं। केवल उनके मुखकमल बाहर थे। उनके शिर के केश उनके मुंहपर विखरे हुए थे। वह ऐसा मलूम होता था मानों कमल पर भोंरों के झुण्ड मण्डरा रहे हैं ॥ ५८ ॥

व्यपगतवसना हृताङ्गरागा विलुलितकेशभरा विकीर्णभूषाः ।
हरिहरिणदृशोपकज्जलाक्ष्यो मनसिजकेलिमिवाम्बुकेलिमापुः ॥ ५९ ॥

काम क्रीडा में जो दशा होती है, वही दशा इन मृगनयनियों की जलक्रीडा के समय भी हो गयी, खेलते-खेलते कपडे खुल गये थे। स्तनों पर लगी केसर कस्तूरी घुल गयी, शिरके बाल खुलकर इधर उधर विखिर गये। गले के हार उलटे सीधे हो कर आपस में अरझ गये। आखों का काजल भी धुलपुछ गया ॥ ५९ ॥

सरिदसितदृशां हृताङ्गरागा स्फुरितसरोजरजोर्पिताङ्गरागा ।
अपहृतसुकुमारहारयष्टिः व्यतिदिशते स्म तुषारहारयष्टिम् ॥ ६० ॥

इस सरिता ने काली-काली भमराली आखोंवालियों के शरीर पर लगे हुए केसर कस्तूरी के लेप को हर लिया है, उसके वदले में खिले हुए कमल की रज को अङ्गराग दे दिया है, एवं कोमलहार लता को लेकर तुषार की हारलता पहना दी है ॥ ६० ॥

विहरणनिपुणाच्युतावरोधस्तनकलशच्युततारमौक्तिकालिः ।
सरिदनुकुरुते स्म ताम्रपर्णीमभिनवमौक्तिकसम्पदेकभूमिम् ॥ ६१ ॥

विहार में परमचतुर जो भगवान् रङ्गराज की पटरानियां हैं, उनके कलश के समान बडे-वडे स्तनों पर लहलहानेवाली शुद्धमोतीयों की पांतियां इस नदीं में बिखरी पडी हैं जिस से यह नदी, नये मोतियों की सम्पत्ति को एक भूमि जो ताम्रपर्णी है, उसका अनुकरण कर रहा है ॥ ६१ ॥

घननिबिडबृहन्नितम्बबिम्बालसगमनाभिरसौ निजाङ्गनाभिः ।
प्रणवमयगृहं विवेश रङ्गं सह करिणीभिरिव द्विपो निकुञ्जम् ॥६२॥

आपस में अच्छी तरह मिले हुए वडे-वडे नितम्वबिम्वक भार से आलस के साथ चलनेवाली अपनी सुन्दरियों के साथ भगवान् रङ्गराज ने इस तरह प्रणवमय विमान श्रीरङ्गक्षेत्र में प्रवेश किया, जैसे हाथी अपनी हथिनियों के साथ निकुञ्ज में घुसता है ॥६२ ॥

वर्षावर्णनम् ।

अथ घनसमयो मयूरबन्धुर्मदनमहेभमदोदयोऽजनिष्ट ।
सितगरुदशनिश्शिलीन्ध्रमित्रं शुचिसमयोष्णहराभिचारधूमः ॥ ६३ ॥

ग्रीष्मऋतु के उपरान्त मोरों का वन्धु वर्षाकाल प्राप्त हुआ जो मदनरूपी वडे भारी हाथी का मद उत्पन्न करनेवाला है, हंसपक्षियों के लिए वज्र के समान और ऋेंचुओं के लिए परम मित्र है, एवं ऐसा प्रतीत होता है मानों ग्रीष्म की गरमी को मिटानेवाले अंभिचार का धूआ है ॥ ६३ ॥

असितयवनिका तटिन्नटीनामलघुवितानमनन्तमण्डपस्य ।
मदनभुजमहानलस्य धूम्या समजनि काचन सम्पदम्बुजानाम् ॥६४॥

अनिर्वचनोय मेघों की सम्पत्ति उग आयी, यह विजलीरूपी नटियों के नाटक की काली नीली यवनिका है, एवं आकाशरूपी मण्डप की बडी भारी चांदनी भी है, तथा काम की भुजाओं की महाग्नि का धूमपटल है ॥ ६४ ॥

विषमशरजयानकप्रणादैर्विशदपतत्रविवासनैकमन्त्रैः ।
घनसमयघटोद्भटाट्टहासैः निरगमि नीरदनिस्वनैस्समन्तात् ॥ ६५ ॥

कामदेव की जीत के नगारों की घनघोर जिन्हें कह सकते हैं, एवं वडे-वडे पक्षों को विवासन करने का एक मन्त्र जिसे कह सकते हैं,

तथा जो वर्षकाल की घटाओं का वडा अट्टहास भी कहा जा सकता है, ऐसे मेघगर्जन चारों ओर फैल गये ।। ६५ ।।

जलधरपटलं विलोक्य नीलं सपदि पलायिषतामला मरालाः ।
क्षणमपि विमलात्मनां हि वस्तुं न सदृशमेव पुरो मलीमसानाम् ।।।६६।।

मेघों की नीली नीली घटाओं को देख कर प्रकृतिशुद्ध जो हंस थे, वे शीघ्र ही भाग चले, क्यों कि विमलात्मा लोगों को मलिन पुरुषों के सामने एक क्षण भी रहना अयुक्त है ।। ६६ ।।

जगति विरहिणीकृतान्तदूतः कमलकदम्बककर्तरीनिपातः ।
प्रसृमरघनशीकरालिशीतः प्रतिदिशमाविरभूत्पयोदवातः ।। ६७ ।।

संसार में वियोगिनियों के लिए जो यमदूत-सा प्रतीत होता है, कमलों के समुदाय पर जो कैंची के गिरने के समान है, फैलनेवाली घन बिन्दुओं की पंक्ति के कारण अत्यन्त शीतल जो मेघों कीं वायु प्रत्येक दिशा में फैल गयी ।। ६७ ।।

विकचकुटजकेतकीकदम्बप्रसवरजःपटलं घनानिलोत्थम् ।
कुसुमशरशरारुणेव मुक्तं विरहिविमोहनचूर्णमाबभासे ।। ६८ ।।

घनी वायु से उठे हुए खिले हुए कुरैया और केतकी के राज का समुदाय कामदेवरूपी चतुर शिकारी के फेंके हुए विरही जनों को मोहित करने के लिए मोहनचूर्ण के समान मालूम पडा ।। ६८ ।।

असितजलधराहिनार्ऽदितस्य प्रसृमरपूर्वसमीरफूत्क्रियेण ।
अजनि युवजनस्य जीवनाय प्रणयिवधूपरिरम्भसम्पदेव ।। ६९ ।।

मेघरूपी काले सांप से डंसे हुए युवकों के जिलाने के लिए पूर्ववायुरूप मन्त्र पढनेवालों के फूत्कार ने प्यारी वधू के आलिंगन की सम्पति के समान जन्म लिया ।। ६९ ।।

नवघननिनदे विजृम्भमाणे नभसि ततो भुवि च प्रतिश्रुतेव ।
प्रमुदितशिखिभेकचातकेभप्रकरपटुध्वनिसम्पदोदभावि ॥ ७० ॥

आकाश में नये-नये मेघ गरजते थे; उनकी प्रतिध्वनि के समान भूमण्डल पर प्रसन्न हुए मोर, मेंडक, चकोर और हाथियों के समुदाय की सुन्दरध्वनि उत्पन्न हुई ॥ ७० ॥

विरहिगरलमम्बुजापदभ्रद्विरदरदो रवितापशापतोयम् ।
शिखिनिवहसुकर्मचातकार्तिप्रशमभिषक्प्रथमोदबिन्दुरासीत् ॥ ७१ ॥

पानी की पहली बूंद विरही जनों के लिए विष थी, तथा कमलों के लिए आपत्ति थी, मेघरूपी हाथी का रद (दांत) थी, सूर्य के ताप के लिए शापजल थी, यानी उसे शान्त करनेवाली थी, मोरों के समूह का सुकर्म थी, चातकों की तकलीफ़ को मिटानेवाली वैद्य थी ॥

जगदखिलमनन्यजस्य जेतुं जिगमिषतस्समयेन कल्पितस्य ।
जलधरपटमण्डपस्य नव्यां प्रगुणगुणश्रियमापुरम्बुधाराः ॥ ७२ ॥

वर्षा की जलधाराएं, संपूर्ण संसार को जीतने के लिए जाने की इच्छा करनेवाले, अनन्यज कामदेव के लिए समयपर बनाये गये मेघ पटलरूप तम्बू के लिए उसके तानने की डोरी की भांति शोभा दे रही थी ॥ ७२ ॥

प्रतिदिशरटितासिताम्बुवाहप्रचयपरस्परघट्टनारभटचा ।
कुटजकुसुमकोरका नभस्तः परिपतिता भुवि तारका इवाभुः ॥ ७३ ॥

काले-काले मेघ प्रत्येक दिशा में गरज रहे थे। मेघों के परस्पर टक्कर लगने से जो शब्द होते थे, उनके कारण पृथिवी पर गिरी हुई कुरैया फूलों की कलियां आकाश से गिरे हुए तारों के समान शोभा देती थी ॥ ७३ ॥

स्तनितविपुलदेहमम्बुवाहं हयमधिरूढवतः पुरन्दरस्य ।
करतलकलिता कशेव हैमी क्षणरुचिसन्ततिरम्बरे विरेजे ॥ ७४ ॥

आकाश में चमकती हुई बिजली, गरजते हुए विशालकाय मेघ रूप घोडे पर चढे हुए इन्द्रदेव के हाथ में स्वर्णमय कशा (चाबुक) की भांति मालूम होती थी ।। ७४ ।।

नभसि गतवतोर्नवाम्बुवाहैः शिशिरनिदाघरुचोरगोचरत्वम् ।
स्मितवति वदने स्तने च कोष्णे हरिणदृशोऽजनि चन्द्रिकातपश्रीः ।।

आकाश में नये बादलों के कारण जो सूर्य और चांद छिप गये, ताप और चांदनी जाती रही थी, वे दोनों मृगनयनियों के उष्ण स्तनों और मन्द मुस्कान के द्वारा फिर प्रकट हो गयी ।। ७५ ।।

वसुतिथिबुधरोहिणीजयन्तीदिननिशि नाभसमासि कृष्णपक्षे ।
स्वजननमहमातनोत्स रङ्गी स्नपनसुभक्ष्यशुभोदनार्घभेदैः ।। ७६ ।।

भादों महिने के कृष्णपक्ष की अष्टमि तिथि. बुधवार और रोहिणी युक्त जयन्ती के दिन रात्रि में श्रीरङ्गनाथ भगवान् ने स्नान, भक्ष्य, भोज्य, अर्घ्य आदि के द्वारा अपना जन्मोत्सव मनाया ।। ७६ ।।

हरितनुपरिवर्तनक्रियार्हे हरिदिवसे हरिमासि रङ्गराजः ।
निखिलहरिगणैर्निषेव्यमाणो महितपवित्रमहोत्सवोत्सुकोऽभूत् ।।७८।।

परिर्वतिनो एकादशी के दिन, समस्त हरिगणों से सेवित श्रीरङ्गराज भगवान् पवित्रमहोत्सव करने को उत्सुक हुए ।। ७७ ।।

पतगपतिमुखान् क्रमेण वाहान्नवमदिनावधि सोऽधिरूह्य रङ्गी ।
अवभृथजलपूतसर्वलोकः हरिरवरोधसखो निनाय वर्षाः ।। ७८ ।।

इस महोत्सव के अवसर पर नौ दिन भगवान् श्रीरङ्गनाथजी गरुड आदि वाहनों पर चढ कर वीथियों में लोगों को दर्शन दिया। अन्तिम दिन अवभृथस्नान से समस्त भक्तजनों को पवित्र किया। इस प्रकार श्रीरङ्गनाथजी ने अपनी पत्नियों के सहित वर्षाकाल बिताया ।।

अथ शरदृतुवर्णनम् ।

लघुविमलपयोधरोत्तरीया ललितमरालगतिस्सतारहारा ।
स्फुरितशशिमुखी स्फुटाम्बुजाक्षी शरदबलेव समीपमाप विष्णोः ।।७९।।

छोटे श्वेतमेघरूपी उत्तरीय धारण किये हुए, सुन्दरराजहंसगतिवाली, तारकारूपी मुक्ताहार धारण किये हुए और प्रकाशमान चन्द्रमुखवाली, विकसित कमलनेत्रवाली शरदऋतु कामिनी के समान भगवान् रङ्गनाथ के पास आ पहुंची ।। ७९ ।।

विमलविधुकरैर्विकासिकाशैः विशदविहङ्गमपंक्तिभिस्सिताभ्रैः ।
विकसितनवपुण्डरीकषण्डैरपहसतीव शरत्तदेतरर्तून् ।। ८० ।।

यह शरदऋतु निर्मल चन्द्रकिरणों, फूले हुए काशकुसुमों, उडते हुए हंसों की पातियों, सफेद वादलों, और खिले हुए सफेद कमलों के द्वारा दूसरी ऋतुओं की मानों खिल्ली उडा रही है ।। ८० ।।

अधिसुरभि मनोज्ञपुष्पवत्यः शुचिविशरारुसमीरधूसरांग्यः ।
तदनु घनघटाहिताभिषेकाः शरदि दिशो विमलांबरा विरेजुः ।। ८१ ।।

दिशाएं रूपी युवतियां वसन्तऋतु में पुष्पावति हुई, (रजोधर्म हुई) फिर ग्रीष्मऋतु (आषाढ में) अधेड के कारण उनके शरीर धूल धूसरित होने मैली कुचली हो गयी, फिर वर्षा के जल से स्नात हो, शरदऋतु में विमलवस्त्रादि धारण करके निर्मल और पवित्र हो गयी ।। ८१ ।।

कलशसलिलराशिकेलितल्पाच्छरदि पुमान् परमो ध्रुवं प्रबुद्धः ।
तपनहिमकरौ तदक्षिभूतावतिविमलौ कथमन्यथा भवेताम् ।। ८२ ।।

शरदकाल में क्षीरसमुद्र की केलिशय्या से श्री पुरुषोत्तम भगवान् निश्चय ही उठ पडे, यदि ऐसा नहीं होता तो उनके अक्षिभूत जो सूरज और चांद हैं, वे अत्यन्त स्वच्छ कैसे हो जाते । वेदों में सूरज और

चांद को भगवान् का नेत्र कहा है। शरदकाल में ये दोनों स्वच्छ हो जाते हैं, जिसीका यह आलङ्कारिक वर्णन है ॥ ८२ ॥

कलशजलधिशायिदेवबोधप्रदहरिवासररात्रिपश्चिमांशे ।
कुशिकजकथिताः पुरेव रङ्गी श्वपचनुता व्यशृणोत्स कैशिकोक्तीः ॥

क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले देव को वोध दैनहारे एकादशी के दिन रात के पिछले पहर श्रीरङ्गराज महाराज ने, चंडाल के स्तोत्र रूपी कौशिकपुराण की उक्तियां सुनीं, जैसे श्रीरामावतार में विश्वामित्र मुनि के मुख से निकले हुए प्राबोधिक स्तुतियां सुनी थी ॥ ८३ ॥

सकलजनमहैकहेतुरूर्जे तिथिरुदभूदथ कार्तिकी मनोज्ञा ।
सह युवतिजनेन तत्र रङ्गप्रभुरपि दीपमहोत्सवं व्यधित्सत् ॥ ८४ ॥

जिस में सव लोग आनन्दोत्सव मनाते हैं, वह सुन्दर कार्तिकी तिथि आ गयी। भगवान् रङ्गराज ने भी अपनी युवतियों के साथ दीपमहोत्सव मनाया ॥ ८४ ॥

विरचितशुभमज्जनः प्रभाते विधृतविशेषविभूषणाभिरामः ।
हरिरखिलजनाय सोपदाय स्वपदसरोरुहदर्शनं व्यतारीत् ॥ ८५ ॥

भगवान् रङ्गराज ने प्रातःकाल शुभ मज्जन किया, पीछे विशिष्ट आभूषण धारण किये और उपहार लिये हुए जनों को अपने चरणकमलों के दर्शन दिये ॥ ८५ ॥

नभसि निरवलम्बके स्वसप्तीन्विहितविशृङ्खलचंक्रमक्रमार्तान् ।
स्नपयितुमिव पश्चिमांबुराशौ चरमगिरेश्शिखरं जगाम सूर्यः ॥ ८६ ॥

भगवान् सूर्यदेव भीं आलम्बरहित आकाश में किये गये स्वच्छन्दता के साथ दौडने से आर्त हुए अपने घोंडों को, मानों पश्चिमी समुद्र में स्नान कराने के लिए अस्ताचलपर्वतकी चोटी पर पहुंच गये ॥८६॥

परिणतमदिराविपाटलाभिः दिवसकरस्य निचोलितः प्रभाभिः ।
चरमगिरिरभात्पुरोऽवसिक्तो हरिभिदुरक्षतनिस्सृतैरिवास्रैः ॥ ८७ ॥

अच्छी तरह पकायी हुई मदिरा के पाटलरङ्ग के समान रङ्गवाली सूर्यदेव की किरणों से व्याप्त होकर अस्ताचल सूर्य के घोडों की टापों के आघात से निकले हुए लहू से नहाया हुआ मालूम होता था ॥ ८७ ॥

इयमतिविपुलान्तरिक्षसीमागमनभवक्लमविक्लबेव तस्य ।
दिवसपरिवृढस्य पादपंक्तिः प्रकटयतिस्म नितान्तपाटलत्वम् ॥ ८८ ॥

सूर्यदेव की पादपंक्तियां अत्यन्त वडे आकाश की सीमा के गमन से, होनेवाले परिश्रम से, लाल हुई की भांति एकवारगी पाटलरङ्ग को प्रकट कर रही हैं ॥ ८८ ॥

चरमसलिलराशितुङ्गवीचीपटलपरस्परघट्टनोत्थितस्य ।
मधुरिपुभुजमध्यकौस्तुभस्य द्युतिमतनिष्ट दिवाकरस्य बिम्बम् ॥८९॥

सूर्यदेव का बिम्ब, पश्चिमी समुद्र की ऊची-ऊंची तरङ्गों के परस्पर टक्कर लगने से उठी हुई भगवान् की दोनों भुजाओं के वीच वन्धी हुई कौस्तुभमणि की शोभा पा रहा था ॥ ८९ ॥

अरुणकिरणकेसराभिरामं वरुणदिगन्तरलम्बिभानुबिम्बम् ।
त्रिभुवनविजिगीषुणाऽस्त्रमाभात्प्रसव इव प्रसवेषुणा प्रयुक्तम् ॥ ९० ॥

उस समय अरुणरङ्ग की किरणरूपी केसर से सुन्दर जो वरुण दिशा के अन्तर में लटकता हुआ सूर्यदेव का मण्डल था, वह तीनों भुवनों के जीतने की इच्छावाले पुष्पों के वाणवाले कामदेव के छोडे हुए फूलों के अस्त्र की तरह, शोभायमान हो रहा था ॥ ९० ॥

सरभसमपराम्बुराशिपूरे दिवसकरेण निमज्जता नभस्तः ।
प्रभवति क इहावलम्बितुं माम् इति दिवि नूनमुदञ्चितं कराग्रम् ॥

पश्चिमी समुद्र की विशाल जलराशि में आकाश से एकदम डूबते हुए सूर्यनारायण ने, दिव में हाथ ऊपर को निकाल दिया कि देखूं डूबते हुए मुझे सहारा देने के लिए कौन समर्थ होता है। सायंकाल में लाल-लाल सूर्यमण्डल के किरण डूबते हुए सूर्य का हाथसा प्रतीत होता है कि मानो आलम्ब पाने के लिए सूर्य ने हाथ निकाल रखा हो ॥९१॥

अनुचितमहिमद्युतेर्निपातं कमितुरिहेक्षितुमित्यसौ विषण्णा ।
मुकुलितकमलेक्षणाब्जिनी यत्प्रकृतिरियं ह्युचिता पतिव्रतानाम् ॥९२॥

यहां पतिदेव सूर्य का पतन देखना उचित नहीं है, इस कारण यह कमल के से पत्तों की आंखवाली कमलिनी आंख मीच कर दुःखी हो रही है। क्यों कि पतिव्रताओं की प्रकृति होती है, वे पति के कष्ट को कभी सह ही नहीं सकतीं, अवश्य ही मलिन हो जाया करती हैं ॥ ७२ ॥

अपरशिखरिशृङ्गतः पतङ्गः पतित इति प्रथमेतराम्बुराशौ ।
अचकथदिव निस्वनैर्जनानां निजनिजनीडनिपातिपत्रिजालम् ॥ ९३ ॥

सूर्यदेव अस्ताचल पर्वत की चोटी से पश्चिमी समुद्र में गिर गये। अपने-अपने घोंसलों में घुसता हुआ पक्षिसमुदाय, लोकों को यह कहता हुआसा प्रतीत हो रहा है, सूर्यदेव गिर गये। सूर्य के छिपते ही पक्षिगण अपने-अपने घोंसलों को चहचहाते हुए चले गये ॥ ९३ ॥

सपदिमुकुलदम्बुजोपविष्टभ्रमरकदम्बमिषात्सरोजिनीयम् ।
प्रियरविविरहव्यथासहिष्णुः गरलभरं कबलीचकार नूनम् ॥ ९४ ॥

यह कमलिनी, शीघ्र ही कुम्हिलाते हुए कमलों पर बैठे हुए काले भोंरों के समुदाय के बहाने, प्यारे रवि के वियोग की तकलीफ को न सहती हुई, प्रचुर गरल खा रही है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ९४ ॥

जहिहि शुचमिमां सहस्व रात्रिं तव दयितः पुनरेष्यति क्षपान्ते ।
इति निजकरुणस्वनैरलीनां कुलमिदमम्बुजिनीमिवान्वरोदीत् । ९५ ॥

उस समय भौंरों का कुल अपने करुणशब्दों से यह कहता हुआ कमलिनो को सान्त्वना दे रहा है, इस वियोग के शोक को छोड दे। एक रात की बात है, वियोग का दुःख सह जा, तेरा प्यारा पति प्रातःकाल होते ही फिर तेरे पास आ जायगा ॥ ९५ ॥

अपरजलधिविद्रुमांशुवीप्सा चरमधराधरधातुपौनरुक्त्यम् ।
नभसि पदमधत्त सान्ध्यरागो वरुणपुरीवनिताङ्गरागभेदः ॥ ९६ ॥

आकाश में फैली हुई सायङ्काल की लाली ऐसी मालूम होती थी, कि पश्चिम समुद्र में पडे हुए मूंगे की किरणों को दुहराती हुई, पश्चिमाचल के गेरू के रङ्ग को बढाती हुई वरुणपुरी की स्त्रियों के रक्तचन्दन के समान है ॥ ९६ ॥

गगनजलनिधिप्रवालजालं मनसिजभूपभुजप्रतापवह्निः ।
अपरदिगबलापदाब्जलाक्षा चरममहीभृदशोककर्णपूरः ॥ ९७ ॥

आकाशरूपी महासमुद्र के मूगों का जाल और मन्मथ महाराज के भुजा के प्रताप की अग्नि की रङ्गत, मूंगों के समुदाय की तरह शोभायमान हो रहो थी, पश्चिम दिशारूपी स्त्री के चरणकमलों के महावर दिखा रही थी और पश्चिमी पर्वतरूपी राजा के कान पर रखे हुए अशोकपुष्प के गुच्छे ॥ ९७ ॥

नवकिसलयजालमम्बरद्रोः तिमिरमधुव्रतरक्तपद्मवन्या ।
अरुणयवनिका नटत्पुरारेः विरहकृशानुशिखा रथाङ्गनाम्नाम् ॥ ९८ ॥

यह आकाशवृक्ष की नयी-नयी किसलयों का जाल था, एवं अन्धकार रूपी भौंरों के रहने के लिए लालकमलों का वन, नाट्य में नाचते हुए शिवजो के लालरङ्ग का परदा था, चकवी चकवाओं की विरहाग्नि की लौ थी ॥ ९८ ॥

गतवति चरमाम्बुधौ निपत्य प्रणयिनि चण्डरुचावगोचरत्वम् ।
अनुमरणचिकीर्षया दिनश्रीविहितशिखीव रराज सान्ध्यरागः ॥९९॥

प्यारे सूर्य के पश्चिमी समुद्र में गिरकर अदृश्य हो जाने पर, उस के साथ सहगमन करने की इच्छा से दिनलक्ष्मी की बनाई हुई चिताग्नि के समान सायङ्काल की लाली शोभायमान हो रही थी ॥

अथ कुसुमकदम्बमम्बरद्रोः उडुनिकुरुम्बमजृम्भतावदातम् ।
दिनविगमनटत्कपर्दमूर्धप्रसृतमरुत्सरिदूर्मिशीकराभम् ॥ १०० ॥

सन्ध्या के बीत जाने पर आकाशवृक्ष के खिले हुए फूलों के समुदायों की भांति तारों का सुन्दर तथा स्वच्छ समुदाय शोभायमान होने लग गया । इसकी चमक, सायङ्काल के समय नाचते हुए शिव के शिर से निकले हुए देवनदी की लहरों के जलकण की सी थी ॥१००॥

ध्रुवमखिलदिशानितम्बिनीनां कबरभरत्वमथादियं तमिस्रा ।
सितमुडुनिकुरुम्बमप्ययासीत्तदुदरसंयतपुष्पदामशोभाम् ॥ १०१ ॥

यह अंधेकार ऐसी मालूम होता था कि संपूर्ण दिशारूपी स्त्रियों के केशवेश की राशि है, इस में कभी-कभी चमकनेवाले तारों के समूह केशो में वन्धी हुई पुष्पमाला की शोभा पा रहे थे ॥ १०१ ॥

वियदसितसरोजभृङ्गसंघो मनसिजबाहुमहोऽग्निधूमपालिः ।
रजनियुवतिमेचकोत्तरीयं त्रिभुवनकाननकेलिदन्तिबृन्दम् ॥ १०२ ॥

आकाश के नीले कमलों के भोंरों के सुमुदाय सा, तथा कामदेव की बडी-बडी तेजस्वी भुजाओं की आग के धूये की पंक्ति सा, एवं निशारूपी नवयुवती की काली ओढनी और तीनों लोकरूपी वन में क्रीडा करते हुए हाथियों का समुदाय ॥ १०२ ॥

विरहिजनकरालकालदूतः विलसदुलूकदृगञ्जनप्रपञ्चः ।
दशहरिदबलाशिरोजभारः गगनमहार्णवशैवलप्ररोहः ॥ १०३ ॥

विरहियों के लिए कराल यमदूत था, घुग्घू की आंखों के लिए काला अञ्जन था, दसो दिशारूपी स्त्रियों की केशराशि था, आकाशरूपी महासमुद्र का शैवाल था ॥ १०३ ॥

विरहिमशकमण्डलैकधूमः विषमशरद्विरदेन्द्रदानपूरः ।
गगनवनतमालतल्लजश्रीः गरलरुचिस्समजृम्भतान्धकारः ॥ १०४ ॥

वह विरही जनरूपी मच्छरों के मण्डल के धूँआ था। कामदेव रूपी मदमत्त महागज के मदजल का प्रवाह था, आकाशरूपी वन के सुन्दर तमाल वृक्षों की शोभा था, जहरका सा रङ्ग था, ऐसा अन्धकार छाये हुए था ॥ १०४ ॥

घनपटलसनाभिभिस्तमोभिः निखिलदिशाञ्च निचोलितेऽन्तराले ।
सकलजनविलोचनापमृत्युप्रशमभिषग्विधुकान्तिरुन्मिमेष ॥ १०५ ॥

मेघमण्डल की जातिवाले अन्धकारों ने सारी दिशाओं के बीच को ढक दिया था, उसी समय सब मनुष्यादि की दृष्टि की अपमृत्यु के निवारक राजवैद्य की तरह चन्द्रमा की चान्दनी निकली ॥ १०५ ॥

शशिनि पिबति शर्वरीरमण्या मुखमनुरागिणि मीलिताम्बुजाक्षम् ।
तदुदितबहलश्रमाम्बुबिन्दुश्रियमकरोदुडुबृन्दमन्तरिक्षे ॥ १०६ ॥

प्रेमी चांद अपनी प्रेमी रात्रि के मुख का चुम्बन ले रहा था, जिस मुख में कमलरूपी आखें बन्द हैं। उस समय आकाश में तारों का समुदाय, उस चुम्बन से उत्पन्न हुए श्रम के कारण पसीने की शोभा दे रहा था ॥ १०६ ॥

निवसनमसितं दिगङ्गनानां तिमिरसमूहमभंगुरं निरस्य ।
विधुरमलदूकूलमेष दत्ते विसृमरदीधितिकन्दलच्छलेन ॥ १०७ ॥

यह चांद, दिशारूपी सुन्दरियों के काले वस्त्र गाढ तम को दूर करके, फैलनेवाली किरणों के छोटे से ममुदाय के बहाने, सफेद साडी दे रहा है ॥ १०७ ॥

विकचकुमुदकाननान्तरालस्फुरितरजःपुनरुक्तचन्द्रिका द्यौः ।
विहरदुदधिवीचिशीकराली पुनरुदितोडुपरम्परेव रेजे ।। १०८ ।।

खिले हुए कुमुदवन के बीच बिखरे हुए रजकण के कारण आकाश में दुगुनीसी चांदनी छिटकी हुई थी । [खिले हुए श्वेतकमलों के वीच में बिखरी हुई कमलों की रज, फिर कही हुई सी प्रतित होती थी ।] वह वढते हुए समुद्र की तरङ्गों की बूंदों की पंक्ति में फिर उदय हुए तारों की पंक्ति के समान सुशोभित हो रही थी ।।१०८।।

उदयति सकलाः कला दधाने तिमिरमपायमियाय यन्मृगाङ्के ।
युगपदिव तमश्चचर्व दूर्वाकबलधिया हरिणस्तदङ्गसङ्गी ।। १०९ ।।

संपूर्ण कलाओं को धारण किये हुए मृगलाञ्छन चन्द्रमा के उदय होने पर, अन्धकार उनके शरीर में लीन हो गया था, मानों चन्द्रमा के शरीरसाथी हिरण, चन्द्रमा के उदय के साथ ही साथ तम को अपना दूब समझकर चर गया हो ।। १०९ ।।

कुमुददलकवाटकुञ्चिकानां तृषितचकोरगणार्तिभञ्जिकानाम् ।
युवजनवृषजालपिञ्छिकानां दिवि पटलं विससार चन्द्रिकाणाम् ।।

जो कुमुदों के दलरूपी किवाडों को खोलनेवाली चाभी है, प्यासे चकोर की प्यास को वुझानेवाली है, युवकों के इन्द्रियजालों के लिए वाजीगर की कूंची है, उस चांदनी का पटल (समूह) आकाश में फैल गया ।। ११० ।।

उदयगिरिकरीन्द्रकण्ठशंखो मदनमहीपतिमौक्तिकातपत्रम् ।
तुहिनकिरणबिम्बमाबभासे गगनसरस्स्मयमानपुण्डरीकम् ।। १११ ।।

चन्द्रमण्डल इस प्रकार शोभायमान हो रहा था, मानों आकाश रूपी सर का खिला हुआ श्वेतकमल हो, अथवा काम राजा का मोतियों का छत्र हो, या उदयाचलरूपी बडे भारी हाथ के कण्ठ का शंख हो ।।१११।।

उडुपरिबृढबिम्बरूप्यपात्रे विमलमयूखदशे सुधाज्यपूर्णे ।
असृजदुदयरागदीपमादौ मधुमथनाय पितृप्रसूर्मुहूर्तम् ।। ११२ ।।

अमृतरूपी घी से भरे हुए, चमकती हुई निर्मल किरणरूपी वत्ती वाले, एवं तारों से घिरे हुए बिम्बरूपी चांदी के पात्र में, सब से पहले सन्ध्या ने एक मुहूर्तभर भगवान् के लिए उदयकालीन लालिमारूपी दीपक जला दिया ।। ११२ ।।

विधिवदुपहृताञ्छुभे मुहूर्ते मणिमयपात्रगतान् विलोक्य दीपान् ।
निरगमदवलोकितुं विमानादधिशिबिकं स मनोज्ञतालदीपम् ।।११३।।

श्री भगवान् रङ्गनाथ मणिजटित पात्रों में सजाये गये, एवं विधि के साथ शुभमुहूर्त में नसाये गये, दीपकों को देखकर विमान (श्रीमन्दिर) से पालकी में वैठकर, सुन्दर तालदीपों को देखने चल दिये ।। ११३ ।।

मधुरिपुरथ हेतिराजधाम्नः मघवदिशाभिमुखास्थितः पुरस्तात् ।
उपरिरचितदीपिकं पुरस्ताज्ज्वलितमपश्यदसौ महाप्रदीपम् ।।११४।।

भगवान् रङ्गनाथ सुदर्शनमन्दिर से पूर्वदिशा की ओर मुंह करके खडे हो कर महाप्रदीप को देखा तो जिसके ऊपर चारों तरफ छोटे-छोटे दीये लगे हुए थे ।। ११४ ।।

व्यतनुत रमणीयतालनालं शिखिकणदर्शितकेसराभिरामम् ।
विततबहुशिखादलं सधूम्यामधुकरपंक्ति महाप्रदीपपद्मम् ।। ११५ ।।

यह महाप्रदीप कमल की तरह शोभा पा रहा था, सुन्दर तालरूपी इसका नाल था, अग्निकण कमल के केसर की तरह शोभायमान दीख रहे थे, बहुतसी वडी-वडी शिखाएं ही इसके दल थे, उठती हुई मनोहर धूमरेखा, भोंरों की पंक्ति की तरह शोभायमान हो रही थी ।। ११५ ।।

दिवि विसृमरया प्रदीपवह्नेः किरणपरम्परया कृतोपगूहाः ।
वलभिदुपवनद्रुमा मुहूर्तं ज्वलितमहौषधिसन्निभा विरेजुः ।। ११६ ।।

दीपकों की लट की ऊपर स्वर्ग में फैली हुई किरणों की लगातार पांतियों से छिटे हुए लपेट रखा है, ऐसे दीपक से मुहूर्तभर, इन्द्र के नन्दन वन के वृक्ष संजीवन बूटी (ज्योतिष्मतीं) के समान जगमगाट कर रहे थे ।। ११६ ।।

पुनरपि पुरवैरिवीर्यतप्तस्सुरसरिति ज्वलनः पपात नूनम् ।
अपि च सकललोकदत्तमिष्टं हविरिह दातुमिवोत्थितस्सुरेभ्यः ।।

फिर भी पुरारि शिवजी के वीर्य से तपा हुआ अग्निदेव, निश्चय ही, शान्ति पाने के लिए आकाशगङ्गा में गिर गया है, एवं ऐसा मालूम होता है, देवताओं को सब लोकों के द्वारा दिये गये इष्ट हवि को देने के लिए ऊपर उठ गया हो ।। ११७ ।।

मुररिपुरुपरिस्फुरत्प्रदीपे प्रशममुपेयुषि कान्ततालवह्नौ ।
जलनिधितनयालयाध्वनाऽसौ वरवरमण्डपभद्रपीठमाप ।। ११८ ।।

जब महादीपक शान्त हो चुका, तब भगवान् रङ्गनाथ महालक्ष्मी के मन्दिर के रास्ते *वरवरमण्टप में पहुंच कर †भद्रपीठ पर विराजमान हुए । यह दीपक सब के ऊपर था एवं अत्यन्त सुन्दर था, जिसका पहिले वर्णन किया जा चुका है ।। ११८ ।।

कलिरिपुकलितां नुतिं स शृण्वन् दशविधभृत्यनिवेदितस्तदात्वे ।
निरुपमशठकोपगीतगाथानिशमनकौतुकनिघ्नमानसोऽभूत् ।। ११९ ।।

---

*अळहियमणवाळन् तिरुमण्डपम् ।

†शेरपाण्डियन् सिंहासनम् ।

परकाल के बनाये हुए स्तोत्रों को सुनते हुए प्रकार के सेवकों की प्रार्थना से श्री शठकोप के बनाई हुई दिव्यगाथाओं के सुनने के लिए तन्मनस्क हो गये ॥ ११९ ॥

जगदुदयभृतिप्रणाशहेतुं विधृतहृता वरगन्धमाल्यपूर्वम् ।
परिजनमुखतस्तमानिनीषुश्शठरिपुपार्श्वमनीनयन्निदेशम् ॥ १२० ॥

श्री शठकोपसूरि को बुलाने के लिए अपने परिजन के द्वारा अपने उतारे हुए चन्दन और पुष्पमालाओं के साथ आज्ञापत्र भेजा, जिस आज्ञा के वश संसार की सृष्टि, स्थिति और संहृति हुआ करती है ॥ १२० ॥

शठजिदपि समुत्थितः पुरस्तात्प्रतिहरिशासनमागतं प्रणम्य ।
शिरसि च स निधाय गानहेतोः निरगमदुज्वलतैलसिक्तकण्ठः ॥

श्री शठकोप स्वामी भी सामने जाकर आये हुए भगवान् के शासन के प्रति प्रणाम कर के उसे अपने शिरपर रख उज्वल तेल से कण्ठ को सींच कर गाने के लिए चल दिये ॥ १२१ ॥

हिमसमयवर्णनम्

अथ हिमसमयस्समाविरासीत्सरसिजकाननचारुतान्तरायः ।
अलघुतुहिनवृष्टचलीकवर्षो दयितवियुक्तवधूकृतान्तदंष्ट्रा ॥ १२२ ॥

इसके बाद हिमऋतु का समय पहुंच गया। यह कमलवन के सुन्दरता का विनाशक था। इसमें बरफीली स्थानों पर निरन्तर वर्फ की वर्षा होती रहती थी। जिस प्यारी वधूटी से उसका प्यारा अलग हो गया है, उसके लिए तो वह शीतकाल की ही दाढ था ॥ १२२ ॥

तुहिनभरमशेषतोऽपनेतुं द्युमणिरलं न घनं करैस्तदाऽभूत् ।
लघुरपि महतीं विवृद्धिमाप्तः भुवि महतोऽपि भवेद्धि कृच्छ्रसाध्यः ॥

भगवान् सूर्यदेव जिन किरणों से ग्रीष्मकाल में धरती और आकाश को तपा दिया करते थे, उन्हीं किरणों से इस समय भी वह काम नहीं कर सकें, यही बात नहीं थी, इस समय तो शीत भी हटना कठिन था। छोटा भी कोई वृद्धि को प्राप्त हो जाता है तो वह वडों-वडों का कष्टसाध्य हो जाता है, यह निश्चित बात है ॥ १२३ ॥

अविरलपतितैस्तुषारपूरैः हिमसमयस्सहसा सरोरुहाणाम् ।
श्रियमहृत न केवलं वधूटीविरहिजनस्य च वक्त्रपङ्कजानाम् ॥१२४॥

शरदी के काल ने निरन्तर गिरे हुए हिमद्वारा, केवल कमलों की ही शोभा को नष्ट किया हो, यह बात नहीं है, किन्तु नई बहू के, विरही जनों के मुखकमल की आभा को भी इसके साथ-साथ हर लिया है ॥ १२४ ॥

विशददशनकान्तिपूरकम्रं विरचितसीत्कृतिविभ्रमाभिरामम् ।
अधरदलमसोढ नाङ्गनानां युवहठचुम्बनडम्बरं तदात्वे ॥ १२५ ॥

उस समय सुन्दरियों के नीचे के होठ, युवकों के बलपूर्वक चुम्बन के आडम्बर को न सह सके। ये होठ, दातों की रोशनी के फैले हुए पूर से शोभायमान लग रहे थे, एवं निरन्तर जो सीतकारी का विभ्रम उससे अभिराम थे ॥ १२५ ॥

हिममहिमरुचस्स्वनाशहेतोः कमपि निकारमशक्नुवद्धि दातुम् ।
कमलवनमपीडयत्तदिष्टं प्रहरति हि प्रबलाहतस्तदीयान् ॥ १२६ ॥

हिम ने अपना नाश करनेवाले सूर्य का और तो कोई अपकार नहीं कर सका, किन्तु उसने सूर्य के प्यारे कमलवन को यथेष्ट पीडा पहुंचाई; क्यों कि प्रबल का सताया हुआ उसका कुछ न कर सकने पर भी उसके साथियों को दाव लगे पर अवश्य सताता है ॥ १२६ ॥

जलनिधिदुहितुस्स्वसोदरायाः मुखरुचिलेशविडम्बिनीति रुष्टः ।
तुहिनरुचिरुपाहरत्तुषारैः ध्रुवमरविन्दकदम्बकस्य लक्ष्मीम् ॥ १२७ ॥

अपनी सहोदर जो समुद्र की लडकी लक्ष्मी, उसके उज्वल मुख की रुचिलेश की विडम्बनो करनेवाली है, इस कारण नाराज हुए चन्द्रमा ने अपने शीत से कमलों के समुदाय की शोभा को हर लिया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ १२७ ॥

विकसितशतपत्रिकासुगन्धौ विपुलतुषारकणानुषङ्गशीते ।
विहरति मरुदंकुरे जनानां मनसि मनोजकृशानुरुद्दिदीपे ॥ १२८ ॥

शीत के बहुत से कणों का सङ्ग मिल जाने से शीतल हुए, एवं खिली हुए काठकोरी की सुगन्धि लिये हुए पवन के चसने पर, मनुष्यों के कामाग्नि प्रचण्ड हो कर दगदगाने लगी ॥ १२८ ॥

समुदितवति रङ्गिणे तदशे कृतमदनौजसि मासि मार्गशीर्षे ।
दधिगुडघृतदुग्धमुद्गभक्तान्युषसि विबोधमहांश्चकार लोकः ॥ १२९ ॥

भगवान् के अंशभूत और कामदेव का तेज बढानेवाले मार्गशीर्ष मास के उत्पन्न होने पर भक्तजनों ने उषःकाल में दही, गुड, घृत, दूध, व मग के मिश्रित अन्न का भोग लगाकर, उनका सुप्रभात महोत्सव भी मनाया ॥ १२९ ॥

द्विजवरकृतसाङ्गवेदपारायणसहितद्रमिडागमश्रवेण ।
दशशतपदचित्रमण्डपस्थो हरिरनयद्दिनविंशतिं तदात्वे ॥ १३० ॥

उस समय पर भगवान् श्री रंगनाथ ने एक हजार स्तंभवाले अलंकृत मंटप में विराजमान हो श्रेष्ठ ब्राह्मणों के कृत साङ्गवेद और श्रेष्ठ द्राविड वेदपाठ के श्रवण से बीस दिनों को विताया । (धनुर्मास में बीस दिनों का बडा अध्ययनोत्सव चलता है) ॥ १३० ॥

गतवति मकरं तदा पतङ्गे शतपदमण्डपमाससाद रङ्गी ।
सहयुवतिजनैरनेकडोलाविहृतिमहानुभवं चिकीर्षमाणः ।। १३१ ।।

सूर्य के मकर राशि पहुंचने पर श्री रंगनाथ भगवान् ने अपनी पटरानियों के साथ डोला (झूला) महोत्सव का अनुभव करने की इच्छा से एक सौ स्तंभवाले मंडप को प्राप्त किया ।। १३१ ।।

मधुरिपुरधिरुह्य रत्नडोलां सममवरोधजनेन तत्र ।
मदकलमहिलाधिरूढडोलाविहरणविभ्रमप्यसौ ददर्श ।। १३२ ।।

मधु के हंता भगवान् ने उस मंडप में पटरानियों के साथ रत्नमय डोला पर विराजमान हो समद-युवतियों के झूलने के उत्सव को भी देखा ।। १३२ ।।

सुतनुमणिकदम्बकानुविद्धां मधुमथनो भ्रमितां ददर्श डोलाम् ।
भुवनविजयमन्त्रवावदूकस्मरकरपद्मविवर्तिताक्षमालाम् ।। १३३ ।।

भगवान् मधुसूदन ने श्रेष्ठ युवतियों के युत झूलनेवाली डोला को, जो समस्त लोकों को जीतने में समर्थ मंत्र का जप करनेवाले कामदेव के कर कमलों से फिरायी जानेवाली माला के सदृश था, देखा ।। १३३ ।।

शिशिरर्तु वर्णनम्

अतिसुरभिरनिद्रकुन्दपुष्पैरथ शिशिरस्समयस्समाविरासीत् ।
यदुदितमसहिष्णुनेव शीतं दिनमणिनाऽऽपि दिशामुखं कृशानोः ।।

फिर विकसित कुंदपुष्पवाला और अत्यंत सुगंधवाला शिशिर-ऋतु आ गया, जिसके उदय का, मानों सहन नहीं करता हुआ, सूर्य देव ने भी अग्नि की दिशा को प्राप्त किया ।। १३४ ।।

उरसि न निवसेद्रमा हरेश्चेद्वपुषि च सामि गिरेस्सुता पुरारेः ।
अधिमुखमधिपा गिरां च धातुः कथमिव ते शिशिरव्यथां सहेरन् ।।

यदि लक्ष्मीजी भगवान् के दिव्यशरीर में, पार्वती देवी त्रिपुरारी शिवजी के पास ही, और वाग्देवी सरस्वती ब्रह्माजी के मुख में वास नहीं करतीं, तो वे कैसे शीत बाधा का सहन कर सकेंगे? ॥ १३५ ॥

कमलमुखशिलीमुखेषु तस्मिन् निबिडतुषारनिपातसंहृतेषु ।
रतिपतिरतनिष्ट शीतमेकं विरहिजनैक्यविधानदक्षमस्त्रम् ॥ १३६ ॥

उस समय पर कामदेव ने घनिष्ठ हिम के पतन से पीडित कमल के मुखरूपी वाणों में, केवल थंडी को ही, विरही युवजनों के मिलाने का अस्त्र वनाया ॥ १३६ ॥

विलसदगुरुधूपितैर्निकेतैः कुटिलदृशां कुचमण्डलैश्च कोष्णैः ।
कथमपि शिशिरस्य धाम नैषुः स्फुरितहंसतिकयाऽपि केऽपि धन्याः ॥

कितने धन्य पुरुषों ने श्रेष्ठ अगुरु से धूपित अंतर्गृहों, एवं कुटिल नेत्रवाली स्त्रियों के सुखोष्ण स्तनों, एवं उज्वल अंगीठी के सहारे उस शीत समय को विताया ॥ १३७ ॥

प्रतिसरविधिपूर्वमादिधातुः महविधये झषमासि रोहिणीभे ।
सुरगणमुपहूय भेरिनादैः हरिरधिरोपयति स्म तार्क्ष्यकेतुम् ॥ १३८ ॥

मीन मास के रोहिणीनक्षत्र के दिन भगवान् ने आदि ब्रह्मोत्सव मनाने की इच्छा से रक्षावंधनपूर्वक समस्त देवगणों को भेरीनाद पूर्वक बुलाकर गरुडध्वज को फैलाया ॥ १३८ ॥

कुमुदमुखगणेशक्लृप्तसप्तावरणसुपर्वबलिः कृताग्निकार्यः ।
अधिगतवरकायमानवाहः निशि स परीत्य विवेश धाम वीथीः ॥

भगवान् कुमुदादि गणाधिपतियों के लिए साथ आवरणों में वलि देकर, अग्निपूजा करके, श्रेष्ठ (पंदल नामक) वाहन पर विराज मान हो, वीथियों में पधारकर फिर शामको मंदिर पहुंच गये ॥१३९॥

मणिमयचतुरन्तयानमेत्योपवनगतोऽगमयद्दिनं द्वितीयम् ।
अधिगततुरगो दिनं तृतीयं गुहनगरोपवनेऽत्यवाहयत् सः ॥ १४० ॥

मणिमय चतुरंत वाहन पर विराजमान हो भगवान् ने दूसरा दिन बिताया ; तीसरे दिन तो घोडे पर सवार हो जीयर्पुर नामक नगर के उपवन में दिन बिताया ॥ १४० ॥

खगपतिरथमण्डपे चतुर्थं दिनमपवाह्य निशामुखेऽधिताक्ष्र्यम् ।
प्रतिविशिखमटन् प्रजाशये स्वां प्रतिदिशति स्म सभावनं तदात्वे ॥

चौथे दिन उन्होंने सारे दिन गरुडमंडप में विराजमान हो शामको गरुडजी पर सवार हो प्रत्येक वीथी में भ्रमण करते हुए प्रजाओं के मन में अपनी भावना को गाढ दिया ॥ १४१ ॥

दिवसमगमयत्स पञ्चमं श्रीजनिनिचुलानगरे विवाहदेशे ।
सकुसुमशिबिकान्तराधिरूढः समधिकवैभवमाससाद नक्तम् ॥ १४२ ॥

पांचवे दिन वे श्री लक्ष्मीजी के अवतारस्थल, निचुलापुरी में विवाहार्थ समग्र दिन बिताकर, अतिसुंदर पुष्पपालकी में विराजमान हो, रात को मंदिर पधारे ॥ १४२ ॥

कलशजदिशि वासरेऽथ षष्ठे दिनमपवाह्य पुनर्गजाधिराजम् ।
सपदि समधिरुह्य चारु गत्वा पुरविशिखास्ववरुह्य गेहमागात् ॥

छठे दिन में वे दक्षिण दिशा में दिन बिताकर फिर, गजराज पर सवार हो, वीथियों में भ्रमण करके मंदिर पधारे ॥ १४३ ॥

अधिगतशिबिको रमामहीभ्यां हरिरथ सप्तमवासरेऽपराह्णम् ।
पुनरकृत निशामयं हरिद्राकृततचूर्णसुदर्शनेन केलिम् ॥ १४४ ॥

सातवे दिन शाम को भगवान् ने श्रीभूदेवियों के साथ पालकी पर विराजमान हो, रात को हलदर के चूर्णाभिषेक महोत्सव खेला ।

विरचितविशिखाविहारकृत्यः स निशि रमागृहमेत्य तत्र कृत्वा ।
स्नपनविधिमुखाः क्रिया विमाने पुनरधिवीथि चरन् विवेश धाम ॥

उन्होंने शिकार खेलकर रात को लक्ष्मीजी के मंदिर पधारकर वहांपर स्नानादि से निवृत्त हो, फिर विमान में विराजकर वीथियों में भ्रमण करने के वाद स्वस्थान प्राप्त किया ॥ १४५ ॥

कृतनिजपुरपूर्वभागसीमातटविहृतिर्दिवसेऽष्टमे दिनादौ ।
अधिगततुरगः कदम्बतीर्थोपवनतलादभजत्स्वधाम सायम् ॥ १४६ ॥

आठवें दिन वे सवेरे ही अपनी नगरी की पूर्वदिशा की सीमा पर विहार करके घोडे पर सवार हो, कदंवतीर्थ के उपवन से अपने मंदिर पहुंचे ॥ १४६ ॥

नवमदिनविभातकल्पकाले स्वपनविबोधकलालसत्स्ववेषः ।
प्रतिगृहरचिताहणस्स वीथ्यामभजत मासदनं वितीर्य तीर्थम् ॥१४७॥

नवम दिन के वडे सवेरे ही उन्होंने शय्या से उठने के समय के उचित सुंदर वेष से युत हो, वीथि में पधारते हुए प्रत्येक मकान पर पूजा प्राप्त करके और अवभृत स्नान करके श्री लक्ष्मीजी के मंदिर को प्राप्त किया ॥ १४७ ॥

रथवरमधिरुह्य पुष्पकाख्यं प्रतिविशिखं व्यचरद्रमामहीभ्याम् ।
सह जनकजया प्रतिप्रयाणे स्वयमिव दाशरथिः पुरा स रङ्गी ॥१४८॥

श्रीरङ्गनाथ भगवान् पुष्पक नामक रथ पर श्रीभूदेवियों के साथ विराज कर, (लंका से अयोध्या) लौटते हुए श्री जानकीजी के सहित श्री रामचंद्रजी के समान शोभायमान हो, वीथियों में भ्रमण करने लगे ॥ १४८ ॥

स हरिरवभृथं समाप्य सायं दशमदिनेऽकृत पुष्पयागकृत्यम् ।
नियमितभणितिर्विसृज्य देवानभजत धाम परीत्य सप्तसालीम् ॥

अवभृतोत्सव को समाप्त करके उन्होंने दसवे दिन शाम को पुष्पयाग किया और सुमधुर वाणी से देवों को विदा देकर सप्तावरणों में घूमकर अपने धाम को प्राप्त किया ।। १४९ ।।

एवं श्रीरमणे यथर्तु विहृतिं प्रत्यब्दमातन्वति
श्रीरङ्गाञ्जनकुञ्जराचलमुखश्रीधामसु स्वास्पदात् ।
देशाद्दीपकवन्मृगानिव जनानाकृष्य शिष्यान् सरो-
मुख्यस्सूरिगणस्सिसेविषुरगाद्धामानि दिव्योत्सवान् ।।१५०।।

इस प्रकार श्री लक्ष्मीनाथ भगवान् श्रीरंग, श्री वेंकटाद्रि, श्री हस्तिगिरि इत्यादि दिव्य क्षेत्रों में प्रति वर्ष प्रत्येक ऋतु के अनुसार दिव्य उत्सव मनाते थे। तव श्री सरोयोगी आदि दिव्यसूरियों ने उन उत्सवों के दर्शनार्थ अपने अपने स्थानों से निकलकर शिष्यों को भी, दीप की सहायता से मृगों की भाँति, वश करके साथ लेकर उन उन धामों को प्राप्त किया ।। १५० ।।

स्वस्वान्तेवासिलोकं प्रपदनविलसद्भक्तिमार्गोपदेशात्
पारंपर्यात्प्रपन्नास्सकलमपि जनं त्रातुकामो नियोज्य ।
स्वस्वस्कन्धप्रबन्धद्रुम इव विटपस्तोमभूम्ना फलानां
हेतुं ज्ञात्वाऽन्वभूवन् परमपदमथ प्रेप्सवो योगनिष्ठाम् ।।१५१।।

फिर परंपरा से प्रपन्न वे दिव्यसूरिजन समस्त लोकों का उद्धार करना चाहते, अपने शिष्यों को प्रपत्ति से विभूषित भक्ति मार्ग का उपदेश देने की आज्ञा देकर, एवं यह जानकर कि वे उसी प्रकार अपने (दिव्यसूरियों के) प्रबंधों की भाँति शिष्य परंपरा के द्वारा फल देंगे, स्वयं परमपद पधारने की इच्छा से योगाभ्यास में निरत हुए ।।१५१।।

।। पञ्चदशस्सर्गस्समाप्तः ।।

———

षोडशस्सर्गः

श्रीमन्नाथ योगि वैभवम्

अस्ति प्रशस्तः कनकाभिधायाः कश्चित् तटीसोम्नि कवेरजायाः ।
श्री वीरनारायणनामधेयः ग्रामः श्रुतिग्रामविदां निवासः ॥ १ ॥

कनका नामधेयवाली कावेरी नदी के किनारे की सीमा में एक वीरनारायण नाम का सुन्दर ग्राम है, श्रुति समूह के जाननेवाले निवासी जहां पर अधिकता से वास करते हैं ॥ १ ॥

श्री वीरनारायणनामकृष्णः देवो दयापूरित दृष्टिपातः ।
अर्चाकृतिर्यत्र करोति वासं तपःफलं चोलनराधिपस्य ॥ २ ॥

इस नगर में वीरनारायण नाम के दयापूर्ण दृष्टिपातवाले, अर्चाकृति भगवान् वास करते हैं । जो चोल महाराज के तप का ही फल है ॥ २ ॥

प्रायो मुरारेर्विरहासहिष्णुः क्षीराम्बुधिस्तस्य निषेवणाय ।
सरस्स्वरूपेण विभाति यत्र शुद्धाकृतिः किन्नु जहाति नाथम् ॥ ३ ॥

भगवान् के वियोग को न सहकर भगवान् के सेवन करने के लिए क्षीर सागर, तालाब का रूप धारण करके इस नगर में मानो रहा करता है । क्योंकि शुद्धस्वरूपवाले पुरुष अपने स्वामी को कभी भी नहीं छोड़ा करते ॥ ३ ॥

श्रुतिस्मृतिज्ञानविशुद्धवृत्ताः समस्तशास्त्रार्णवकर्णधाराः ।
द्विजातयस्तत्र चतुस्सहस्रसंख्यास्सदाचारपरा वसन्ति ॥ ४ ॥

श्रुति और स्मृतियों के ज्ञान से पवित्र चरित्रवाले, जो कि सारे शास्त्रों में परम प्रवीण हैं और सदाचार में लगे हुए हैं, ऐसे चार हजार ब्राह्मण इस नगर में निवास करते हैं ॥ ४ ॥

तेषु द्विजेष्वीश्वरभट्टनामा शोट्टैक्कुले प्रादुरभूत् प्रतीते ।
श्रुत्यन्तवित् कश्चन विप्रवर्यः नित्यं तपस्यामुदितेन्दिरेशः ।। ५ ।।

इन ब्राह्मणों में वेदांत का जाननेवाला, अपनी तपस्या से सदा भगवान् को प्रसन्न रखनेवाला, एक ईश्वरभट्ट नाम का ब्राह्मण शोट्टैक्कुल में उत्पन्न हुआ था, जो कुल उन ब्राह्मणों में परम प्रसिद्ध था ।। ५ ।।

तस्मादभून्नाथमुनिस्स विष्वक्सेनाद्यभृत्येभमुखांशजो यः ।
यद्गानविद्याविजितो ह्रियेव विपाण्डुतामाश्नुत नारदोऽपि ।। ६ ।।

ईश्वरभट्ट के सुपुत्र नाथमुनि जी हुए, जो विष्वक्सेन के पहिले भृत्य गजानन के अंश से उत्पन्न हुए थे । ये गानविद्या में परम चतुर थे, मालूम होता था इनसे पराजित हो लज्जा के मारे नारद सफेद पड़े गए हों ।। ६ ।।

यो मातृगर्भस्थित एव कृष्णात् अवाप्य संपूर्णकटाक्षवीक्षाम् ।
शौण्डस्स्वतस्सर्वकलासु कृष्णम् प्रत्यक्षतां ध्यानवशादनैषीत् ।।

भगवान् कृष्ण ने उसे माता के गर्भ में ही पूरे कृपाकटाक्ष से देखा था, जिससे वह अपने आप सब कला में कुशल था, तथा अपने ध्यान से उसने भगवान् कृष्ण को प्रत्यक्ष कर लिया था ।। ७ ।।

अथेश्वराख्यो मुनिराविरासीत् यः पृश्निगर्भांशभवस्स तस्मात् ।
अष्टांगयोगानुगतान्तरात्मदृष्टाष्टजाने दृढभक्तिसक्तिः ।। ८ ।।

नाथमुनि से ईश्वरमुनि नामक एक पुत्र ने जन्म लिया। जो भगवान् विष्णु के अंशावतार थे, जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि, इन आठ अंगवाले योग से अपने अन्तर में कृष्ण भगवान् को दर्शन पाकर उनमें दृढ़ भक्तिमान हो गये थे ।। ८ ।।

तौ नाथयोगीश्वरयोगिवर्यौ विज्ञाप्य कृष्णाय पुरोधिपाय ।
तत्केलिधामौघनिषेवणाय निर्जग्मतुर्भूवलयं स्वपुर्याः ॥ ९ ॥

वे दोनों नाथयोगी और ईश्वरयोगी, उस नगर के स्वामी भगवान् कृष्ण से विनति कर उनकी लीला के धामों के समुदाय का सेवन करने के लिए अपने नगर से भूपरिक्रमा को चल दिये ॥ ९ ॥

यावन्ति धामानि जनार्दनस्य यावन्ति तीर्थान्यपि पावनानि ।
तौ तेषु तेषु त्रिदिनं व्यतीत्य क्रमादुदीचीं दिशमापतुश्च ॥ १० ॥

भगवान् के जितने धाम हैं, तथा जितने भी पवित्र तीर्थ हैं, उन उन सबमें वे दोनों तीन-तीन दिन रहते हुए, क्रम से उत्तर दिशा में पहुंच गये ॥ १० ॥

कलिन्दजारोधसि तौ मुनीन्द्रौ निषेव्य गोवर्धननामपुर्याम् ।
कृष्णं किशोरं यमुनाधिनाथं न्यषीदतां तत्र समर्चयन्तौ ॥ ११ ॥

वे दोनों मुनीन्द्र यमुना के किनारे गोवर्धन नामवाली पुरी में यमुना के अधिनाथ किशोर कृष्ण के दर्शन करके, उनकी सेवा करते हुए, वहीं रहने लगे ॥ ११ ॥

तत्र स्थितो तद्विरहासहिष्णुः श्री वीरनारायणवासुदेवः ।
स्वप्ने समाह्वद् भजतस्स्म तौ हि तत्पार्श्वमूढ्वा यमुनेशमन्तः ॥१२॥

वीरनारायण पुर के रहनेवाले अर्चाकृति भगवान् वीर नारायण कृष्ण इन दोनों के वियोग को न सह सके। गोवर्धन में ही स्वप्न द्वारा कहा कि मैं तुम्हारे वियोग को नहीं सह सकता; तुम वीर-नारायणपुर चले आओ। शीघ्र ही ये दोनों यमुनेश कृष्ण भगवान् को मन में धारण करते हुए, वहां से वीरनारायण पुर पहुंचे ॥ १२ ॥

श्री वैष्णवेभ्यः कुरुकागतेभ्यः शुश्राव सोऽपूर्णसुधाभिधांकम् ।
सहस्रगाथासु परांकुशेन कृतासु गाथादशकं कदाऽपि ॥ १३ ॥

एक समय उसने उधर आये हुए श्री कुरुकापुरी के कतिपय महात्माओं के मुख से, श्रीपरांकुश (श्री शठकोप) सूरी के विरचित सहस्रगीति के अंतर्गत "आरावमुदु" नामक (श्री कुंभघोण नगर के स्वामी भगवान् के विषयक) दस पद्यों को सुना ॥ १३ ॥

निशम्य गाथादशकं मनोज्ञं स नाथयोगी मुदितोऽवशिष्टाः ।
गाथास्तदीयाः श्रवणामृतानि शुश्रूषमाणः कुरुकामयासीत् ॥ १४ ॥

इन सुन्दर दस गाथाओं को सुनने के बाद नाथयोगी परम प्रसन्न हुए; और इनसे अवशिष्ट जो परांकुश की श्रवणामृत गाथाएं थीं, उनको सुनने की इच्छा से कुरुकापुरी चल दिये ॥ १४ ॥

निषेव्य भक्त्या कुरुकापुरेशम् स नाथयोगी हरिमादिदेवम् ।
विनिद्रचिंचातरुमूलमाप परांकुशं तत्र मुनिं दिदृक्षुः ॥ १५ ॥

वे नाथयोगी कुरुकापुरी के अधिपति आदिदेव भगवान् को सभक्ति पूजकर परांकुश मुनि के दर्शनार्थं उस इमली के वृक्ष के मूल पहुंचे, जो कभी नींद नही लेता था । यह वृक्ष कुरुकापुरी में ही था ॥ १५ ॥

योगप्रभावान्न तदा शठारिम् अन्तर्हितं नाथमुनिर्ददर्श ।
तदा विषीदन्मनसा न्यषीदत् तद्दर्शनोपायकलां बुभुत्सुः ॥ १६ ॥

जब योग के प्रभाव से अन्तर्धान हुए श्री शठकोप सूरि को नाथमुनि न देख सके, तब व्यथित हृदय हो, उनके प्रत्यक्ष करने के उपाय जानने की उत्कट अभिलाषा करते हुए वहीं बैठ गये ॥ १६ ॥

कवीन्दुनोक्तं मधुराभिधेन स तत्र गाथादशकं शठारेः ।
सान्निध्यहेतोर्द्विसहस्रयुक्तायुतं तदा वर्तयति स्म वारम् ॥ १७ ॥

श्री नाथमुनि वहां श्रीशठकोप स्वामी के दर्शन के लिए मधुरकवि की बनाई हुई दस गाथाओं का १२ सहस्र बार जप किया ॥

प्रोतश्शठारिर्मधुरेण साकम् कवीन्दुनाऽग्रे कृतसन्निधानः ।
उपादिशत्स द्वयमन्त्रपूर्वम् सार्थानमुष्मै चतुरः प्रबन्धान् ॥ १८ ॥

अनुष्ठान की समाप्ति पर शठकोप स्वामी मधुरकवि के साथ नाथमुनि के सामने उपस्थित हुए और नाथयोगी को पहिले ही द्वयमंत्र का आदेश करके पीछे अपने चारों प्रबन्धों का, अर्थसमेत उपदेश दिया ॥ १८ ॥

चतुर्निगम्यर्थमयान् प्रबन्धान् स द्रामिडानेत्य परांकुशोक्तान् ।
सदा तदावर्तनसंप्रदायनिष्णातचेता निषसाद तत्र ॥ १९ ॥

श्री शठकोप सूरि के उपदिष्ट, चारों वेदों के अर्थ से भरे हुए द्राविड दिव्य प्रबन्धों को पाकर सदा पाठ करने में चित्त लगाकर वे वहीं रहे ॥ १९ ॥

मया समं तत्मननं कुरुष्व श्री नाथयोगिन्निति सानुकम्पः ।
श्री वीरनारायण पुर्यधोशः तमाह्वयत् स्वप्नमुखेन कृष्णः ॥ २० ॥

वीरनारायण पुर के अधिपति दयालु श्रीकृष्ण भगवान् स्वप्न में श्री नाथयोगी को यों कहते बुलाया कि आप यहीं आकर मेरे साथ उस प्रबन्ध का मनन करें।

श्री वीरनारायणकृष्णमेत्य स तेन सार्धं मननं वितन्वन् ।
अगापयद् गानचणैस्स्वशिष्यैः दिव्येन गानेन सहस्रगाथाः ॥ २१ ॥

श्री वीरनारायण कृष्ण भगवान् के समीप पहुंच कर उनके साथ प्रबन्धों का मनन करते हुए श्री नाथमुनि, गान विद्या में चतुर अपने शिष्यों के द्वारा सहस्र गाथाओं को दिव्य गान में गवाया ॥ २१ ॥

चोलक्षितीन्दुस्सुरगानशौण्डाम् कांचित् स्त्रियं गानपटुं विधाय ।
परीक्षितुं द्राग् भरतागमज्ञैः प्राज्ञैः समं नाथमुनीन्द्रमाह्वत् ॥ २२ ॥

चोल महाराजा ने एक स्त्री को देवीगान में तैयार कराया था और उसकी परीक्षा करने के लिए अन्य चतुर गानकला विशारदों के साथ नाथमुनि को भी बुलाया ।। २२ ।।

सर्वेऽपि लोका स्स्वरगानयुक्तं न विन्दते द्रामिडगानतत्वम् ।
प्रकाशयामीति पुरो नृपस्य समीपमापत्स मुनिस्सशिष्यः ।। २३ ।।

सभी जनता स्वर गान से युक्त द्रविड भाषा के गान को नहीं जानती, इस कारण मैं राजा के सामने इस गानतत्व को प्रकट करूंगा, यह सोच कर अपने शिष्यों समेत चोल महाराज के दरबार में नाथयोगी चले आये ।। २३ ।।

सभाजनं प्राप्य सभामुपेतः सभाजनानां पुरतो निदेशात् ।
स भाजनं सर्वकलावलीनां भद्रासने नाथमुनिर्न्यवात्सीत् ।। २४ ।।

पहुंचते ही राजा ने इनकी पूजा की। पीछे ये राजा की प्रार्थना से सब सभासदों के सामने भद्रासन पर विराजे। क्योंकि ये सब कलाओं के पूर्णरूप से ज्ञाता थे ।। २४ ।।

इमे सुमध्ये कलहायमाने श्रुत्वाऽनयोर्गानकलाविवादम् ।
निरूप्य सम्यङ् निगदेदमित्थम् इत्याबभाषे नृपतिर्मुनीन्द्रम् ।। २५ ।।

राजा ने श्री नाथयोगी से कहा कि ये दोनों स्त्रियां आपस में विवाद कर रहीं हैं; आप इनकी गानकला की ठीक परीक्षा करके और शास्त्रानुसार विवेचन करके बताइए कि इनमें से कौनसी श्रेष्ठ है ।। २५ ।।

तथेति गानं स तयोः परीक्ष्य जगाद कस्याश्चिदुदेति गीतिः ।
मया भवद्भिश्च परं सुबोधा मयाऽपि देवैरपि चापरस्याः ।। २६ ।।

श्री नाथयोगी ने राजा से तथास्तु कहकर उनकी परीक्षा करके कहा कि इस स्त्रीके गान को हम व तुम सभी समझ सकते हैं; और

इस दूसरी स्त्री के गान को तो, मात्र देव और हम समझ सकते हैं (न तु साधारण दूसरे मानव) ॥ २६ ॥

ततो मरुन्मानव गानभेद ज्ञानोत्थ सामाजिक संशयार्थम् ।
नादेन नानालयतालमात्राम् आहैकदा सोऽनणुमात्रशून्यम् ॥ २७ ॥

उसके उपरान्त देव गान और मनुष्य गान के भेद के बारे में सभासदों का संशय होने पर, नाथमुनि स्वामी जी ने नादमात्र के श्रवण से विभिन्न लय व ताल के प्रकाशों का वर्णन किया, जिसमें रत्ति भर की भी भूल नहीं हुई ॥ २७ ॥

राजाऽपि सामाजिकमण्डलेन साकं तदंघ्रचोः प्राणनाम हृष्टः ।
संभावनां संप्रतिगृह्य तस्मात् श्री वीरनारायणमाप भूयः ॥२८॥

राजा ने भी प्रसन्न होकर अपने सभ्यों के साथ नाथयोगी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया । फिर नाथमुनि राजा से भेंट पूजा लेकर वीरनारायणपुर चले आये ॥ २८ ॥

जातो जयत्सेनविपश्चितोंशः श्रीपुण्डरीकाक्ष इति द्विजेन्द्रः ।
कालाधिपांशः कुरुकाधिपश्च तौ च्छात्रतां नाथमुनेरवाप्तौ ॥ २९ ॥

जयत्सेन सूरि के अंश से उत्पन्न हुए द्विजवर्य पुण्डरीकाक्ष, तथा कालाधिप नामक सूरी के अंश से अवतीर्ण कुरुकाधीश, ये दोनों नाथमुनि के शिष्य हुए ॥ २९ ॥

श्री पुण्डरीकाक्षमुखान् मुनीन्द्रः छात्रानशेषान् सह गानभङ्ग्या ।
अजीग्रहद् द्रामिडवेदगाथाः स न्यायतत्वं स्वकृतिं च भूयः ॥ ३० ॥

श्री नाथमुनि स्वामीजी ने श्री पुण्डरीकाक्ष आदि अपने सभी शिष्यों को गानक्रमयुत दिव्यप्रवंध को तथा अपने विरचित न्यायतत्व नामक ग्रंथ को सिखाया ॥ ३० ॥

अथागमच्चोलपतिर्दिदृक्षुः श्रीराजनारायणवासुदेवम् ।
तदाकृतिध्यानसमाधिनिष्ठं विसृष्टनानाविषयं मुनिं च ॥ ३१ ॥

एक दिन चोल महाराजा, नारायण कृष्ण भगवान् और उनके ध्यान की समाधि में निमग्न, तथा विषय वासनाओं से विमुक्त नाथमुनि के दर्शन करने की इच्छा से (वीरनारायणपुर) आये ॥ ३१ ॥

निषेव्य कृष्णं स्वपुरं प्रयातं सहावरोधैं नृपतिं विभाव्य ।
साक्षाद् व्रजस्त्रीसहितं मुकुन्दमातत्पुरं नाथमुनिर्जगाम ॥ ३२॥

भगवान् कृष्ण के दर्शन करके रानियों समेत जाते हुए राजा को देखकर श्री नाथमुनि स्वामीजी उन्हें व्रज वनिताओं के युत साक्षात् कृष्ण ही मानकर, (योगावेश में) उनके नगर तक पीछे-पीछे ही चलने लगे ॥ ३२ ॥

स पुण्डरीकेक्षणमुख्यशिष्यगणाय पृष्टागमनक्रमाय ।
यथावदुक्त्वाऽनुगताय भूयः श्री वीरनारायणपार्श्वमागात् ॥ ३३ ॥

श्री पुंडरीकाक्षादि शिष्यगण पूछने लगे कि आप क्यों और कहां चल रहे हैं । श्री नाथमुनि स्वामीजी उन्हें सत्य वृत्तांत बताकर श्री वीरनारायण भगवान् के पास आ गये ॥ ३३ ॥

भूयोऽपि तं कृष्णमुपास्य भूपं सोऽमुह्यदारूढगजं विभाव्य ।
सामन्तमौलौ चरणं निवेश्य ब्रह्मादिमौलौ हरिमात्ततार्क्ष्यम् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने देखा कि उन भगवान् कृष्ण की उपासना करके राजा अपने प्रधान सामन्तक के सिर पर पैर रखकर हाथी पर बैठा है । जिसे यों मानकर कि, भगवान् ब्रह्मादि देवों के सिर पर पैर रखकर गरुड़ पर सवार हो रहे हैं, (आनंद के मारे) वे मोहित हुए ॥

स पुण्डरीकेक्षणमादिदेश शास्त्रार्थवृत्त्या प्रथयस्व तत्वम् ।
समाधिनिष्ठो वरयोगभंग्या पश्येति तत्वं कुरुकाधिपं च ॥ ३५ ॥

श्री नाथमुनि ने अपने शिष्य पुण्डरीकाक्ष को आज्ञा दी कि शास्त्रार्थ की रीति से तत्व का विस्तार करो। और कुरुकाधिपति से कहा कि योगमार्ग का अवलंबन करके समाधिनिष्ठ होकर तत्व का साक्षात्कार करो ।। ३५ ।।

पुरा भवत्युल्बणधीभरत्वात् सिंहासनांशस्तनयो महात्मा ।
तं यामुनेयं रचयेति नाम्ना स नाथयोगी स्वसुतं जगाद ।। ३६ ।।

नाथमुनि स्वामीजी ने अपने पुत्र को आज्ञा दी कि भगवान् के सिंहासन के अंश से अत्युज्वल बुद्धिसंपन्न एक महात्मा (तेरे) पुत्र के रूप में शीघ्र ही प्रकट होगा, जिसको तू 'यामुन' करके नाम रख ।।

श्रुत्यर्थजातैर्द्वयमन्त्रतत्वयोगैश्च सद्राविडवेदगानम् ।
श्री पुण्डरीकाक्षमुखान् स शिष्यान् न्ययुंक्त पौत्रस्य तदोपदेष्टुम् ।।

श्री नाथमुनि ने पुण्डरीकाक्ष आदि अपने शिष्यों को आदेश दिया कि तुम लोग मेरे पौत्र को वेदों का तथा द्वय मंत्र, मंत्रार्थ, योग, द्राविड वेदगान आदि का उपदेश करो ।। ३७ ।।

कृतार्थ एवं कृतकृत्यशेषः बभूव योगान्तसमाधिनिष्ठः ।
अवाप्तुकामो निभृतान्तरात्मा सनातनं ब्रह्म स नाथयोगी ।। ३८ ।।

इस प्रकार अपने सभी कर्तव्यों के पालन से कृतार्थ बने हुए नाथमुनि स्वामो सनातन ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए अपनी इन्द्रियों को रोककर योग के अन्तिम समाधि में निष्ठ हो गए ।। ३८ ।।

शिष्येषु नाथाख्यमुनीश्वरस्य समाधिनिष्ठे कुरुकेशताते ।
तदन्यसच्छात्रयुतस्ततान स पुण्डरीकाक्षसुधीरधीतम् ।। ३९ ।।

नाथमुनि के शिष्यों में कुरुकेश भी अचल समाधिस्थ हुए; अब पुण्डरीकाक्ष ने अच्छे-अच्छे छात्रों में अपने अधीत अर्थों का प्रचार किया ।। ३९ ।।

श्री राममिश्रः कुमुदाक्षसूरेः अंशाद् यमुर्व्यामवतीर्णमाहुः ।
स पुण्डरीकाक्षमनीषिणोऽभूत् शिष्याग्रणीर्दर्शितशिष्यभक्तिः ॥४०॥

कुमुदाक्ष सूरि के अंश से भूमण्डल पर अवतीर्ण परम बुद्धिमान श्री राममिश्र, पुण्डरीकाक्ष मुनि के शिष्यों में प्रधान तथा परम गुरुभक्त थे ॥ ४० ॥

शुश्रूषया प्रीतमनास्स तस्मै गुरूपदिष्टं परमार्थजातम् ।
द्वयेन सत्रा मनुनोपदिश्य पुनर्वचो विश्वजनीनमाख्यत् ॥ ४१ ॥

श्री राममिश्र ने अपने गुरु श्री पुण्डरीकाक्ष की यथेष्ट सेवा शुश्रूषा की, जिससे मुनि ने प्रसन्न होकर परमार्थ तत्वों का द्वय मंत्र के साथ उपदेश करके संसार के हित करनेवाला वचन कहा ॥ ४१ ॥

मयोपदिष्टान् हरिदर्शनार्थान् कृतानुरोधोऽप्यनुशाधि गूढम् ।
त्वं भाविनं नाथमुनिन्द्रपौत्रम् श्री यामुनेयं सुतमीश्वरस्य ॥४२॥

हमने जो श्री वैष्णव सिद्धांत के रहस्यार्थों का उपदेश दिया, उनका, तू नाथ मुनीन्द्र के पौत्र तथा ईश्वर मुनी के पुत्र श्रीं यामुनेय को, जिनका अवतार थोडे समय पर होगा, उपदेश कर; और एतदर्थ यदि उनकी सेवा भी करनी हो, तो अवश्य कर ॥ ४२ ॥

श्री राममिश्र स्स वचस्तथेति निशम्य तद्दुष्करमेव मत्वा ।
चिन्ताकुलो व्याकृतदर्शनार्थः श्री यामुनेयोदयलिप्सुरास्त ॥ ४३ ॥

श्री राममिश्र पुण्डरीकाक्ष के वाक्यों को स्वीकार करके, इस कार्य को कठिन जानकर चिन्ताकुल हो गये; और श्री यामुनेय के अवतार की प्रतीक्षा करते हुए, दर्शनार्थ का प्रचार करने लगे ॥ ४३ ॥

अयेश्वरात् सिंहमुखांशभूतः श्री यामुनेयस्तनयोऽजनिष्ट ।
निर्वृत्तचौलो विधिनोपनीतः प्रारब्ध सोऽध्येतु मकृत्रिमोक्तीः ॥४४॥

इसके बाद सिंहमुख-सूरि के अंश से नाथमुनि के पुत्र ईश्वर के घर, श्री यामुनेय ने जन्म लिया; यथासमय इनका चूडा संस्कार और सविधि उपनयन करने में आया; फिर श्री यामुनेय ने वेद पढ़ना प्रारम्भ किया ॥ ४४ ॥

धिया सकृद्ग्राहचणे स्वपित्रा न किं गतोऽध्येतुमसीति पृष्टः ।
आचष्ट सोऽपीति कथं व्रजेयं पूर्वेद्युरुक्तं गुरुरद्य वक्ति ॥ ४५ ॥

श्री यामुनेय की बुद्धि कुशाग्र थी; एक ही बार कहने से इन्हें याद हो जाया करता था। एक दिन ये पढ़ने न गये, तब इनके पिता ने पूछा कि आज पढने क्यों नहीं गया? तब श्री यामुनेय ने उत्तर दिया कि मैं कैसे पढ़ने जाऊं; गुरु ने कल जो पढ़ाया था, वही आज पढ़ा रहे हैं, तो जाकर क्या करूं? ॥ ४५ ॥

एवं समस्तान्निगमा नधीत्य सलक्षणं शास्त्रपथाऽवतीर्णः ।
ततः कृतोद्वाहविधिर्न्यषीदत् पठन्महाभाष्यगुरो स्सकाशे ॥ ४६ ॥

श्री यामुनेय तो इस प्रकार सब वेदों को लक्षणों के साथ पढ़कर शास्त्र मार्ग में अवतीर्ण हुए। माने, शास्त्र पढने लगे। पीछे विवाह होने पर श्रीमहाभाष्य गुरु के यहां पढ़ते वर्तमान रहे ॥ ४६ ॥

तदाऽऽक्कियाल्वानभिध स्सुधीन्द्रः पुरोहित श्चोलधराधिपस्य ।
विद्वज्जनद्रव्य दशांशहारी स प्राहिणोद् भाष्यगुरोर्निदेशम् ॥ ४७ ॥

उस समय चोल महाराज के आक्कियालवान् नामक एक पुरोहित अच्छे विद्वान थे; वे विद्वानों से उनके आय के दशमांश को कर के रूप में लेते थे; उन्होंने महाभाष्य गुरु को भी (कर देने का) आदेश भेजा ॥ ४७ ॥

स यामुनेयो गुरुखेद हेतुं समीक्ष्य तच्छासनमात्तरोषः ।
छित्वा तदाहर्तृकरे विलिख्य वादार्थमेवं प्रजिघाय पत्रम् ॥ ४८ ॥

श्री यामुनेय जी ने गुरु के खेद के कारण, उस पत्र को क्रोध से फाड़कर फेंक दिया और उसी पत्रवाहक के हाथ बाद के लिए पत्र लिख करके भेजा ॥ ४८ ॥

न केवलं सत्कवयो वयं स्मः न केवलं तन्त्रतटं प्रयाताः ।
किन्तु प्रतिद्वन्द्वकरीन्द्रगर्व सर्वस्वनिर्वापण पंचवक्त्राः ॥ ४९ ॥

श्री यामुनेय जी ने पत्र में लिखा था कि हम केवल कविमात्र नहीं हैं, अथवा शास्त्र मात्र जाननेवाले नहीं; किन्तु प्रतिवादिरूपी हाथी के गर्व सर्वस्व को मरदन करनेवाले सिंह हैं ॥ ४९ ॥

पुरोहितस्तत्र विलोक्य पत्रं विज्ञापितोदन्तसविस्मयस्य ।
राज्ञो निदेशात्सह देशिकेन श्री यामुनेयं गुरुमानिनाय ॥ ५० ॥

पुरोहित ने चिट्ठी देखकर राजा को दिखायी, जिसे देखते ही राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, पीछे पुरोहित ने राजा की आज्ञा से भाष्य गुरु के साथ श्री यामुनेय को निमंत्रित किया ॥ ५० ॥

आकालिकाकान्तनिवासशैलात् आजानकीजानिकृताच्च सेतोः ।
आशैलयुग्मादरुणेन्दुचूडात् मीमांसको मत्सदृशोऽस्ति नान्यः ॥ ५१ ॥

कालिका के पति शिव की निवास भूमि जो कैलास है, वहां से जानकी के पति राम के बनाये हुए सेतु तक, और उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक मेरे समान कोई भी मीमांसक नहीं है ॥ ५१ ॥

इति स्फुटार्थं विनिबध्य पत्रं महीपतेर्द्वारि पुरोहितेन ।
तर्कं विधित्सु स्स सभामुपेत्य प्राप्तार्हणो भूपतिमित्युवाच ॥ ५२ ॥

इस प्रकार एक पत्र लिखकर राजा के द्वार पर बांध दिया और तर्क (वादविवाद) करने की इच्छा से राजसभा में आये। राजा ने उनका खूब आदर सत्कार किया। पीछे वे राजा से कहने लगे ॥ ५२ ॥

अस्माक (मारिप्सित) मारब्धित वादविध्योः परीक्षणार्थं भवता महीन्द्र ।
आकारणीया स्सहसा प्रवाचः विपश्चितो निश्चितशास्त्रतत्वाः ॥ ५३ ॥

हे राजन्! हम दोनों के शास्त्रार्थ की परीक्षा के लिए ऐसे विद्वानों को बुलाओ, जो सब शास्त्रों के तत्व के जाननेवाले तथा तर्क के वेत्ता हो ॥ ५३ ॥

तथेति सर्वानपि लब्धवर्णान् आहूय चोलक्षितिपः सभायाम् ।
देव्या सहाधिष्ठितभद्रपीठः प्रवर्तयामासतुतयोर्विवादम् ॥ ५४ ॥

राजा ने वात को मानकर और भी प्रतिष्ठित विद्वानों को सभा में बुलाया, एवं महिषी के साथ भद्रासन पर बैठकर दोनों का शास्त्रार्थ प्रारम्भ करा दिया ॥ ५४ ॥

यावन् न तौ वादपरावभूताम् देवौ च तावत् पणमित्यकार्ष्टम् ।
स यामुनेयस्य वचोजितश्चेत् पुरोहितोऽर्धं विषयं प्रदद्याम् ॥ ५५ ॥

जब तक शास्त्रार्थ का प्रारम्भ नहीं हुआ था, उस समय राजा और रानी ने यह प्रतिज्ञा की थी, जो यामुनेय हमारे पुरोहित को परास्त कर देगा, तो हम उसे आधा राज्य देंगे ॥ ५५ ॥

अस्तित्व नास्तित्व पदे त्वदुक्ते छिन्द्यां गिरा लौकिकवैदिकार्थम् ।
न चेच्छिरः पादुकया जहीति पुरोहितोऽभाषत यामुनेयम् ॥ ५६ ॥

वालक यामुनाचार्य से पुरोहित ने कहा कि लौकिक तथा वैदिक विषयों में तुम जिसको 'है' ऐसा कहो तथा 'नहीं है' ऐसा कहो, उसका में खण्डन करूंगा; यदि न कर सकूं, तो भले ही तुम मेरे शिर को पादत्राण से मारो ॥ ५६ ॥

तथेति वृद्धं विहितप्रतिज्ञं स लौकिकन्यायविदाह बालः ।
अत्रोत्तरं देहि जनन्यवन्ध्या तवेति राजाऽपि च सार्वभौमः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा किये हुए वृद्ध राज पुरोहित से लौकिक न्याय के जाननेवाले बालक यामुनाचार्य ने कहा कि मेरी दो प्रतिज्ञा हैं, पहिली तो आपकी जननी अवन्ध्या है; तथा दूसरी राजा सार्वभौम है, यह है। इनका आप खण्डन करें ।। ५७ ।।

अशक्नुवन्नुत्तर मत्र दातुं सोऽवाङ्मुखो भूमिपतेः पुरोधाः ।
अद्वैतवादी श्रितभेदवादं शास्त्रीयमालम्ब्य जगाद वादम् ।। ५८ ।।

राजा का पुरोहित इन लौकिक वाक्यों का कोई उत्तर न दे सका; अत एव इसने लज्जा के मारे अपना सिर नीचे कर लिया। लौकिक विषय में हार हो जाने पर इसका वैदिक विषय ही बाकी रहा। यह था अद्वैतवादी; इस कारण भेदवाद से संवन्ध रखने वाले शास्त्रीय वाद आरम्भ किया ।। ५८ ।।

मिथ्या प्रपंचोऽयममुष्य शुक्तिदुर्वर्णवद् दृश्यतया स चाख्यत् ।
एतन्न सम्यग्यदयं प्रपंचः मिथ्या तदन्तस्थतया तथा सा ।। ५९ ।।

पुरोहित ने कहा कि यह प्रपंच तो वास्तव में मिथ्या है, और सींप के चांदी की भाँति मात्र दिखावट है। श्री यामुनेय ने उत्तर दिया कि यह वाद ठीक नहीं है, चूँकि जो यह प्रपंच मिथ्या हो, तो इसके अंतर्गत वह मिथ्या भी मिथ्या ही होगी ।। ५९ ।।

त्वया प्रपंचस्य तदद्य मिथ्या मिथ्यात्वमेव प्रतिपादितं स्यात् ।
किंनाम मिथ्यात्वमिह त्वदुक्तं पुरः प्रसिद्धार्थकदम्बकस्य ।। ६० ।।

तब प्रपंच का मिथ्यात्व भी मिथ्या ही हो जायगा। अच्छा अब बताइये कि आप जो बार-बार मिथ्या-मिथ्या चिल्ला रहे हैं, यह मिथ्यात्व किसको कहते हैं। हमारे समक्ष दिखनेवाले इन सभी पदार्थों का मिथ्यात्व कैसे माना जाता हैं? ।। ६० ।।

प्रतीयमानेतरता किमु स्यात् उत स्वतस्संविद गोचरत्वम् ।
तद्रूप बुद्धिः किमु तत्स्वरूपे तस्मिन्नतद्बुद्धि रुताद्य इष्टः ।। ६१ ।।

१. क्या प्रतीयमान से भिन्न होने को मिथ्यात्व कहते हैं? या

२. संविद् के अविषयपने को मिथ्यात्व कहते हैं।

३. अथवा क्या सत्यवस्तु की समान होने की बुद्धि है?

४. अथवा जिसमें जिसका रूप हो उसमें उसके रूप का रंग न होने का नाम मिथ्यात्व है? इनमें से आपको कौनसा पक्ष इष्ट है? क्या पहिला है? ॥ ६१ ॥

नेष्टं द्वयं चात्र हि तत्व संविदगोचरत्वे इति चेदिदं च।
यतः प्रपंचस्य च गोचरत्वं न स्यादतस्तावदसांप्रतं स्यात् ॥ ६२ ॥

पहिले के दो पक्ष तो अयुक्त हैं, चूंकि यदि तत्वज्ञान का गोचर न होना ही मिथ्यात्व हो, तो इस प्रपंच का ज्ञान गोचर नहीं होना था। (परंतु यह गोचर है; और अत एव मिथ्या नहीं हो सकता।) ॥ ६२ ॥

खण्डत्वमुण्डत्वगुणौ च पूर्णश्रृंगत्वमप्येकगवे कथं स्यात्।
मया जितो लौकिक वैदिकार्थन्यायेन मध्येसभमुक्तिभङ्ग्या ॥ ६३ ॥

पर तीसरा चौथा भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही गोव्यक्ति खंड, मुंड और पूर्णश्रृंग कभी न हो सकती है। इस प्रकार हमने लौकिक और वैदिक अर्थों में, सभा के वीच अपनी वाणी द्वारा तुम्हें पराजित किया ॥ ६३ ॥

नोपानहा वृद्धतया हतस्त्वं तर्केण किन्तु प्रहतोऽधिगल्पम्।
सभासदो वीक्ष्य तदा तमेवम् विधूत पौरोधसयुक्तिजातम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार पुरोहित की युक्तियों को काट डालनेवाले उन्हें देखकर सभासदों ने पुरोहित से कहा कि, वृद्ध होने के कारण तुम पादुका से मारा नहीं गया, किन्तु तर्क से हार ही गये। (वृद्ध होने से हम तुमको जूते से नहीं मारेंगे; तथापि आप वाद में हार ही गये। इस प्रकार सभासदों ने देखा कि पुरोहित की सभी युक्तियाँ काट डाली गयीं।) ॥ ६४ ॥

अनन्तरं साध्विति साऽऽलिलिंग मां त्रातुमायात इहेति राज्ञी ।
श्रुत्वा स भूपो मुदितस्तदुक्तं पुरोधसं शिष्यममुष्य कृत्वा ॥ ६५ ॥

रानी ने यों कहती हुई विजयी बालक का आलिंगन किया कि यह तो मुझे तारने आया है। (अर्थात् यदि यामुनेय हार जाते, तो रानी को छः मास दासी बनना पडता; अब वह उस आपत्ति से बच गयी।) राजा ने भी परम प्रसन्न होकर अपने पुरोहित को बाल यामुनेयाचार्य का शिष्य करा दिया ॥ ६५ ॥

अस्मै विभज्याथ दिदेश देशम् आदेशतोऽर्धं निजवल्लभायाः ।
महीभुजा दत्तमवाप्य राज्यं प्राज्योदयं स्वीकृतराज्यभोगम् ॥ ६६ ॥

रानी ने महाराज से कहा कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना आधा राज विजयी बालक को दीजिये; राजा ने रानी के कथनानुसार अपना आधा राज्य विजयी बालक को दिया; तथा श्री यामुनाचार्य भी राजैश्वर्य का भोग करने लग गये ॥ ६६ ॥

तं राममिश्रोऽभ्यगमद् विनेतुं स्वचित्तखेलत्परमार्थ दानात् ।
अशक्नुवन् दर्शनमस्य लब्धुं तद्दर्शनज्ञानकला निदानम् ॥ ६७ ॥

श्री राममिश्र अपने हृदय में अठखेलियां करनेवाले परमार्थ के दान से श्री यामुनेय को सुशिक्षित करने के लिए वहां पहुंचे, पर ये श्री यामुनेय के दर्शन भी न पा सके, जिससे उनको उनके दर्शन का उपाय की चिंता होनी लगी ॥ ६७ ॥

अलर्कपत्रं तदभीष्टमाषण्मासं करे प्रादित पाचकस्य ।
विलोकनं दैववशान्न तस्य यत्नेन चापं महतेति खिन्नः ॥ ६८ ॥

श्री राममिश्र छः मास तक यामुनेय के अभीष्ट अलर्क पत्र का साग रोज उनके रसोइये के हाथ देते रहे; पर दैववश एक दिन भी इनके दर्शन नहीं मिले। इससे ये बहुत खिन्न हुए ॥ ६८ ॥

यत्राह्नि नादिक्षदलर्कपत्रम् तस्मिन् स पौरोगव मित्युवाच ।
नास्मिन् दिने दत्त मलर्क पत्रम् त्वया कथं वाऽस्यवहारहेतोः ॥६९॥

(इस खेद से) जिस दिन श्रीराम मिश्र ने अलर्क पत्र नहीं दिया, उसी दिन श्री यामुन ने रसोइया से पूछा कि आज क्यों भेजन में अलर्क पत्र नहीं दिया गया ॥ ६९ ॥

कोऽदादितः पूर्वमिति ब्रुवाणं पौरेगवोऽभाषत यामुनेयम् ।
आमासषट्कं स्थविरोऽग्रजन्मा दिने दिने कश्चिदलर्कपत्रम् ॥ ७० ॥

श्री यामुनेय ने रसोइया से पूछा कि इतने दिन कौन तुम्हें अलर्क पत्र दिया करता था; इसके उत्तर में पाचक ने कहा कि एक बूढ़ा ब्राह्मण मुझे अलर्क पत्र दिया करता था; छः मास तक मुझे रोज अलर्क पत्र दिया था ॥ ७० ॥

प्रादाद् भवद्दर्शनवाञ्छया सः किमद्य नादादिति तन्न जाने ।
निशम्य तस्येति वचो जगाद श्वस्तं द्विजं मेऽन्तिकमानयस्व ॥ ७१ ॥

देने का और कोई उद्देश्य उसने नहीं कहा, केवल आपके दर्शनों के लिए ही दिया करता था; किंतु मालूम नहीं आज क्यों नहीं लाया? यह सुनकर श्री यामुनेय बोले कि कल उस ब्राह्मण को अवश्य ही मेरे पास लाना ॥ ७१ ॥

इतीरित स्सूपकृदप्यनैषीत् श्री राममिश्रार्य ममुष्य पार्श्वम् ।
तं यामुनेयो निजगाद नित्यं पत्रं त्वमालर्कमदाः किमर्थम् ॥ ७२ ॥

दूसरे दिन रसोइया भी श्री राममिश्र स्वामी को यामुनेय के पास ले आया। यामुनेय ने देखते ही पूछा कि आप रोज मेरे यहां अलर्क पत्र किसलिए भेजा करते थे ॥ ७२ ॥

क्षेत्रेषु किं ते फलवत्सु कामः धनेषु वाञ्छा किमु तादृशेषु ।
तेनेति पृष्ट स्स तमाबभाषे क्षेत्रेषु चार्थेषु न मेऽभिलाषः ॥ ७३ ॥

क्या आपकी इच्छा उपजाऊ खेत की है? अथवा धन की वांछा है? अथवा ऐसी ही दूसरी किसी वस्तु की है? इस प्रकार पूछने पर राममिश्र ने कहा कि न तो खेत की मुझे इच्छा है और न धन की अभिलाषा है ॥ ७३ ॥

न्यस्तो निगूढं भवदीयपूर्वैः निधिर्मयि स्थास्यति तं गृहाण ।
इतीरितस्तेन स तं बभाण किं वा मया तस्य कृते विधेयम् ॥ ७४ ॥

आपके पूर्वजों ने मेरे पास कुछ गुप्त निधि रख दी थी; उसे आप लें लें। यह सुनकर यामुनेय बोले, उसके लिए मुझे क्या करना पड़ेगा ॥ ७४ ॥

स आह वस्तुं घटिका श्चतस्रः त्वयाऽन्वहं द्वाः क्रियतामरोधा ।
अपोढ़दौवारिकरोधकृत्यः प्राचष्ट सोऽष्टादश वासरेऽस्मै ॥ ७५ ॥

श्री राममिश्रजी ने कहा कि मैं रोज आपके साथ चार घटी रहना चाहता हूँ। मेरे लिए रुकावट न हो ॥ ७५ ॥

श्री कृष्ण गीतोपनिषद् विराजदष्टादशाध्याय समर्थितार्थम् ।
आकर्ण्य तस्मान्मुदितस्तमर्थम् आर्तो विरक्तश्च दिने दिने सः ॥

इस प्रकार अबाध रूप से श्रीराम मिश्र आकर भगवान् कृष्ण के मुँह से कही हुई गीतोपनिषद् के अठारह अध्यायों के अर्थ उन्हें बताया। जिसे सुनकर यामुनेय बहुत प्रसन्न हुए और दिन पर दिन विरक्त एवं भगवान् से मिलने के लिए त्वरावान हुए ॥ ७६ ॥

कृष्णं तमासादितुमभ्युपायः को वेति तं कौतुकवानपृच्छत् ।
तेनेति पृष्टः परमोऽभ्युपायः तदर्थसाक्षात्करणैकहेतुः ॥ ७७ ॥

उन श्री कृष्ण को पाने का क्या उपाय है? यह यामुनेय ने कौतुक के साथ श्री राममिश्र से पूछा; तब श्री राममिश्र ने कहा कि "अवश्य ही उसका एक उपाय......॥ ७७ ॥

अस्तीति तस्मै विजने जगाद श्लोकस्य सोऽ चरमस्यर्थं गूढम् ।
तत स्समाकर्ण्य विरक्तिभाजा निरस्त संसाररसादरेण ।। ७८ ।।

है ।" ऐसा कहकर श्री राममिश्र ने एकान्त में गीता के अठारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक का गूढ़ अर्थ यामुनेय को बताया, जिसे सुनकर इनका वैराग्य और बढ़ा तथा इनके हृदय से संसार के रसों का आदर जाता रहा ।। ७८ ।।

स यामुनेयेन समं महत्मा समासदद् रंगपुरं गरीयः ।
ते शेवधिं वो जगदेककन्दं रंगेन्दुमुद्दामदयाम्बुराशिम् ।। ७९ ।।

श्री महात्मा राममिश्र जी यामुनाचार्य के साथ श्री महान रंगपुर को आये । यहां आने पर श्री राममिश्र ने दिखाया कि देखो यह खजाना है, यही जगत का मूल है ; यही खजाना है ; ये भगवान् रंगनाथ प्रभूत दया का अटूट समूह हैं ।। ७९ ।।

प्रादर्शयत्तं भवदीयपूर्वैः समार्जितोऽयं निधिरित्यमुष्मै ।
अर्थं रमामुद्रितमाप्तुमेतं इदं प्रयोज्यानन पत्रभावम् ।। ८० ।।

यह निधि है जिसे तुम्हारे पूर्वजों ने संपादन किया है । मैंने इसे तुम्हारे लिए बड़े ही यत्न से सुरक्षित रखा है । रमा की मुद्रा से मुद्रित हुए इस अर्थ को पाने के लिए निर्लिप्त होकर शरणागति का प्रयोग करना चाहिये ।। ८० ।।

इत्याननतायोपदिदेश तस्मै श्री राममिश्रो द्वयमंत्ररत्नम् ।
साक्षात्कृतिं जग्मुषि रंगराजे स यामुनेयो द्वयमंत्रलाभात् ।। ८१ ।।

ऐसा कह कर विनम्र यामुनेय को श्री राममिश्र ने द्वय मंत्र का उपदेश दिया । द्वय मंत्र के लाभ से श्री यामुनेय ने श्री रंगनाथ को प्रत्यक्ष कर लिया ।। ८१ ।।

आनन्द बाष्पाविललोचन स्तम् आपादचूडं हृदयेऽन्वभुङ्क्त ।
श्रीरंगराजानुभवात्त्रिदण्डि भावेन संन्यास्यदपास्य रागम् ।। ८२ ।।

श्री यामुनेय के नेत्र आंनन्द के आसुओं से आकुल हो गये और अपने हृदय में भगवान् रंगराज का आपाद चूड (माने सिर से पैर तक) अनुभव कर लिया।

इस प्रकार रंगनाथ के दर्शन हो जाने पर इनका रहा सहा राग भी जाता रहा और ये त्रिदण्डी सन्यासी हुए ।। ८२ ।।

अर्थस्य लाभे सति शाश्वतस्य किं नश्वरं वस्तु भजन्ति सन्तः ।
स संविदात्मेश्वरसिद्धिवेदप्रमाण्य मास्तोत्र युजोऽष्ट चक्रे ।
गोतार्थसंक्षेपण पूरुषार्थ निरूपणस्तोत्रमणीन् प्रबन्धान् ।। ८३ ।।

शाश्वत पदार्थ के मिल जाने पर महात्मा लौकिक वस्तु को नहीं चाहते। (इस न्याय के अनुसार श्री यामुनेय क्षुद्र लौकिक पदार्थों में विरक्त हो सन्यासो वने) इसके बाद उन्होंने संवित् सिद्धि, आत्म सिद्धि, ईश्वर सिद्धि, आगमप्रामाण्य, श्री स्तोत्ररत्न, चतुःश्लोकी, गीतार्थ संग्रह, पुरुषनिर्णय इन आठ प्रवन्धों का निर्माण किया ।। ८३ ।।

अंशा बभूवुः कुमुदाक्षशंकुकर्णाहिनेत्रोज्वल वामनानाम् ।
श्री यामुनेयस्य च तस्य शिष्याः भवाब्धि मग्नोद्धरणप्रवीणाः ।।८४।।

श्री कुमुदाक्ष सूरि, शूंकु कर्ण सूरि, सर्प नेत्र सूरि, और वामन सूरि, इनके अंश से उत्पन्न महात्मा भगवान यामुनेय के शिष्य हुए; जो सब भवसागर में डूबे हुए जीवों के उद्धार करने में अत्यन्त ही प्रवीण हुए ।। ८४ ।।

एषां महापूर्ण मनीषिरंङ्गिकुशीलवाधीश्वर काञ्चिपूर्णाः ।
श्री माल्यभृद् गोष्ठिपुरेशपूर्णाः इति क्षितौ ख्यातिमवापु रार्याः ।।

इन शिष्यों में से महापूर्ण, श्री रंगनाथ के गायक वररंगजी, कांचोपूर्ण, मालाकार और गोष्ठीपूर्ण, ये प्रसिद्ध हुए। पूर्वोक्त सूरियों के अंश इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हुए ।। ८५ ।।

स सम्यगेतानपरांश्च शिष्यान् साकं द्वयेनोपनिषद्रहस्यम् ।
अध्यापयद् द्रामिडमागमं च सुधावयस्याः स्वकृताः कृतीश्च ॥ ८६ ॥

श्री यामुनेय ने इन शिष्यों तथा अन्य शिष्यों को द्वय मंत्र के साथ उपनिषदों के रहस्य और द्राविड वेद पढ़ाया, एवं अपने विरचित ग्रंथ भी पढाया ॥ ८६ ॥

पितामहस्ते परिगृह्य चास्मान् किंचिद्रहस्यं कुरुकेशताते ।
न्यस्तं चकारेति स राममिश्र गिराऽऽप गंगाधरराजधानीम् ॥ ८७ ॥

पीछे एक दिन श्री राममिश्र ने वताया कि हम से भी छिपाकर आपके पितामह ने कुरुकेश में कुछ रहस्य स्थापित कर दिया था; उसे आप ले लें। यह सुनकर श्री यामुनेय गंगाधर राजधानी को पहुंचे ॥ ८७ ॥

स तत्र जीर्णालय कुडचभागे निविष्ट मारूढ समाधिभेदम् ।
विलोक्य तस्यावसरं प्रयित्सुः सहास्त पश्चान्निभृतं स्वशिष्यैः ॥ ८८ ॥

वहां कुरुकेश एक पुराने मकान की दीवारों की ओट में समाधि लगाके बैठे थे। यामुनेय इस प्रकार उन्हें बैठे देखकर मिलने का अवसर पाने के लिए अपने शिष्यों के साथ पीछे की ओर जा बैठ गए ॥ ८८ ॥

स योगनिष्ठः परिवृत्य पश्चात् को वाऽगमत्च्छोट्टैकुलोद्भवोऽत्र ।
इति ब्रुवाणं पदयोः प्रणम्य भक्त्येदमापृच्छत यामुनेयः ॥ ८९ ॥

योगिवर्य कुरुकेश ने पीछे मुड करके पूछा कि यहां शोट्टैक्कुल का कौन आया हुआ है? इतना सुनते ही यामुनेय ने भक्तिपूर्वक उनके चरणों में प्रणाम करके पूछा कि—॥ ८९ ॥

पश्चान्निविष्टं निभृतं कथं माम् अबुद्ध योगीति तमुक्तवन्तम् ।
तत्तस्य शोट्टैक्कुलजेतरेषाम् नानुग्रहोऽस्तीति ममैवमूचे ॥ ९० ॥

"में तो आप के पीछे बैठा हुआ था, आपने मुझे कैसे पहिचान लिया?" यह सुनकर योगिवर्य बोले कि शोट्टैकुल को छोड़ कर दूसरे परिवार पर मेरी चिंता नहीं होती ॥ ९० ॥

उक्त्वैवमस्मै विनताय योगरहस्यविज्ञानसमुत्सुकाय ।
काले वदेयं चरमे ममेति तं प्राहिणोत्स्वान्तिम पत्रदानात् ॥ ९१ ॥

ऐसा कहकर विनम्र भाव से खड़े हुए यामुनेय से, जो योग के रहस्य जानने में उत्सुक हो रहे थे, कुरुकेश ने कहा कि मैं अपने अन्तिम समय में आपको योग का रहस्य कहूंगा। ऐसा कहकर और अंतिम समय बतानेवाला पत्र देकर उनको विदा किया ॥ ९१ ॥

पत्रं समादाय तदन्त्यकाल निरूपकं रंगगतोऽशृणोत्सः ।
रङ्गेन्द्रचग्रतो रंगि कुशीलवेश गोता मनन्तेशयकीर्ति गाथाम् ॥ ९२ ॥

उस पत्र को लेकर श्री यामुनेय श्रीरंगक्षेत्र पहुंचे। वहां एक दिन उन्होंने श्रीरंगनाथ के सामने उनके गायक के मुख से एक गाथा सुनी, जिसमें श्री शठकोपसूरी अपने शिष्यों को श्रीमदनंतशयन क्षेत्र जाने की आज्ञा देते हैं ॥ ९२ ॥

प्रायाद् यदाऽनन्तपुरे मुकुन्दं सिषेविषु स्सुप्तमनन्तभोगे ।
तदाऽवधिं पत्रमुखेन तस्य विलोक्य मध्येसरणि व्यषीदत् ॥ ९३ ॥

जब ये शेषशय्या पर पौढ़े हुए भगवान् का सेवन करने के लिए अनन्तपुर को रवाना हुए, उस अवसर पर इन्हें रास्ते के बीच में पत्र से पता चला कि कुरुकेश का चरम समय आ पहुंचा और उस समय वहां पहुंचने में अपनी असमर्थता जानकर श्री यामुनेय को अत्यन्त क्लेश हुआ ॥ ९३ ॥

अप्राप्य तद् योगरहस्यमार्तः समेत्य शिष्यैः सह रंगधाम ।
प्रवर्तको वैष्णवदर्शनस्य शिष्येषु कस्स्यादिति तेन मेने ॥ ९४ ॥

कुरुकेश से योग का रहस्य न मिला ; इस कारण वे दुखी हो अपने शिष्यों के साथ रंगधाम को चले आये; वहां आकर उन्होंने विचार किया कि मेरे बाद वैष्णव दर्शन का प्रचार करनेवाला कौन होगा? ।। ९४ ।।

स्थानेष्वञ्जन कुञ्जरावनिधर श्रेष्ठोरुगोष्ठीपुरी-
मुख्येषूपनिवेश्य शिष्यतिलकान् सर्वाः प्रजा रक्षितुम् ।।
तत्पूःपूर्णमनोषिणो निजजयस्तम्भानिवासौ स्थितः
रङ्गे कंचन लिप्सुरात्मसदृशं शिष्यैस्तदन्यैर्वृतः ।। ९५ ।।

जिस तरह एक दक्ष विजेता अपनी जीत के स्तम्भ खड़ा किया करता है, उसी तरह श्री यामुनेय अंजनाद्रि (श्री वेंकटाद्रि), कुंजराद्रि (हस्तिगिरि अथवा श्री कांचीपुरी), श्रेष्ठगोष्ठीपुर इत्यादि स्थलों में तत्तन्नंबि नामक (माने श्रीशैलपूर्ण, श्री कांचीपूर्ण, गोष्ठीपूर्ण इत्यादि) शुभ नाम वाले मुख्य मुख्य शिष्यों को स्थापित करके आप रंगक्षेत्र में बहुत से दूसरे शिष्यों के साथ विराजे। आपकी इच्छा थी कि मुझे कोई मेरे बराबर का शिष्य मिले ।। ९५ ।।

।। इति श्री दिव्यसूरिचरिते षोडशस्सर्गः समाप्तः ।।

सप्तदशस्सर्गः

श्रीरामानुजवैभवम्

तुण्डीराह्वय विषये महाग्रहारः
पूद्रूरित्यवनिविशेषकोऽस्ति कश्चित् ।
आवासो हरिचरणाब्जभक्तिभाजाम्
विप्राणां श्रुतिशिखराध्वजांघिकानाम् ॥ १ ॥

तुण्डीर (मंडल) नामक देश में कोई पुदूर (श्रीपेरुंबूदूर) नामकी बड़ी अच्छी ब्राह्मण बस्ती है; इस नगर में भगवान् के चरण कमलों के भक्तिवाले और वेदान्त पथ पर चलनेवाले ब्राह्मण वास करते हैं ॥ १ ॥

पर्यङ्कोरगपतिभावि विप्रयोग-
प्रस्तावासह इव भक्तवत्सलत्वात् ।
यत्रासौ सह रमया पुरैव वासं
वैकुण्ठो रचयति केशवाभिधानः ॥ २ ॥

यहां केशव नाम के अर्चाकृति भगवान् रमा के साथ निवास करते हैं मानों भक्त वत्सलता के कारण शय्या के रूप में रहने वाले शेषजी के भावि वियोग के प्रस्ताव को सहन न कर सकते हुए पहले से ही आ गये ॥ २ ॥

यत्रोद्यद्द्विजसवनाग्निधूमलेखा-
लेखालिप्रमदविधान वैजयन्ती ।
निश्रेणी दिवमधिरोहतो जनस्या-
लिश्रेणी गगन विनील नीरजस्य ॥ ३ ॥

यहां के ब्राह्मणों के याज्ञिक अग्नि से ऊपर उठते हुए घूम की रेखा ऐसी प्रतीत होती थी कि मानों देवताओं की टोलियों के आनन्द करने की ध्वजों फहरा रही है, तथा स्वर्ग चढने वाले

मनुष्य के लिये निसेनी लग रही है, एवं आकाश के नील कमलों की भ्रमर पंक्ति है ॥ ३ ॥

एकोऽभून्मधुरिपु भक्तिनिघ्नचित्तः
तत्रोर्वीसुरपति रासुरी कुलेन्दुः ।
त्रैलोक्यावनचणसूनु जन्मभूर्यः
धातारं व्यजयत काश्यपं महिम्ना ॥ ४ ॥

वहां भगवान् के परमभक्त आसूरि कुल में समुत्पन्न एक ब्राह्मण थे। तीनों लोकों की रक्षा करने में परम प्रवीण, समर्थ पुत्र के पिता होने के कारण उन्होंने अपनी महिमा से प्रजापति कश्यप को जीत लिया था ॥ ४ ॥

आर्द्रे भे समजनि चैत्रमासि तस्मात्
आर्द्रात्मा बहुलकृपारसेन कश्चित् ।
निस्सीमाखिल गुण सज्जनाश्रयत्वात्
श्री रामानुज मकृताख्यया पिता यम् ॥ ५ ॥

उनसे चैत्र मास के आर्द्रा नक्षत्र में एक अलौकिक पुत्र समुत्पन्न हुआ जिनका हृदय अतिशय कृपा रस से पूर्ण था; निस्सीम समस्त सार गुणों से पूर्ण ओर सज्जनों के आश्रय होने के कारण पिता ने इनका नाम श्री रामानुज रख दिया ॥ ५ ॥

शुद्धात्मा हृदय निविष्ट कैटभारिः
चक्राङ्को धृतसकलक्षमाकलापः ।
सर्वेषां मरुदभिनन्दितात्मवृत्तिः
शेषत्वं प्रकटयति स्म योऽपरोक्षम् ॥ ६ ॥

वे अपने कतिपय स्वभावों से मानों अपने शेषत्व को परोक्ष रूप से प्रकट करते थे। तथाहि—(१) दोनों शुद्धात्मा थे। माने दोनों सफेद वर्णवाले, और परिशुद्ध मनवाले थे। (२) दोनों

हृदयनिविष्ट वैटभारि थे, माने शेषजी के खोले में भगवान् विराजमान हैं और श्री रामानुज के हृदय में भगवान् विराजमान हैं। (३) दोनों चक्रांक हैं, माने शेषजी चक्राकार रहते हैं और श्रीरामानुज चक्रांकित थे। (४) दोनों धृतसकलक्षताकलापः—शेषजी समग्र पृथ्वी का धारण करते हैं; श्री रामानुज क्षमादि सकल सद्गुणों का धारण करते थे। (५) दोनों सर्वेषां मरुदभिनन्दितात्मवृत्ति थे। शेष जी (सांप होने से) केवल वायु पीकर शरीरधारण करने वाले हैं। श्री रामानुज समस्त जनों के हार्दिक अभिनंदन के पात्र आचरणवाले थे।

वक्त्रोद्यद्विषम विषाकुल द्विजिह्वा-
व्यापारं विहितविजिह्मगत्वभङ्गि ।
भौजंगं वपुरपहाय शेषभोगी
यद्रूपं त्रिभुवन वन्दितं जगाम ।। ७ ।।

आदिशेष ने मुंह से निकले हुए विशेष विष से व्याकुल दो जीभ वाले व्यापार और कुटिल गति होने के कारण, सर्प-शरीर छोडकर त्रिभुवन वंदित रामानुज का रूप धारण किया था।। ७ ।।

शेषत्वं सकलजगद्धुरंधरस्या-
पर्याप्तम् मधुमथनस्य मन्यमानः ।
लिप्सुर्यो जगति तदीयकिंकराणां
भूरीणामपि समवातरत्परस्तात् ।। ८ ।।

श्री शेष भगवान् ने समस्त जगद्धुरन्धर मधुसूदन भगवान् के शेषत्व को अपर्याप्त समझकर तदीय शेषत्व को प्राप्त करने की इच्छा से पृथ्वी मंडल में अवतार लिया। अर्थात्, शेष जी मात्र भगवान् के शेष (माने दास) रहते हैं; इतने मात्र से उनको तृप्ति नहीं हुई; वे भगवद्भक्तों के भी शेष होना चाहते थे और इसलिए वे धरातल पर (श्री रामानुज के रूप में) प्रकट हुए ।। ८ ।।

चौलादावथ विधिवत् क्रियाकलापे
निर्वृत्ते गुरुरवदातधीभरस्य ।
अभ्यस्ताखिलनिगमस्य तस्य पश्चात्
उद्वाहोत्सवमपि कारयांबभूव ॥ ९ ॥

भगवान् रामानुजाचार्य का चौल आदि संस्कार विधि के साथ पिता ने संपन्न किया । इनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी । इस कारण इन्होंने संपूर्ण वेदों को बहुत शीघ्र पढ़ डाला । पीछे इनका विवाहोत्सव भी कराया गया ॥ ९ ॥

शास्त्राणां दुरधिगमप्रमेयभाजां
जालानि प्रथममकुण्ठधीः पठित्वा ।
श्री कांच्यां वरदमुपास्य वेदचूडा-
पाठोत्कोऽभजत स यादवप्रकाशम् ॥ १० ॥

वे सबसे पहिले उन शास्त्रों को पढ़कर, जिनका अर्थ बड़ी कठिनता से समझा जाता है; पीछे कांची में श्री वरदराज भगवान् की उपासना करके, वेदान्त पढ़ने की उत्कट इच्छा से यादव प्रकाश के समीप जा पहुंचे ॥ १० ॥

अर्थानामथ निगमान्तवाक्य पङ्क्तेः
अद्वैतं निगदति यादवप्रकाशे ।
सद्वैतप्रकटनलम्पट स्तदात्वे
पाण्डित्यं स्फुटमतनिष्ट लक्ष्मणार्यः ॥ ११ ॥

किसी समय यादव प्रकाश किसी श्रुति के अर्थ से अद्वैत सिद्ध कर रहे थे । उस समय श्री रामानुजाचार्य की द्वैत सहित अर्थ करने की इच्छा हुई और इसी विषय पर उन्होंने अपना पाण्डित्य स्फुट प्रकट किया ॥ ११ ॥

सद्वैतं श्रुतिशिखरार्थमात्मनीनं
व्याहर्तुः श्रवणसुधां कथां निशम्य ।
श्रीरामानुजविबुधस्य यामुनेयः
तां कांचीमभजत वीक्षितुं सशिष्यः ॥ १२ ॥

श्री रामानुजाचार्य का यह यश दूर दूर फैल गया था कि जिन श्रुतियों से अद्वैती लोग अद्वैत सिद्ध किया करते हैं, ये उन्हीं श्रुतियों के अर्थ से विशिष्टाद्वैत सिद्ध करते हैं। श्री यामुनार्य को यह बात अमृत के समान मीठी मालूम हुई और वे अपने प्रधान शिष्यों को साथ लेकर श्री रामानुजाचार्य को देखने के लिए कांची चले आये ॥ १२ ॥

सेवित्वा वरदमनन्त दीर्घिकायाः
पावन्यास्तटभुवि यादवप्रकाशम् ।
शिष्याणां निशितधियां गणैः परीतम्
नक्षत्रैश्शशिनमिव व्यलोकयत्सः ॥ १३ ॥

उन्होंने परमपवित्र अनंतसर के तट पर श्री वरद भगवान् को सेवन करके देखा कि यादव प्रकाश तीक्ष्ण बुद्धिवाले शिष्यों से परिवृत, सुशोभित हो रहा है, जैसे चांदनी रात में तारों के बीच में चांद सुहावना लगा करता है ॥ १३ ॥

तं पार्श्वस्फुरितममुष्य शिष्यमध्ये
निर्दिष्टं करसमुदंचनात् स्वशिष्यैः ।
दृष्ट्वाऽसौ महिमनिधिं कदा ममान्ते-
वासी स्यादिति स दयालुरालुलोके ॥ १४ ॥

श्री यामुनाचार्य के शिष्यों ने हाथ से बता दिया कि देखो, यादव प्रकाश के शिष्यों में यह श्री रामानुज विराजमान है। श्री यामुनेय ने उस तेजोराशि को देखकर यही मन में विचार किया कि यह मेरा

विद्यार्थी कब होगा। इस प्रकार उन्होंने श्री रामानुज को कृपा कटाक्ष से देखा ।। १४ ।।

श्री रामानुज विदुषाऽनुगच्छता तं
व्याहर्तुं किमपि दुरासदावकाशः ।
आलोकैश्चिरमनुगृह्य तं दयार्द्रैः
श्रीरंगं नगरमसावियाय भूयः ।। १५ ।।

श्री रामानुज यादव प्रकाश के पीछे पीछे जा रहे थे; इससे श्री यामुनाचार्य को उनसे बातें करने का अवकाश नहीं मिला। इस कारण अपनी दयादृष्टि से चिरकाल तक अनुगृहीत करके फिर वे श्रीरंगनगर को चले आये ।। १५ ।।

श्री रामानुजमुखशिष्यवर्गसेव्ये
व्याख्यानं विदधति यादवप्रकाशे ।
तद्राज्याधिप तनयस्तदा बभूव
ब्राह्मेण प्रतिभयरक्षसा गृहीतः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीरामानुज आदिक मुख्य शिष्यों के सेवित यादव प्रकाश जब उन्हें पढ़ा रहे थे, उसी समय वहां के राजा के लड़के को भयंकर ब्रह्म राक्षस ने पकड़ लिया ।। १६ ।।

उद्दामग्रहमदनिग्रहं विधातुं
निष्णातं निरुपममन्त्रवाद शौण्डम् ।
श्रुत्वोर्वीपतिरथ यादवप्रकाशम्
शिष्याणां परिवृत माह्वयत्समूहैः ।। १७ ।।

राजा ने यह सुनकर कि यादव प्रकाश जी अच्छे मंत्र शास्त्री हैं, झट ब्रह्म राक्षस के मद को निवारण करने के लिए शिष्यों सहित उनको बुलाया ।। १७ ।।

रक्षो यद् ग्लपयति मामकात्मजं तद्
विक्षोभं नय निरपायमन्त्रशक्त्या ।
इत्युक्त्वा निजतनयस्य सन्निधानं
मेदिन्याः पतिरनयद् यतिं क्षणेन ।। १८ ।।

"एक ब्रह्म राक्षस मेरे पुत्र को त्रास दे रहा है; आप अपनी अमोघ मंत्र शक्ति से मेरे पुत्र के विक्षोभ को दूर कर दें", ऐसा कह कर उसी समय सशिष्य यतिवर्य को राजा ने अपने कुमार के पास पहुंचाया ।। १८ ।।

आलोक्य प्रतिभय रक्षसा पुरस्तात्
आविष्टं धरणि पुरन्दरस्य सूनुम् ।
उद्दामं जपति मनुं यताववादीत्
सक्रोधं चरणमशंकितः प्रसार्य ।। १९ ।।

यति ने जाते ही देखा कि राजकुमार के शरीर में एक भयंकर ब्रह्मराक्षस ने आवेश कर रखा है, और झट मंत्र जपना प्रारम्भ किया। यह देखकर ब्रह्मराक्षस उसके सामने पैर फैलाकर क्रोध पूर्वक बोला कि— ।। १९ ।।

जानेऽहं मनुपदवैभवं त्वदीयं
प्राचीनं जनुरपि जन्म मामकं च ।
तेषु त्वं किमपि न वेत्सि किन्तु शान्तं
पापं मां कथमिव शिक्षितुं समागाः ।। २० ।।

मैं तेरे इस मंत्र के प्रभाव को अच्छी तरह जानता हूं, और तेरे व अपने, दोनों के पूर्वजन्मों को भी जानता हूं। पर तू यह कुछ भी जाने विना ही, हाय! मुझे आज्ञा देने के लिए आया है ।। २० ।।

इत्येवं स गदितवज्जगाद रक्षः
किं वैतन्मनुपदमादृतं ममाद्य ।
कोऽहं वा गतजनने तवापि काऽभूत्
उत्पत्तिस्त्वमसि यतोऽखिलं वदेति ।। २१ ।।

यादव प्रकाश ने ब्रह्मराक्षस के ऐसे वचनों को सुनकर उससे कहा कि मेरा मंत्र कैसा है? तथा मै पूर्व जन्म में कौन था? तू पहिले जन्म में कौन था? यह सब बता दे ।। २१ ।।

रक्षस्तं यतिमभणीदिति ब्रुवाणं
भावत्कं मनुपदमीदृशं पुनस्त्वम् ।
प्राग्जन्मन्यसि मधुरन्तकाग्रहारा-
म्ब्वाधारोन्नततट वामलूरुगोधा ।। २२ ।।

यह सुन कर राक्षस बोला कि तुम अमुक मंत्र जप रहे हो। पहिले जन्म में तुम मधुरान्तक अग्रहार के तालाव के किनारे की वल्मीक में गिरगिट के रूप में रहते थे। [अग्रहार ब्राह्मण वस्ती को कहते हैं; और मधुरान्तक उस ब्राह्मण वस्ती का नाम है।] ।। २२ ।।

शेषाद्रिप्रवरमहाय गच्छतां त्वम्
तत्राटन् पथि हरिधाम वैष्णवानाम् ।
यद्भुक्तोज्झित शुचि भक्तलेशमादाः
त्वं तस्मादिह तनुमीदृशीमजासीः ।। २३ ।।

जब कुछ वैष्णव प्रवर शेषाद्रि के उत्सव में भाग लेने के लिए उस मार्ग में जा रहे थे, उस समय तुम्हें उनके जीमने के बाद पत्तल में बचे हुए पवित्र चावलों का लेश मिला जाया करता था। इस कारण तुम्हें ऐसा शरीर इस जन्म में मिला है ।। २३ ।।

पूर्वस्मिन्नहमपि जन्मनि द्विजातिः
प्रारब्धं क्रतुवरमृत्विजां गणेन ।
तत्रत्यैरजनिषि मन्त्रकर्मलोपैः
ब्राह्मस्याकृतिमिह रक्षसः प्रपन्नः ।। २४ ।।

मैं तो पहले जन्म में ब्राह्मण था। मैंने ऋत्विजों के साथ एक अच्छे यज्ञ का प्रारम्भ किया। उस यज्ञ में कुछ मन्त्र और कर्म का लोप हो गया। इस कारण मुझे यह ब्रह्म राक्षस का शरीर मिला है ॥ २४ ॥

त्रस्तोऽहं तव सविधोषितादमुष्मात्
शेषांशाज्जनमवितुं कृतावतारात्।
भूभर्तुस्त्यज सुतमित्यसौ वदेच्चेत्
रक्षस्त्वं तमपि हठादहं त्यजेयम् ॥ २५ ॥

तेरे पास जो यह शेष का अंशावतार बैठा हुआ है, जिसका प्रयोजन भव सन्तप्त जनों की रक्षा करना है, उससे मै डरता हूं। यदि वे अपने श्रीमुख से यह कह दे कि 'हे ब्रह्मराक्षस! तू राजा के लड़के को छोड़ दे', तो मैं उसे तो छोड़ ही दूंगा और इस योनि से छुटकारा भी पाऊंगा ॥ २५ ॥

आलोकैरमृतमयैरिवानुबद्धं
दुष्कर्माखिलमपि दूरितं मदीयम्।
मुक्तिश्चाभवदिति पादपद्मयोस्तं
प्राणंसीत्प्रकटितभक्ति यातु तस्य ॥ २६ ॥

इसके अमृतमय कटाक्ष से मेरे सब पाप दूर हो गये और अब इस योनि से मेरा मोक्ष हो ही गया। ऐसा कहकर उस ब्रह्मराक्षस ने श्री रामानुज के चरण कमलों में अत्यन्त भक्ति के साथ झुककर प्रणाम किया ॥२६ ॥

तद् यातु क्षितिपतिनन्दनं विमुच्य
त्वद्यातु द्रुतमधुना नियोगमाप्त्वा।
संदिष्ट स्स च यतिनेति वीक्ष्य रक्षः
सन्तुष्टो मधुमधुरामुवाच वाचम् ॥ २७ ॥

यतिवर्य यादव प्रकाश ने रामानुजाचार्य से कहा कि तुम इस ब्रह्म राक्षस से कह दो कि राजकुमार को छोड़ कर चला जाय; तुह्मारी आज्ञा से यह शीघ्र ही छोड़कर चला जायगा। इससे श्री रामानुज अत्यन्त संतुष्ट हुए और दुखदायी ब्रह्मराक्षस को देख अत्यन्त मीठी वाणी से बोले ।।। २७ ।।

जाने त्वां मम वशगं मुदा यथेष्टं
क्ष्मानेतुस्सुत मपहाय याहि रक्षः ।
तच्चिह्नं निजपदपिप्पलद्रुभेदात्
हृच्चिन्तामपनय भूपतेः प्रकाश्य ।। २८ ।।

मैं जानता हूं कि तुम मेरे वश हो; इस राजकुमार को छोड़ कर जहां जाना चाहो वहां आनन्द के साथ चले जाओ। तुम्हारे जाने का यही चिन्ह हो कि जाती वार अपने वासस्थल पीपल के वृक्ष को तोड़ते हुये जाना! यह चिन्ह दिखाकर राजा के हृदय की चिन्ता दूर कर दो ।। २८ ।।

इत्याज्ञां प्रसभममुष्य यातु लब्ध्वा
तत्याज क्षितिपसुतं सहात्मदोषैः ।
अश्वत्थं सह नृपविप्रियै रभाङ्क्षीत्
विश्वस्तस्सह यतिना नृपोऽपि तस्मिन् ।। २९ ।।

श्री रामानुज की आज्ञा मिलते ही ब्रह्मराक्षस ने राजकुमार को छोड़ा और आप भी दोषों से मुक्त हुआ; एवं राजा के अकल्याणों के साथ ही साथ वहां के पीपल वृक्ष को भी तोड़ दिया; जिससे यति और राजा दोनों को विश्वास हुआ कि इसकी आज्ञा से ही ब्रह्मराक्षस ने राजकुमार को सदा के लिए छोड़ दिया है ।। २९ ।।

निर्याते निजतनयाद् ग्रहे नृपालः
मर्यादाधिक मधिरूढवान् प्रमोदम् ।
पर्यायोरगपतये परं सपर्यां
वर्यायाकृत विदुषां द्विषां पुरस्तात् ।। ३० ।।

जब राजा ने देखा कि मेरे कुमार को ब्रह्मराक्षस सदा के लिए छोड़ कर चला गया तो उसे सीमातीत आनन्द आया। अतः उसने शेषांश भगवान् श्री रामानुजाचार्य की पूजा, शत्रु मित्र सबके देखते हुए, की ॥ ३० ॥

उद्दामं नरपतिनाऽर्हणं वितीर्णं
तद्दान्तो निजगुरवे समर्प्य भक्त्या ।
श्रीकांचीं सह गुरुणा विवेश भूयः
साकांक्षो मनसि दधत्स देवराजम् ॥ ३१ ॥

राजा ने श्री रामानुज की अच्छी भेंट पूजा की, जिसे श्री रामानुज भक्ति के साथ गुरु को अर्पण किया। पीछे गुरुजी के साथ कांची चले आये और देवराज भगवान् के दर्शनों के लिये व्याकुल हो, हृदय में उनको स्थापित किया ॥ ३१ ॥

अभ्यंगं विरचयतो गुरौ विरुद्धं
व्याख्याति श्रुति शिखरैकवाक्यतत्वम् ।
श्रीरामानुज विदुषो रुषा कदुष्णं
प्राप्तं तन्नयनपय स्तदा तदूर्वोः ॥ ३२ ॥

एक दिन भगवान् रामानुज परम प्रेम से गुरु को तेल से मालिश कर रहे थे; तब गुरुजी ने एक श्रुति वाक्य का गलत अर्थ बताया। उसे सुनकर श्री रामानुज को अत्यन्त दुःख हुआ और उनकी आखों से गरम आंसू निकल कर यति यादव प्रकाश के ऊरु पर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

दग्धोरुर्नयनपयःकणैस्तदीयैः
क्रोधान्धो यति रवदत्स लक्ष्मणार्यम् ।
पाठ्योऽद्यप्रभृति मया प्रतीप माभूः
गच्छ त्वं मम नयनाध्वनो यथेच्छम् ॥ ३३ ॥

वह आंसू इतना गरम था कि उसके पड़ते ही यति का ऊरु जलने लगा, जिससे सन्यासी यादव प्रकाश को क्रोध आगया। अतः वह विवेक हीन होकर श्री रामानुज से बोला कि मैंने जो समझता था वही तुझे पढ़ाया है। परंतु तुम तो मुझ से प्रतिकूल है। मेरी आखों के सामने से ओट हो जावो। आज से तुम्हें मैं नहीं पढाऊंगा ॥ ३३ ॥

इत्युक्तो गुरुमपहाय मुक्तपाठः
श्रीकांच्यां कृतवसतिस्समं गृहिण्या ।
कैंकर्यं प्रतिदिन मातनोत्स शाला-
कूपाम्भो ददिभशैलवल्लभाय ॥ ३४ ॥

ऐसा कहने पर वे गुरु को छोड़ कर और पढ़ना भी छोड़ कर अपनी पत्नी के साथ कांची में निवास करते हुए श्री वरदराज भगवान् के कैंकर्य के लिये शालकूप से तीर्थ लाकर उन्हें अर्पण करते हुए उनके कैंकर्य में लग गए ॥ ३४ ॥

श्रुत्यन्तोदित मभिधेयमन्यथाऽस्मात्
आख्यातुर्विधुमिव राहुतो विमुक्तम् ।
तं कर्तुं स्वमतरतं स यामुनेयः
प्राणैषीत्सनुतिमणिं महार्हपूर्णम् ॥ ३५ ॥

यह समाचार श्री यामुनाचार्य को विदित हुआ। उन्होंने श्रुतियों के अपार्थ करने वाले यादव प्रकाश से मुक्त हुए श्री रामानुज को ऐसा समझा कि चांद राहू से छूट गया। फिर रामानुज जी को अपने मत में करने के लिए उन्होंने सुयोग्य विद्वान् महापूर्ण को स्तोत्ररत्न के साथ कांची भेजा ॥ ३५ ॥

कांचीं स द्रुतमभिगम्य तिष्ठमानः
कूपाम्भोहरणपरायणाय तस्मै ।
स्वच्छन्दं नुतिमणिजं पपाठ विष्णोः
उत्कर्षप्रकटनकारि पद्यमेकम् ॥ ३६ ॥

श्री महापूर्णजी शीघ्र ही कांची पहुंच गये। वहां रह कर एक दिन शालकूप से तीर्थ लेकर जब रामानुज आ रहे थे, उस समय उन्होंने उनको स्तोत्ररत्न के एक पद्य को ('स्वाभाविकानवधिक' इत्यादि पद्य को) सुनाया ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा तत्प्रकटितमाधवापदानं
सानन्दं तमचकथत्पृथुं स पूर्णम् ।
येनेदं श्रुतिमधुरं व्यधायि पद्यं
क्वन्वास्ते स गुरुरमुं पुनर्दिदृक्षे ॥ ३७ ॥

भगवान् लक्ष्मीपति का वैभव बतानेवाले उस पद्य को सुनकर श्री रामानुज स्वामीजी ने महापूर्ण स्वामीजी से पूछा कि यह अतिमधुर पद्य बनानेवाले गुरुजी कहां पर हैं? मैं उनके दर्शन करना चाहता हूं ॥ ३७ ॥

पद्यं तादृशमिदमाह यामुनेयो
योगीन्दुर्वसति पुनस्स रङ्गधाम्नि ।
सत्यं ते सुलभ इति प्रणीय पूर्णः
तेनागात्सह सहसा कदम्बतीर्थम् ॥ ३८ ॥

"यह सरस पद्य श्री यामुनाचार्य का बनाया हुआ है; ये योगीराज श्रीरंगधाम में बसते हैं। यदि आप उनसे मिलना चाहें तो मिल सकते हैं।" यह कहकर श्री महापूर्ण रामानुज को साथ लेकर (कावेरी नदी के) कदम्बतीर्थ पहुंच गये ॥ ३८ ॥

श्रीरंगात्कनक सरित्तटे चलन्तौ
श्रीरंगे कलकल शब्दतो विदित्वा ।
वैकुण्ठं गत इति यामुनेययोगी
मूर्च्छालौ हृदि भिदुराहताविवास्ताम् ॥ ३९ ॥

ये दोनों श्रीरंग क्षेत्र के पास कावेरी नदी के किनारे पर चल रहे थे। उतने में श्रीरंग के कोलाहल से इन्हें मालूम हुआ कि श्री यामुनेय योगी वैकुण्ठ पधार गए हैं। जिससे ये मानों वज्राघात हुआ हो, अचेत हो कर भूमि पर गिर पड़े ॥ ३९ ॥

उद्बुद्धः कथमपि तं महापूर्णः
निन्दन्तं नियतिगतिं प्रबुद्धमेत्य ।
कावेरीतट लवणावटोपकण्ठं
योगीन्दोरनघ मसेवयत् प्रतीकम् ॥ ४० ॥

किसी तरह महापूर्ण को चेत आया, उस समय श्रीरामानुज प्रबुद्ध होकर विधि के विधान की निन्दा कर रहे थे। तव श्री महापूर्ण श्री रामानुज को साथ लेकर वहां पहुंचे, जहां श्री यामुनेय का शरीर कावेरी के किनारे खोदे गए और नमक भरे हुए गड्ढे में रखा जानेवाला था। वहां पहुंच कर महापूर्ण ने श्री यामुनेय के सप्रभ शरीर को श्री रामानुज को दर्शन कराया ॥ ४० ॥

व्याकीर्णप्रचलशिखो विमुक्तकण्ठं
व्याक्रोशन् विसृमरबाष्पपूरिताक्षः ।
तत्क्षोणीतललुठनाति धूसराङ्गः
विक्षोभाकुलकरणो यतिं व्यनंसीत् ॥ ४१ ॥

उस समय श्री रामानुज के शिर के बाल खुल गये थे तथा उनका शरीर कांप रहा था और गला फाड़ कर जोर से रोने लग गए थे, आंखों के आंसू मुंह पर फैल गए थे, भूमि पर तड़पने के कारण शरीर धूल में सन गया था, इन्द्रियादिक सब विक्षोभ से व्याकुल हो रहे थे। ऐसी दशा में ही श्री रामानुज ने श्री यामुनेय योगी के चरणों में प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

शोकान्ते धृतिविभवेऽस्य चक्षुरत्नं
व्यारौत्सीत् तनुमतनुर्जहार कम्पः ।
आतंको हृदयमचूचुरद् विजेतुः
भंगे ह्यादधति पराजिताः प्रकर्षम् ।। ४२ ।।

उनका धैर्य शोक से छूट गया, तब आंसुओं ने आंखों को ढ़क दिया। कंप ने शरीर को कंपित कर दिया। आतंक ने हृदय को चुरा ली। क्योंकि विजेता का अभिभव होने पर हारे हुए बढ़ जाया करते हैं। धैर्य ही इनको नहीं फटकने देता था। धैर्य के हार जाने पर ये सब बढ़ गए ।। ४२ ।।

तत्त्वार्थं वितरितुमेष्यतेऽथ यस्मै
व्याख्यांका समबधि या करेऽन्त्यकाले ।
पादाब्जं श्रितवति तस्य लक्ष्मणार्ये
सा मुद्रा परिमुमुचे स्वयं यतीन्दोः ।। ४३ ।।

अन्त काल में श्री यामुनेय योगी ने अपने हाथ में व्याख्या की मुद्रा इसलिये ले रखी थी, कि रामानुजाचार्य आयेंगे तब उन्हें दूंगा। अब रामानुजाचार्य के आते ही वह मुद्रा खुल गयी ।। ४३ ।।

शोकाग्निप्रसर विलीन चित्तलाक्षा-
पिण्डेऽसौ यतितिलकस्य पुण्यमङ्गम् ।
तत्वार्थं निधिमिव लब्धमाशु तस्मात्
तत्त्रासात् सुदृढ़मसुद्रयन्मनीषी ।। ४४ ।।

शोकाग्नि के फैलने से चितरूपी चपड़ा पिघल गया। निधि भांति प्राप्त तत्वार्थ और यतिवर की अन्तिम झांकी उस चपड़े पर उससे शीघ्र ही मुहर लगाकर छाप कर लिया कि शरीर की तरह यह भी हमारे हाथ से न निकल जाय ।। ४४ ।।

तत्वार्थग्रहणमहाय जीवतोऽस्मात्
रंगेन्दुर्मयि विततान न प्रसादम् ।
इत्यन्तस्स्फुरितगुरुव्यथो न नत्वा
रगेशं पुनरगमत्ततस्स कांचीम् ॥ ४५ ॥

श्री रामानुज ने सोचा कि भगवान् रंगनाथ ने मुझपर कृपा नहीं की। मैं योगितिलक यामुनेयजी से तत्वार्थ प्राप्त करने के लिए आया था, पर वे मुझे यहां जीवित भी न मिले। इसी भयंकर व्यथा से श्री रामानुज विना ही श्रीरंगनाथ को दर्शन किये कांची चले आये ॥ ४५ ॥

कांचीशार्चन निरतः पुरेव कांची-
पूणार्यं स वरद सूनृतोक्तिपात्रम् ।
आचार्यं निजमचिकीर्षदप्यवश्यं
नो गण्यो भवति महात्मनां कुलादिः ॥ ४६ ॥

कांची आकर श्री रामानुज श्री वरदराज भगवान् के कैंकर्य में लग गये। उस समय वहां एक कांची पूर्णार्य नामके महायोगी विराजते थे, जिनके साथ वरदराज भगवान् साक्षात् बातें किया करते थे। श्रीरामानुज ने श्रीयुत् कांचीपूर्ण को अपने आचार्य बनाना चाहा; क्योंकि महात्माओं का तो महत्व ही देखा जाता है; उनके कुल आदि नहीं विचारे जाते ॥ ४६ ॥

पूर्णो यद्यपि वरदानुकम्पयाऽहं
नो युक्तं द्विजवर लौकिकक्रमस्य ।
इत्युक्त्वा प्रणतिपरं स तं न्यरौत्सीत्
नोच्छ्रायं प्रथयति सज्जनः स्वकीयम् ॥ ४७ ॥

श्री कांचीपूर्ण ने रामानुजजी का अभिप्राय सुनकर कहा कि 'यद्यपि में भगवान् वरदराज की कृपा से परिपूर्ण हूं; तो भी हे विप्र श्रेष्ठ! लौकिक मर्यादा को लांघना उचित नहीं है।' यों कहकर उन्होंने श्री रामानुज की प्रार्थना को टाल दी ॥ ४७ ॥

यद्येवं सुमतिधुरीण केचिदर्थाः
चिन्त्यन्ते मनसि मयाद्यतान् निवेद्य ।
श्री कांचीपति वरदाय तन्मुखोक्तं
कर्तव्यं मम कथयेति सोऽब्रवीत्तम् ॥ ४८ ॥

"हे बुद्धिमानों में अग्रगण्य! यदि यही बात है, तो मैंने कुछ अर्थों को मन में सोच रखा है। उन्हें आप श्री कांची के स्वामी वरदराज भगवान् से निवेदन करें और उनकी आज्ञा को मुझे बता दीजिए।" ऐसा रामानुज ने उनसे कहा ॥ ४८ ॥

इत्युक्तः सपदि तथेति कांचिपूर्णः
विज्ञप्तुं रहसि जगाम देवराजे ।
व्याधूतव्यजन मवेक्ष्य तं चचक्षे
सोऽपीत्थं किमपि भवान् विवक्षतीति ॥ ४९ ॥

श्री रामानुजाचार्य के यह कहने पर श्री कांचीपूर्ण शीघ्र ही श्री वरदराज भगवान् से एकान्त में बतलाने चले और व्यजन हिलाने लगे। तब भगवान् वरदराज ने कांचीपूर्ण से पूछा कि क्या कुछ कहना चाहते हो? ॥ ४९ ॥

इत्युक्तो वरदमुवाच सोऽतिनम्रः
मां रामानुजबुध एवमाचचक्षे ।
केऽप्यर्था मनसि विचिन्तिता मया तान्
उक्त्वा ते कथय हिताहितं ममेति ॥ ५० ॥

भगवान् वरदराज के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त नम्रता के साथ कांचीपूर्ण ने कहा कि "परम विद्वान श्री रामानुज ने मुझसे कहा है, मैंने कुछ विचार मन में सोच रखे हैं; उन्हें वरदराज भगवान् से निवेदन कर मेरे हिताहित को मुझसे कहो।" ॥ ५० ॥

विज्ञप्तस्स तमिति वाचमाचचक्षे
काञ्चीशस्सुमतिवर स्स लक्ष्मणाख्यः ।
दासत्वं सहजमभंगुरं दधानः
भावज्ञो मम सकलार्थतत्ववेत्ता ॥ ५१ ॥

कांची के अधिपति भगवान् वरदराज ने कांचीपूर्ण से कहा कि, "रामानुज परम बुद्धिमान है; उसे दासभाव स्वभाव से ही है, जो कभी नष्ट नहीं हो सकता। मेरे भाव को वह भली भांति जानता है, तथा सब अर्थों के तत्व का वह वेत्ता है ॥ ५१ ॥

श्रीसान्दीपिनि विदुषो यदूद्वहः प्राग्
अप्राक्षत् सपदि यथा समस्तविद्याः ।
प्राप्यार्थानयमखिलांस्तथा गुरुभ्यः
त्रातुं कांक्षति जनतां निदेशतो मे ॥ ५२ ॥

जैसे पहिले भगवान् कृष्ण ने विज्ञ सान्दीपिनि से सब विद्या पढ़कर विश्व का कल्याण किया था, इसी तरह यह भी मेरी आज्ञा से गुरुओं से सब विद्या सीखकर जनता की रक्षा करना चाहता है ॥ ५२ ॥

तद्भावोत्तरमिदमस्त्यहं हि तत्वम्
सद्वैतं मतमपि साधनं प्रपत्तिः ।
मोक्षस्स्याद् भुवि चरमस्मृतिं च हित्वा
पूर्णार्ये महति समाश्रयोऽस्य कार्यः ॥ ५३ ॥

उसके प्रश्नों के ये उत्तर हैं—मैं ही परम तत्व हूं; (जीव व ब्रह्म में) भेद है; प्रपत्ति ही मोक्षसाधन है; इसी जन्म में (शरणागत को) मोक्ष मिलेगा और अंतिमस्मृति की भी आवश्यकता नहीं रहती; वे महापूर्ण स्वामीजी का आश्रयण करें।" ॥ ५३ ॥

श्रुत्वाऽर्थान् वरद समीरितान् स कांची-
पूर्णार्याद्धृद्द कलितान्नत स्तदङ्घ्र्योः ।
आनन्द प्रसरदमन्दरोमहर्षः
श्रीरंगं पुरमथ लक्ष्मणः प्रतस्थे ।। ५४ ।।

श्री वरदराज भगवान् ने जो कांचीपूर्ण से कहा था, वही कांचीपूर्ण ने रामानुज को सुना दिया; जिसे सुनते ही श्री रामानुज को इतना आनन्द आया कि उनकी रोमावली खड़ी हो गई। पीछे श्री कांचीपूर्ण के चरणों में प्रणाम करके श्री रामानुजाचार्य श्रीरंगपुर को रवाना हो गए ।। ५४ ।।

एतस्मिन्नवसर एव यामुनार्या-
चार्योक्तं त्ववितथमाकलय्य रंगात् ।
सच्छात्रानुमतियुतो महार्हपूर्णः
कर्तुं प्रास्थित वशगं स लक्ष्मणार्यम् ।। ५५ ।।

इसी अवसर में श्री महापूर्ण ने यामुनेय योगी की उक्तियों को सार्थक मानते हुए छात्रों की अनुमति से श्री रामानुज को वश में करने के लिए रंगपुर से प्रस्थित हुए ।। ५५ ।।

निर्गच्छन् पथि मधुरान्तकाग्रहारे
श्री विष्णोः पृथुलतटाकनायकस्य ।
धामाप श्रमशमनं यदा विधित्सुः
श्री रामानुजसुमतिश्च तत्तदाऽऽप ।। ५६ ।।

श्री महापूर्ण चलते चलते मधुरान्तक नाम की ब्राह्मणों की बस्ती में तटाक पालक श्री विष्णु भगवान् के मन्दिर में मार्ग श्रमपरिहार के लिए ठहरे। उसी समय श्री रामानुजाचार्य भी संयोगवश उसी स्थान पर उपस्थित हो गए ।। ५६ ।।

तिष्ठन्तं महति तटाकपालविष्णोः
श्रीधामन्यभिलषितं महार्हंपूर्णम् ।
ईक्षित्वा सपदि तुतोष लक्ष्मणार्यः
किं वाऽन्यत्प्रमदकृदीप्सितार्थलाभात् ॥ ५७ ॥

श्री रामानुज केवल महापूर्ण के ही लिये श्रीरंग को रवाना हुए थे। वे परम इष्ट महापूर्ण तटाक पाल भगवान् के मन्दिर में दीख पड़े, जिन्हें देखकर श्री रामानुज को वड़ा भारी सन्तोष हुआ। इच्छित वस्तु की प्राप्ति से अधिक आनंद और किससे मिलेगा ? ॥ ५७ ॥

सान्निध्यं सुकृत भरैः पुराकृतैर्मे
प्राप्तस्त्वं दिवसकरो यथाऽम्बुजस्य ।
इत्युच्चैरभिदधदस्य पादपद्मे
प्राणंसीत्प्रकटितभक्ति लक्ष्मणार्यः ॥ ५८ ॥

मेरे पूर्वजन्म के वड़े भारी पुण्यों से ही आपका सांनिध्य मिला है। मेरे लिए आपके समीप आना ऐसा है, जैसे कमल को सूर्य मिल जाय। श्री रामानुज ने इस प्रकार जोर से कहकर अत्यन्त भक्ति के साथ श्री महापूर्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया ॥ ५८ ॥

उत्थाप्य प्रणतममुं तदा भुजाभ्याम्
आश्लिष्य प्रणयवशाच्चुचुम्ब मूर्ध्नि ।
प्राहृष्यत्पुलकित विग्रहस्स पश्चात्
किं किं न प्रियजनसंगमः करोति ॥ ५९ ॥

श्री महापूर्ण ने चरणों में प्रणाम करते हुए रामानुज को दोनों हाथों से उठाकर हृदय से लगा लिया तथा प्रेम के वश होकर शिर चूमने लगे। शरीर में हर्ष के मारे पुलकावली खड़ी हो गई। उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। क्योंकि प्यारे जनों का मिलना ऐसा ही होता है; वह क्या नहीं कर सकता ? ॥ ५९ ॥

वन्दित्वा विनयकृताञ्जलिर्महाश्री-
पूर्ण! त्वं महितहितोपदेशपूर्वम् ।
त्वत्पादाम्बुजयुगले मनोहरे माम्
अंगीकुर्विति निगदन्तमब्रवीत् सः ॥ ६० ॥

श्री रामानुज महाराज महापूर्ण की वन्दना करके हाथ जोड़कर विनय पूर्वक कहने लगे कि आप मुझे हितोपदेश करके अपने मनोहर पादारविंदों में (सेवक के रूप में) ले लो ॥ ६० ॥

श्री काञ्चीनगरललामपुण्यकोटि-
च्छायायां वरदविभोश्च सन्निधाने ।
त्वां मेधाविनमुररीक्रियासमित्या-
चक्षाणं पुनरिदमाह लक्ष्मणार्यः ॥ ६१ ॥

श्री महापूर्ण ने कहा कि, "श्री कांचीपुरी के तिलकायमान पुण्यकोटि विमान की छाया में, और श्री वरदराज भगवान् के सांनिध्य में मैं तुम बुद्धिमान को अंगीकार करूंगा ।" यों कहनेवाले उनसे श्री रामानुज फिर कहने लगे—

अंगानि प्रकृतिविभंगुराणि वृत्तिः
चित्तस्य क्षणमपि याति नैकरूप्यम् ।
को वेत्ति क्षणरुचिदामचञ्चलानाम्
प्राणानां स्थितिमथवा विनिर्गमं च ॥ ६२ ॥

शरीर स्वभाव से ही भंगशील हैं ; चित्त की वृत्तियां एक क्षण भी स्थायी नहीं रहतीं, चंचल होती हैं, किसे पता है, बिजली की तरह चंचल ये प्राण कब ठहरेंगे और कब निकल जायंगे ॥ ६२ ॥

उक्तं नौ निरुपमयामुनेय योगि-
ग्रामण्या स्वचरणसेवनं चिकिर्षोः ।
श्रीरंगं नगर मुपेयुषोर्नराणाम्
अस्थैर्यं परमपदं पुरा गतेन ॥ ६३ ॥

जब हम आप दोनों श्री यामुनेय योगी के चरण कमलों के सेवन करने की इच्छा से रंगधाम पहुंचे थे, तब हमारे पहुंचने से पहिले ही परम पद चले जानेवाले योगी तिलक श्री यामुनेय ने अपना उदाहरण हमारे लिये भी रख दिया कि (मेरे शरीर की तरह तुम्हारा भी) शरीर स्थिर नहीं है ।। ६३ ।।

तद् विष्णो स्सपदि तटाकरक्षिणोऽग्रे
मूले श्री वकुलतरोः हितोपदेशैः ।
मच्चित्तं कुरु निरवग्रह प्रबोधं
राजीवं रविरिव रोचिषां प्ररोहैः ।। ६४ ।।

इस कारण आप शीघ्र ही इन तटाकरक्षक भगवान् के सामने श्री वकुल वृक्ष के नीचे मेरे चित्त को अपने कल्याणकारी उपदेशों से निरन्तर ज्ञान देकर इस तरह खिला दें, जैसे सूर्य अपनी किरणों के समुदाय से कमल को खिला देता है ।। ६४ ।।

तत्रेत्थं गदितवते स पादपद्मं
संभाव्य स्वमनसि यामुनेयसूरेः ।
प्राहास्मै सगुरुपरंपरं द्वयाख्यं
तत्वार्थप्रकटनकारि मन्त्ररत्नम् ।। ६५ ।।

यह सुन श्री महापूर्ण ने अपने मन में वैकुण्ठ वासी यामुनेय सूरी के चरण कमलों का ध्यान करके श्री रामानुजाचार्य को गुरुपरम्परा के साथ तत्वार्थ का प्रकटन करने वाले द्वय मंत्र का उपदेश दिया ।

श्रीरामो जगदवनाय पादुके स्वे
विन्यस्याश्नुत भरते यथा वनान्तम् ।
स स्वाङ्घ्रि मयि विनिवेश्य यामुनेयः
त्वां पातुं मनुमणिमासदत्तथा स्वः ।। ६६ ।।

जैसे श्रीराम साम्राज्य की रक्षा करने के लिए भरत को अपनी खड़ाऊ देकर वन गये थे, वैसे ही श्री यामुनेय योगी भी तुम्हारी रक्षा करने के लिए मंत्र रूपी मणि को मेरे पास रखकर मोक्ष चले गये ॥ ६६ ॥

श्री कांच्यां द्वयमनुनोक्तवाच्यमुच्चैः
प्रत्यक्षं तव रचयेयमित्युदीर्य ।
तां गत्वा सममथ लक्ष्मणेन तस्याम्
मन्त्रार्थं वरदमदर्शयत्स तस्मै ॥ ६७ ॥

'मैं श्री कांची पहुंचकर द्वय मंत्र के वाच्यार्थ को तुम्हें प्रत्यक्ष करा दूंगा', ऐसा कहते उन्होंने श्री रामानुजार्य को साथ लेकर कांची आकर द्वय मन्त्र का साक्षात् अर्थ श्री वरदराज भगवान् का दर्शन कराये ॥ ६७ ॥

षण्मासं वरदपदारविन्दसेवा—
हेवाकी युवतिसखो महार्हपूर्णः ।
गूढ़ार्थान् गुरुगदितान् स्वदर्शनस्य
व्याकार्षीदथ गृहिणीसखाय तस्मै ॥ ६८ ॥

श्री महापूर्ण स्वामीजी छः मास पर्यंत सकुतूहल श्री वरदराज भगवान् की सेवा करते हुए, श्री रामानुज स्वामी और उनकी धर्मपत्नी को अपने सिद्धांत के निगूढ अर्थों का उपदेश करते हुए सपत्नीक विराजमान रहे ॥ ६८ ॥

कूपाम्बुग्रहणविधौ मिथः कदाचित्
कुप्यन्त्या घंटमिलनेन लक्ष्मणस्य ।
गेहिन्या सपदि विमानितावरोधः
श्रीरंगं निभृतमगान्महार्हपूर्णः ॥ ६९ ॥

एक दिन श्री रामानुज और महापूर्ण दोनों की पत्नियां दोनों एक साथ जल खींच रही थीं। दैवयोग से दोनों के बर्तन आपस में भिड़ गये। यह रामानुज की गृहिणी को अच्छा न लगा। उसने महापूर्ण की पत्नी का अपमान किया। इस कारण श्री महापूर्ण चुपचाप श्रीरंग क्षेत्र चले गये ॥ ६९ ॥

तस्मिन् प्रस्थितवति देशिके स रोषात्
एतस्मिन्नविनयतः कृताद् गृहिण्या ।
सातंकः प्रथमकृताच्च काञ्चिपूर्णे
सन्यास्यत्कृत भवगर्हणस्त्रिदण्डी ॥ ७० ॥

श्री रामानुजार्य ने देखा कि मेरी पत्नी के अविनय के कारण श्री महापूर्ण स्वामी यहां से श्रीरंग चले गये; और पहिले भी एक समय इसने श्री कांचीपूर्ण स्वामीजी का अपमान किया था। इससे श्री रामानुज स्वामीजी संसार से सर्वथा विरक्त होकर संन्यास लेकर त्रिदण्डी बने ॥ ७० ॥

संन्यस्यन् सरसि कराहित त्रिदण्डः
निश्शेषं निरमुचदेष बन्धुवर्गम् ।
वाधूलं प्रकटितदाशरथ्यभिख्यं
नाहासीद् बुधवरमग्रजातनूजम् ॥ ७१ ॥

श्री रामानुज स्वामीजी ने अनंतसर में स्नान करके संन्यास लिया, हाथ में त्रिदंड लिया और समस्त बंधुवर्ग को छोड दिया; परंतु अपनी बहिन के पुत्र, श्री वाधूल दाशरथि नामक विद्वान को नहीं छोडा ॥ ७१ ॥

संन्यस्य प्रकटितवैदिकाध्वनीतिः
त्वं रामानुजगुरुवद् धृतत्रिदण्डः ।
मात्रेतीरितमवनिप्रदक्षिणोत्कं
देवेशोऽवददिति यादवप्रकाशम् ॥ ७२ ॥

माता ने यादव प्रकाश से कहा कि तू श्री रामानुज गुरु की भाँति त्रिदंड का धारण करके वैदिक नीति का अनुसरण कर। यादव प्रकाश ने यह सुनकर पृथ्वी प्रदक्षिणा करना चाहा। उस समय देवराज भगवान् ने यादव प्रकाश से कहा— ॥ ७२ ॥

मद्रामानुजयमिनः प्रदक्षिणं त्वं
पर्यायं कुरु धरणीप्रदक्षिणस्य ।
स्वप्ने तद्गिरमवधूय कांचिपूर्णं
वव्रे तं वरदविभो र्निवेदितुं सः ॥ ७३ ॥

भगवान् ने स्वप्न में यादव प्रकाश से कहा कि तुम रामानुज यति को प्रदक्षिणा करो, वह पृथ्वी परिक्रमा के बराबर हो जायेगी। इस स्वप्न के वचन पर विश्वास न रखते हुए उसने श्री कांचीपूर्ण स्वामीजी से प्रार्थना की कि आप श्री वरदराज भगवान् की संनिधि में मेरी समस्या निवेदित करें ॥ ७३ ॥

तस्यार्थं रहसि निशम्य कांचिपूर्णात्
देवेश स्तमिति तदुत्तरं जगाद ।
प्राक्स्वप्ने मदभिहितप्रकारत स्तत्
निश्शंकं रचयतु यादवप्रकाशः ॥ ७४ ॥

कांचीपूर्ण ने एकान्त में जाकर श्री वरदराज भगवान् से निवेदन किया; जिसे सुनकर भगवान् वरदराज ने उत्तर दिया कि स्वप्न में मेरी कही हुई रीति से यादव प्रकाश उस काम को निश्शंक होकर करें ॥ ७४ ॥

इत्येवं वरदवचो निशम्य विष्णोः
स प्रीतो विहरणधाम विश्वमूर्तेः ।
श्रीरामानुजयमिनं परीत्य तस्मात्
संन्यस्या कलयदमुष्य शिष्यभावम् ॥ ७५ ॥

कांचीपूर्ण ने यादव प्रकाश को वरदराज भगवान् की बात कह सुनाई ; जिसे सुनते ही यादव प्रकाश श्री रामानुजार्य के समीप उपस्थित होकर उनकी सप्रेम प्रदक्षिणा कीं; क्यों कि श्रीरामानुजाचार्य (शेष जी) विश्वमूर्ति भगवान् के शयन स्थान हैं। वे उनसे संन्यास लेकर उनका शिष्य हुआ ॥ ७५ ॥

श्रुत्वा तं श्रितचरमाश्रमं प्रहृष्टाः
रङ्गस्थाः कृतमतयो निदेशपूर्वम् ।
रङ्गेन्दोस्स्वसविधमानिनीषवस्तं
प्राणैषुर्बुधमथ रङ्गिगायकाख्यम् ॥ ७६ ॥

श्रीरंगक्षेत्र के विद्वानों ने सुना कि श्री रामानुज स्वामीजी संन्यासी वन गये ; तव अत्यंत हर्षयुत हो उन्होंने श्रीवररंग नामक गायक (अरैयर) को यह आज्ञा देकर कांची भेजा कि उपाय से आप श्री रामानुज स्वामीजी को यहां, श्री रंगनाथ भगवान् के पास बुला लें ॥ ७६ ॥

श्री कांचीपुरमथ रङ्गिगायकाख्यः
संप्राप्तो वरदविभो स्स गानतुष्टात् ।
तं रामानुजगुरुमेत्य पूर्णपात्रं
श्रीरंगं पुरमगमत्स तेन भूयः ॥ ७७ ॥

श्री रंगगायक ने श्री कांची पहुंचकर अपने मधुर गानों से वरदराज भगवान् को प्रसन्न किया और उनसे पुरस्कार रूप में रामानुज को प्राप्त किया। पीछे उनको साथ लेकर श्रीरंग क्षेत्र चले आये ॥ ७७ ॥

सेनान्या सपरिकरेण तं निदेशात्
स्वात् प्रत्युद्गतमवलोक्य लक्ष्मणार्यम् ।
रंगेन्दुः करतलसौधगोऽभियातः
विन्यासैरलमकृतास्य शीर्षमङ्घ्र्योः ॥ ७८ ॥

श्री रंगनाथ भगवान् की आज्ञा से श्री विष्वक्सेन जी अपने परिवार के साथ श्री रामानुजार्य की अगवानी की। जब वे मन्दिर के समीप पहुंच गये, तब श्री रंगनाथ भगवान् करतल विमान पर बैठकर श्री रामानुज के सम्मुख गये और अपने चरणकमलों को उनके मस्तक पर सुशोभित किया ॥ ७८ ॥

सेवित्वा निजपद मङ्घ्रिचूडमस्मै
हृष्टायादित वरमादिमस्स रंगी ।
प्रह्वेभ्यो भवति च ते विभूतियुग्मं
प्रादांस्त्वं मम गृहकृत्यमाचरेति ॥ ७९ ॥

भगवान् के आपादचूड दर्शन करके अत्यंत संतुष्ट श्री रामानुज स्वामीजी को आदि भगवान् श्रीरंगनाथ ने यह वरदान दिया कि, "मैंने यह संसार व दिव्य धाम नामक दोनों विभूतियों को तुम्हें दे दिया। अबसे ये दोनों तुम्हारे सेवकों के सुलभ होंगे। और तुम मेरे इस मंदिर को सम्हाल लो" ॥ ७९ ॥

रंगेन्दोर्यतिपतिराज्ञया विधाय
स्वान्तेवासिनमकलंकनाम भूपम् ।
दुर्वृत्तानपि विनिगृह्य शाश्वतं तत्
सोत्कर्षं विरचयति स्म रंगिकार्यम् ॥ ८० ॥

यतिराज रामानुजार्य ने भगवान् रंगनाथ की आज्ञा से अकलंक राजा को अपना शिष्य बनाया (उससे) दुराचारियों को दबवाकर श्री रंगनाथ भगवान् के सेवा पूजादि कार्य सदा के लिए सुंदर रीति से चलते रहें—ऐसी व्यवस्था की ॥ ८० ॥

रंगेशाच्छ्रियमभजं त्वदङ्घ्रिदास्या-
दीदृक्षीमिति वदतोऽस्य सोऽतिपूर्णः ।
उक्त्वाऽर्थान् गुरुगदितान् सुतं च कृत्वा
तच्छात्रं पुनरिति लक्ष्मणार्यमूचे ॥ ८१ ॥

श्री रामानुजार्य ने श्री महापूर्ण से कहा कि मैंने आपके श्री चरणों का दास होने के कारण ही श्री रंगनाथ भगवान् से यह श्री प्राप्त की। यह सुनते ही महापूर्ण ने अपने वालक को श्री रामानुज का शिष्य वनाकर गुरुपरंपरा से प्राप्त हुए सब रहस्यार्थों को श्री रामानुजार्य के लिये वता दिया। और कहा— ॥ ८१ ॥

निक्षिप्तास्तव किल यामुनेयतीर्थैः
केऽप्यर्था जगदवनाय तान् गृहाण।
श्री गोष्ठीनगरवृषावनीध्र पूर्ण-
श्री मालाधरवररंगि गायकेषु ॥ ८२ ॥

आपके लिए श्री यामुनाचार्य ने श्री गोष्ठीपूर्ण, श्री श्रीशैलपूर्ण, श्री मालाधर और श्री वररंगि गायकों के पास कुछ रहस्यार्थ रख दिये थे; आप उन्हें ग्रहण करें ॥ ८२ ॥

तस्योक्ति श्रवणसुधां विधाय सोऽर्थान्
आदित्सुर्मनसि कुतूहलातिभारम्।
छात्राणां सुरगुरु जैत्रधीभराणां
सप्तत्या सह परमाप्तया बभार ॥ ८३ ॥

उनके वचन को श्री रामानुज स्वामीजी ने अमृत समान मीठे मानकर, बृहस्पति को भी जीतने में समर्थ बुद्धिवाले सत्तर शिष्यों के साथ उन रहस्यार्थों की प्राप्ति करना चाहा ॥ ८३ ॥

श्रीरंगाधिपति धुरन्धरो यतीन्द्रः
श्रीकार्यप्रतिसरपूर्वरंगभृत्यान्।
संभृत्य स्वमतपराननेकदेश्यान्
सन्यास्यद्दशविध किंकरान्द्विजेन्द्रान् ॥ ८४ ॥

श्री रंगराज भगवान् के कार्यधुरंधर श्री रामानुजाचार्य ने नाना देशवाले व अपने इच्छानुसार कार्य करनेवाले श्री रंगनाथ भगवान् के कई ब्राह्मण श्रेष्ठ सेवकों को इकट्ठे करके उनकी भगवान् की दस प्रकार की सेवा में नियुक्ति की ॥ ८४ ॥

भृत्यानां दशविध वर्गणाद्द्विजानां
शूद्राणां यतितिलक स्स तावतां च ।
शेषत्वादकृत निकृष्ट कर्मयोगात्
अत्रामुत्र च नियमं महार्थसिद्धेः ॥ ८५ ॥

स्वयं शेषावतार श्री रामानुजाचार्य ने सबके भगवच्छेष होने के कारण, सबको सेवा का अवकाश देते हुए, जैसे ब्राह्मण सेवकों के दस वर्ग बनाये, इसी प्रकार वैष्णव शूद्रों को भी कुछ निकृष्ट सेवा में (बाहरिया में) लगाकर उनके भी दस वर्ग बनाये, जिस सेवा से उन सबका ऐहिक तथा पारलौकिक सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकें ॥ ८५ ॥

रंगेशं यतिपतिरेकदा स्वशिष्यात्
दध्यन्नानुपदनिवेद्यमानजम्बुम् ।
श्रुत्वा तन्मिलनवशाद् विषातिरेकि
प्राहारीद् यतितिलकस्स रंगिभृत्यम् ॥ ८६ ॥

एक दिन यतिराज ने अपने एक शिष्य से सुना कि भगवान् रंगनाथ को दध्यन्न के बाद जंबूफल (जामून) का भोग लगाया गया है । यों जानकर कि उन दो वस्तुओं के मिलन से झहर उत्पन्न होगा, उन्होंने वह भोग लगानेवाले उस किंकर को दण्ड दिया ॥ ८६ ॥

राज्ञीयोपचरणलालसो मुरारौ
तद्दोषप्रशम मदापयत् कषायम् ।
आरोग्योपपदमथाऽकलय्य शालां
श्री धन्वन्तरि हरिधाम तच्चकार ।
रंगेन्दोस्स गरुडवाहनभट्ट क्लृप्तं
पथ्यायानुदिनमहापयत्कषायम् ॥ ८७ ॥

राजा के समान श्री रंगराज भगवान् की सेवा करने की इच्छा से श्री रामानुज स्वामीजी ने उक्त दोष को नष्ट करने के लिए एक कषाय बनवाकर पिलाया। तथा एक आरोग्यशाला बनवाकर उसे धन्वन्तरि भगवान् का मंदिर बनाया। फिर उसी दिन से श्री रंगनाथ भगवान् के भोग में श्री गरुड़वाहन भट्ट से प्रतिदिन पथ्य के रूप में भगवान् को कषाय का भोग लगाने लगा ॥ ८७ ॥

श्रीकार्यप्रतिरोधिनः परिकरान् रङ्गेशितुर्दुर्मदान्
दूरीकृत्य तदीयकार्यनिरतो रङ्गप्रतिष्ठामिव ।
वेदान्ताध्वविरुद्ध सौगतमुखान् दुर्वादिनस्संहरन्
आचन्द्रार्कमसौ चकार निगमोत्तंसप्रतिष्ठामपि ॥ ८८ ॥

श्री रामानुज स्वामीजी ने जैसे श्री रंगनाथ भगवान् दुष्ट सेवकों को दूर करके उनकी सेवा में निरत हो, श्रीरंग की प्रतिष्ठा बढायी, इसी प्रकार वेदांत मार्ग के विरोधी बौद्ध आदि दुष्ट वादियों को दूर करके आचंद्रार्क वेदांत की भी प्रतिष्ठा की ॥ ८८ ॥

सप्तदशस्सर्गः समाप्तः ।

अष्टादशस्सर्गः

श्री रामानुजमुनिरानिनंसु रङ्घ्रयोः
श्री गोष्ठीपुरवरपूर्ण देशिकस्य ।
श्री रंगेंद्रनुमतिमानथ प्रतस्थे
श्री गोष्ठीपुर मखिलैर्वृतः स्वशिष्यैः ॥ १ ॥

एक दिन भगवान् रामानुज मुनि ने श्री गोष्ठीपुर जाकर पूर्ण देशिक के चरणों में प्रणाम करने की इच्छा की। अतः श्री रंगनाथ भगवान् की आज्ञा लेकर आप समस्त शिष्यों के साथ श्री गोष्ठीपुर चले ॥ १ ॥

गत्वा लक्ष्मणयतिरन्तिकं दशाष्टौ
वारानप्यनुपमगोष्ठिपूर्णसूरेः ।
गूढं तत्स चरम पद्यवाच्यमाप्त्वा
विस्पष्टं जगदभिरक्षितुं जगाद ॥ २ ॥

यतिराज श्री रामानुजाचार्य ने, जिनकी बराबरी का कोई नहीं है, ऐसे गोष्ठीपूर्ण सूरि के समीप, १८ वार जाकर उनसे गीता के अंतर्गत चरम श्लोक का गूढार्थ पाया और उस अर्थ को सबके सामने स्फुट कह दिया कि संसार की यातनाओं से जीव बच जाय ॥ २ ॥

त्वन्नाम्ना भुवि हरिदर्शनं प्रतीतं
तद् भूयादिति वरमेत्य गोष्ठिपूर्णात् ।
श्री रामानुज विबुधः सुतं तदीयं
शिष्यत्वं पुनरवदातधीरनैषीत् ॥ ३ ॥

'आज से यह वैष्णव दर्शन आपके नाम से (माने श्री रामानुज दर्शन करके) प्रसिद्ध हो' यह वरदान श्री गोष्ठीपूर्ण ने श्री रामानुज मुनि को दिया; फिर पवित्र बुद्धिवाले उन्होंने श्री गांष्ठीपूर्ण के लड़के को अपना शिष्य बनाया ॥ ३ ॥

श्री मालाधरविदुष स्स दिव्यसूरि-
प्रोक्तद्रामिडनिगमोक्तमर्थ माप ।
तद्गानक्रममपि रंगिगायकार्यात्
श्री रामायणगदितं वृषाद्रिपूर्णात् ॥ ४ ॥

श्री रामानुजस्वामीजी ने विद्वान् श्री मालाधर से दिव्य सूरियों के कहे हुए द्रामिड वेद का अर्थ आदि प्राप्त किया ; श्री रंगिगायक से द्रामिड वेद गाने का क्रम पाया ; तथा श्री श्रीशैलपूर्ण से श्री रामायण का तात्पर्य सीखा ॥ ४ ॥

श्रीगातृप्रमुखसमस्तशिष्यवर्गे
न्यस्तार्थानभजत यामुनेयतीर्थैः ।
स्वच्छात्रानपि विरचय्य तत्तनूजान्
सोऽज्ञासीत् स्तुतिमणिमुख्यतत्प्रबन्धान् ॥ ५ ॥

श्री यामुनेय देशिक ने जो अलौकिक शास्त्रार्थ अपने श्री रंगी गायक आदि शिष्यों के पास रखा था, वह श्री रामानुज मुनि ने उन शिष्यों से प्राप्त कर लिया ; तथा उन सबके पुत्रों को अपने शिष्य बनाया । इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य ने स्तोत्ररत्न आदि उनके ग्रंथों को प्राप्त किया ॥ ५ ॥

आयातो यतिरमरापगोपकण्ठात्
कारुण्याकर इति कश्चिदेकदण्डी ।
श्रीरंगं परिचितशास्त्रपंक्तिरेत्य
श्री रामानुज गुरुमाह वादमीप्सुः ॥ ६ ॥

एक दिन एक कारुण्यकर नामक एकदंडी (अद्वैती) संयासी गंगातीर से श्रीरंगपुर आया । वह सभी शास्त्र जानता था । उसने वाद करने की इच्छा से श्री रामानुज स्वामीजी से कहा— ॥ ६ ॥

शिष्यस्स्यादपजयभागिति प्रतिज्ञां
उद्बाहूज्ज्वलनृहरेः पुरो विधाय ।
अन्योन्यं विरचयतो स्तयो र्विवादं
तत्राष्टाधिक नव वासरा व्यतीयुः ।। ७ ।।

कि जो परास्त होगा वह विजेता का शिष्य हो जायगा । उज्ज्वल नरसिंह भगवान् के सामने हाथ उठाकर यह प्रतिज्ञा की गयी हुई थी । फिर इन दोनों को नियम पूर्वक शास्त्रार्थ करते करते सत्रह दिवस व्यतीत गये ।। ७ ।।

जातेऽष्टादश दिवसे हरेर्विषण्णः
स्वप्ने कामपि जयहेतुमेत्य युक्तिम् ।
तं रामानुजसुमतिर्निराकृताग्निः
मार्ताण्डाद् रुचिमिव नैशमन्धकारम् ।। ८ ।।

जब अठारहवें दिन के शास्त्रार्थ का समय आया तो श्री रामानुज मुनि बहुत दुःखी हुए कि इतने दिन बीत गये, अभी तक मैं उसे न जीत सका । तब भगवान् ने स्वप्न में आकर जीत की युक्ति बता दी । जैसे अग्नि, सूर्य से प्रकाश पाकर रात के अन्धकार को नष्ट कर देता है, वैसे ही भगवान् से युक्ति प्राप्तकर श्री रामानुज ने उस वादी को परास्त किया ।। ८ ।।

तद्युक्त्याहितमतिरुज्झितैकदण्डः
सन्यस्तः पुनरुपनीतवांस्त्रिदण्डी ।
छात्रो लक्ष्मणयतिनोऽभवत्स च स्व-
च्छात्राणामकृत तमात्मनिर्विशेषम् ।। ९ ।।

उस युक्ति से एकदण्डी परास्त होकर एकदण्ड छोड़ श्री रामानुज मुनि के पास फिर यज्ञोपवीत संस्कार प्राप्तकर त्रिदंडी संयासी होकर श्री रामानुज का शिष्य वन गया । श्री रामानुज ने अपने शिष्यों में उसे अपने ही समान बना दिया । (अर्थात् करुणाकर रामानुज मुनि नाम से विभूषित किया ।। ९ ।।

विष्णवर्चाकृत मवनोत्सुको जनानां
श्री गीताविवरणभाष्यदीपसारान् ।
तद् गद्यत्रयमकृत प्रपन्ननित्या-
नुष्ठानक्रममपि योगिराट् प्रबन्धान् ॥ १० ॥

संसारी जीवों की रक्षा करना चाहते हुए, श्री रामानुज मुनिवर ने वेदार्थ संग्रह, गीता भाष्य, श्री भाष्य, वेदान्त दीप, वेदान्त सार, गद्यत्रय प्रवन्ध और नित्यानुष्ठान (भगवदाराधन) क्रम इन प्रवन्धों को बनाया ॥ १० ॥

आशान्तेष्वपि विहितास्पदान् विजेतुं
मोहान्धानमलमतिः कुदृष्टिबाह्यान् ।
निश्शेषैर्यतिपतिरावृतस्स्वशिष्यैः
नक्षत्रैरिव हिमदीधितिः प्रतस्थे ॥ ११ ॥

नाना दिशाओं में जो वेदवाह्य और कुदृष्टि लोग थे, उन मोहान्धकारावृत पुरुषों को जीतने के लिए, श्री रामानुजाचार्य ने शिष्यों के साथ प्रस्थान किया। उस समय आप ऐसे अच्छे लगते थे, जैसा चांद तारों के साथ सुन्दर लगता है ॥ ११ ॥

जित्वा स प्रतिदिशमुन्मदान् प्रवाचः
स्वच्छात्रानपि धरणीपतीन् विधाय ।
निक्षिप्याखिलहरिधामसु स्वशिष्यान्
पर्याटत् क्षितिवलयं प्रदक्षिणेन ॥ १२ ॥

प्रत्येक दिशा में मदोन्मत्त वादियों को जीतकर, वहां के राजाओं को अपने शिष्य बनाकर, तथा सब धामों में अपने शिष्यों को स्थापित करते हुए, आप विचरने लगे ॥ १२ ॥

पीठं स प्रथितमवाप शारदायाः
वाणी तं कृतविनतिं विलोक्य तत्र ।
स्वं वेश्माप्यमलमदर्शयच्च तस्मै
गृह्णीष्वाभिलषित पुस्तमित्यभाणीत् ॥ १३ ॥

फिरते फिरते वे शारदा पीठ पहुंचे। सरस्वती देवो ने उन्हें नमस्कार करते देखा और अपना स्वच्छ भवन दिखाकर कहा कि यहां से जो पुस्तक चाहिये सो ले लो ॥ १३ ॥

अप्राक्षोदिति विहितादरां स वाणीं
त्वं भक्ति किमिति मयीदृशीमकार्षीः।
इत्येवं यतिपतिनाऽऽदरेण पृष्टा
साऽवादी च्छ्रुतिमधुरं वचस्सहेतु ॥ १४ ॥

श्री रामानुज मुनि ने यों आदर दिखानेवाली सरस्वती देवी से पूछा कि "आपने मुझसे इतनी प्रीति क्यों की? इसका करण क्या है?" यह सुनते ही सरस्वती देवी हेतुपूर्वक मधुर वचन बोली ॥ १४ ॥

कप्यासं वचनमभाणि शंकरेण
त्रय्यन्ते कपिगुद मित्ययुक्तवाच्यम्।
अद्य त्वं कमलवदित्यनन्यथार्थं
यद् व्याख्यस्तदसि ममापि पूजनीयः ॥ १५ ॥

वेदान्त में कप्यास पद आया है; इसका शंकर ने कपि गुद (बन्दर का चूतड़) ऐसा अयुक्त अर्थ किया था। आपने अव जो कप्यास का कमल अर्थ किया, वह यथार्थ है। इस कारण आप मेरे भी पूजनीय हैं ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा निगमशिखार्थसंग्रहाख्यां
विन्यस्तां कृति मुररीक्रियार्थमस्य।
वाग्देवी कुमतिनिरासनं स्वमूर्ध्ना
दामेवाधित विदुषां मुदा समक्षम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार कहकर सरस्वती देवी ने, वेदार्थ संग्रह नामक अपनी जो कृति श्री रामानुज ने पीठ पर रखा था, उसे उठाकर विद्वानों के समक्ष फूल की माला के समान अपने माथे पर चढ़ाया, मानों कुमतियों का निरास करती हो ॥ १६ ॥

श्री बोधायन कृत वेद मौलिर्वृत्ति
संगृह्यापहत तमस्यवादि गर्वः।
तत्रत्यै र्नृपतिभिरंचित स्स्वशिष्यैः
सन्तुष्ट स्स निरगमत्ततो यतीन्द्रः ॥ १७ ॥

उस पुस्तकालय से श्री बोधायन कृत वेदान्त सूत्रवृत्ति ग्रंथ को श्रीरामानुज ने लिया और वहां के तामस वादियों को जीतकर, वहां के अपने शिष्य राजाओं से परिवृत हो, प्रसन्नता के साथ वहां से प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

तत्रत्याननुसरतो निवर्त्य भूपान्
उत्तीर्य त्रिदशनदीं जगत्पतिं सः।
संसेव्य श्रितपुरुषोत्तमं तदीयान्
दुर्वृत्तानपि न शशास तन्निदेशात् ॥ १८ ॥

जो राजा लोग आपके पीछे पीछे आते थे, उन सबको वापिस लौटाकर आपने देव नदी को पार करके जगन्नाथ क्षेत्र में पुरुषोत्तम भगवान् को दर्शन किया। परंतु भगवान् की आज्ञा होने के कारण वहां के दुराचारी सेवकों का शासन नहीं किया ॥ १८ ॥

निक्षिप्तो निशि पुरुषोत्तमाधिपेन
श्री कूर्मालयकुहरे स शम्भुबिम्बे।
लब्धश्री विशदमृदुद्धतेशलिंग
श्री कूर्मं प्रकटयति स्म लक्ष्मणार्यः ॥ १९ ॥

पुरुषोत्तम भगवान् ने श्री रामानुजाचार्य को रात में उठाकर श्री कूर्मालय की गुफा में रख दिया। वहां पर श्री स्वामीजी ने श्वेतमृत्तिका प्राप्त की और तदर्थं शिवलिंग को उठाकर जो शैवों ने ऊपर से रख दिया था, उसके नीचे से श्री कूर्म भगवान् की मूर्ति को प्रकट किया ॥ १९ ॥

सिंहाद्रौ विरचित खेलनं नृसिंहं
नत्वाऽहोबिल नरसिंह मप्युपास्य ।
संगायत्सुरतरुणीजनाभिरामं
संप्रापद् यतिपति रंजनाद्रिमूलम् ।। २० ।।

(फिर श्री स्वामीजी ने) सिंहाद्रि पर खेलनेवाले श्री नरसिंह भगवान् को नमस्कार करके अहोविल के नरसिंह भगवान् की भी उपासना की। पीछे वे अंजनाद्रि के मूल पर पहुंचे, जो अत्यंत रमणीय था, और वहां पर देवलोक की देवियां भगवान् के गुणगान करती हुई विचरती थीं ।। २० ।।

दृष्ट्वा तं विसृमरमोद वाष्पधारा-
पूर्णाक्ष स्स्फुरदतिसीमरोमहर्षः ।
आनन्दोदधि मवगाढवानिवासा-
वानंसीदहिपति रूपमद्रिराजम् ।। २१ ।।

अंजनाद्रि को देखते ही श्री रामानुज मुनि की आंखें बढ़ने वाले आनन्द के आंसुओं की धाराओं से डबडबासी गई। तथा अतिशय आनन्द से रोमावली खड़ी हो गयी और तो क्या? आनन्द के अगाध समुद्र में वे निरन्तर गोते लगाने लगे। पीछे उन्होंने शेष रूप पर्वतराज को झुककर प्रणाम किया ।। २१ ।।

प्राप्य श्रीपुर मुरगेन्द्रशैलमूला-
लंकारं पदनतविट्ठलेन्द्रभूपात् ।
लब्ध्वा सावकर मधिष्ठिपच्च तत्र
प्रख्यातांस्त्रिगुणशतं स्वशिष्यमुख्यान् ।। २२ ।।

इस पर्वत की जड़ में एक श्रीपुर (तिरुपति) नाम का नगर वसा हुआ है। यह नगर इतना सुन्दर था कि इससे अंजनाद्रि का मूल परम सुशोभित होता था। श्री रामानुज मुनि इस नगर में पहुंच

गये। वहां के विट्ठलेन्द्र राजा ने उनका पादाश्रित हो पूजा सत्कार किया; और श्री स्वामीजी ने वहां पर अपने प्रसिद्ध तीन सौ शिष्यों को ग्राम भूमि देकर स्थापित किया ॥ २२ ॥

नारूढः किल परकाल मुख्यभक्तैः
शेषांशो ह्ययमिति नारुरोह यावत्।
तावत्स प्रसभ मनन्तनाथपूर्व-
च्छात्रोक्त्या वृषगिरिशृंग मध्यरुक्षत् ॥ २३ ॥

जब तक भगवान् रामानुज यह विचार कर रहे थे, कि साक्षात् शेषरूपी इस पर्वत पर, परकाल आदि भक्त आळवार भी नहीं चढ़ा है, अत एव मैं भी न चढूंगा; उतने में ही अनन्तार्य आदि उनके शिष्यों ने आग्रह किया; जिससे इच्छा न होने पर भी आप वृषगिरि की चोटी के ऊपर चढ़ गये ॥ २३ ॥

आयान्तं यतितिलकं वृषाद्रिपूर्णः
बिभ्राणो वृषशिखरीशतुः प्रसादम्।
आमोदस्तबकितमानसो ह्युदस्थात्
अम्भोधि श्शशिनमिवोल्ललत्तरंगः ॥ २४ ॥

जैसे पूर्णचन्द्रमा को देखकर सागर पूरी हिलोरें लिया करता है, उसी तरह श्री श्रीशैलपूर्ण भी यतिराज श्री रामानुजाचार्य को अपनी ओर आते देखकर वृष गिरिवासी भगवान् का प्रसाद लेकर विकसित हृदय के साथ सामने हुए ॥ २४ ॥

वन्दित्वा तमथ सुधीस्ततो गृहीत्वा
भक्त्या श्री वृषगिरिनायक प्रसादम्।
प्रावोचत्तमिति किमाहर स्त्वमेव
त्वत्तः प्रत्यवरकरे न किं प्रसादम् ॥ २५ ॥

श्री यतिराज ने श्री शैलपूर्ण की वन्दना की; पीछे अत्यन्त प्रेम के साथ वृषाद्रि के अधिपति का प्रसाद ग्रहण किया और पूछा कि किया कारण है, जो मेरे लिए आप ही प्रसाद लाये हैं। क्या आपसे कोई छोटा नहीं दिखा? जिसके हाथ से क्यों न प्रसाद भिजवाया?॥२५॥

इत्युक्तस्स यतिवरं समित्यवादीत्
वीध्योऽस्यां निभृत मवेक्षिताश्चतस्रः।
मत्तः प्रत्यवर मलब्धि नासु कंचिद्
यत्तेनाहरमहमेव ते प्रसादम् ॥ २६ ॥

श्री रामानुज मुनि के इतना पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि ठीक है; मैंने इस नगरी की चारों गलियों में सावधानी से देखा; पर मुझे छोड़कर इनमें और कोई मुझसे छोटा नहीं मिला। इस कारण से में ही आपके लिए भगवान् का प्रसाद लेकर आया हूँ ॥ २६ ॥

आकर्ण्य श्रुतिमधुरां गिरं तदीयां
शिष्याणां वदन मवेक्ष्य लक्ष्मणार्यः।
श्री शेषक्षितिधरपूर्ण शेषभावं
श्लाघित्वा वृषगिरिनाथ धाम भेजे ॥ २७ ॥

उनके ऐसे श्रुतिमधुर वचन सुनकर श्री रामानुज मुनि ने पहिले तो शिष्यों के मुख की ओर देखा, पीछे श्री श्रीशैलपूर्ण के शेषभाव की प्रशंसा करते हुए वृष गिरिवासी भगवान् के धाम आ पहुंचे ॥ २७ ॥

स स्नात्वा गुहसरसि प्रदक्षिणेन
आतन्वान श्चतसृषु वीथिषु प्रचारम्।
सेवित्वाऽऽवरणसुरान् क्रमेण हृष्टः
पूर्णार्यै स्सह मणिमण्डपं जगाम ॥ २८ ॥

वहां सबसे पहिले स्वामी पुष्करणी में स्नान, पीछे प्रदक्षिणा करते हुए चारों दिशाओं में घूमे। परकोटे में जो देव विराजते थे, उन सबकी क्रम से सेवा की, एवं श्री श्रीशैलपूर्ण को साथ लेकर मणि मण्डप चले आये ॥ २८ ॥

नत्वा तं वृषगिरिनायकं समीक्ष्य
प्रत्यक्षं प्रणतिपरायण स्तदंघ्रयोः ।
संसारार्णव गत लोक तारकोऽसौ
आनन्दाम्बुधि कुहरेऽभवन्निमग्नः ॥ २९ ॥

वृषगिरि के अधिपति भगवान् के दर्शन करके उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। जो यतिराज संसार सागर में डूबे हुए जनों के उद्धारक हैं, वे स्वयं आनन्द के अगाध सागर के गहरें गड्ढ़े में मग्न हुए ॥ २९ ॥

श्रीरंगे विहितफणीन्द्रभोगतल्पं
निद्राणं निगमशिरोविहारि वस्तु ।
तल्लक्ष्म्या सह फणिशैल मूर्ध्नि निद्रां
त्यक्त्वा तां विहरति पूरुषः परोऽत्र ॥ ३० ॥

वेदान्त वेद्य परम पुरुष श्रीरंग क्षेत्र में शेषशय्या पर पौढ़ते हैं; वे ही पुरुषोत्तम नींद छोड़कर यहां श्री शेषशैल पर लक्ष्मीजी के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ३० ॥

वैकुण्ठं कलिसमये भुवीदमेव
स्वाम्यस्मिन्ध्रुव मयमाश्रयोऽ खिलानाम् ।
यल्लक्ष्म्या विभुरतिवांच्छितप्रदायी
देवानामपि पदसेविदानवानाम् ॥ ३१ ॥

कलिकाल में पृथ्वी पर यही वैकुण्ठ है और इसमें विराजमान भगवान् लक्ष्मी सहित होकर देवता दानव और समस्त प्राणियों के लिए अभीष्टदायी हो सबके आश्रयदाता बने हैं ॥ ३१ ॥

कारुण्यस्तबकितचक्षुषे नमस्ते
कामिन्या कबलितवक्षसे नमस्ते ।
नागेन्द्रालयगृहमेधिने नमस्ते
नन्तॄणा मभिमतदायिने नमस्ते ॥ ३२ ॥

करुणा रस से विकसित नेत्रवाले भगवन्! आपको नमस्कार है, लक्ष्मी से अलंकृत किये हुए वक्षस्थल वाले देव के लिए नमस्कार है। शेषाचल पर विराजमान आपको नमस्कार है। नमस्कार करनेवालों को उनके अपेक्षित सभी अर्थ देनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३२ ॥

इत्थं स श्रुति शिखराधिगम्यमीशम्
स्तुत्वा तत्कृतकरुणाकटाक्षपातः ।
तत्रैव त्रिदिन मुपोष्य दृष्टतीर्थः
पूर्णार्थैं स्सम मवरोहति स्म तस्मात् ॥ ३३ ॥

श्री रामानुजाचार्य ने वेदान्त से प्राप्त होनेवाले भगवान् का स्तोत्र किया; वृष गिरिवासी भगवान् ने भी उन पर कृपा दृष्टि की; वहां उपवास करते हुए तीन दिन वास करके, सब तीर्थों में स्नानादिक कर श्री श्रीशैलपूर्ण के साथ आप नीचे उतर आये ॥ ३३ ॥

श्री रामायणगदितं वृषाद्रिपूर्णात्
श्रुत्वार्थं सुदृढममुं निजप्रबन्धान् ।
संश्राव्याकृतकवचोर्थसंग्रहादीन्
सोऽनैषीत्तनय ममुष्य शिष्यतां हि ॥ ३४ ॥

श्रीशैलपूर्ण से रामायण का अर्थ सुनकर उन्हें वेदार्थ संग्रह आदि अपने प्रवन्धों को सुनाया। फिर श्रीशैलपूर्ण ने अपने पुत्र को श्री रामानुज मुनि का शिष्य बनाया ॥ ३४ ॥

गोविन्दाभिध मथ देशिकैकतानं
धारापूर्वक मुपलभ्य लक्ष्मणार्यः ।
शेषोर्वीधर वरपूर्णदेशिकेन
श्रीकांचीनगर मुपासदद विसृष्टः ॥ ३५ ॥

श्री रामानुज मुनि आचार्य में पूर्ण निष्ठा रखनेवाले गोविन्द नाम के शिष्य को श्री श्रीशैलपूर्ण स्वामी से धारापूर्वक दान में पाकर उनकी आज्ञा से श्री कांची पहुंचे ॥ ३५ ॥

श्री कांच्यां वरदमुपास्य गोपपुर्यां
भक्तेशं हरिमभिधापुरेऽच्युतं च ।
शौरीश श्रुतिपति शार्ङ्गपाणि मुख्यान्
चोलेशानपि कुरुकापुरीं स भेजे ॥ ३६ ॥

फिर आप श्री कांची में वरदराज तथा गोपपुरी में भक्तेश एवं अभिधापुर में अच्युत भगवान् की आराधना करके चोल देश के शौरीश, श्रुतिपति, शारंगपाणि आदिकों की उपासना करके कुरुकापुरी पहुंचे ॥ ३६ ॥

वैकुण्ठ प्रभृति महाष्टधामनाथैः
सेवित्वा सह कुरुकेश मादिनाथम् ।
तत्राक्ष्णोः पथमनयद् विनिद्र चिञ्चा-
मूलेऽसौ मधुरकविं च तं शठारिम् ॥ ३७ ॥

वैकुण्ठादिक बड़े आठ धामों के अधिपति भगवानों के साथ कुरुकेश आदिनाथ भगवान् को दर्शन करके उसी विनिद्र इमिली के वृक्ष के पास पहुंचे ; वहां पहुंचकर शठकोप स्वामी और मधुर कवि के दर्शन किये ॥ ३७ ॥

सेवित्वा गगनमहाचलेशविष्णुं
प्राणंसी त्तदनु हरिं कुरंगनाथम् ।
तं पूर्णं श्रुति शिखरार्थ बोधनेन
छात्रं सोऽकृत मणिभद्रपीठवर्ती ॥ ३८ ॥

तोताद्रीश भगवान् के दर्शन करके कुरंगनाथ भगवान् को प्रणाम किया । वहां मणिमयभद्र पीठ पर बैठकर वहां के पूर्णनामक भगवान् को वेदान्तार्थ का उपदेश देकर अपने छात्र बनाया ॥ ३८ ॥

सोऽनन्ते शयितमनन्तपुर्यधीशं
नत्वाऽस्मिन्मठमपि क्लृप्तवान् स्वनाम्ना ।
सेवित्वा मधुमथनांश्च केरलेन्द्रान्
आपेदे जलधिगराम सेतुमूलम् ॥ ३९ ॥

फिर अनन्तपुर के अधिपति शेषशायी भगवान् के दर्शन करके वहां एक रामानुज मठ की भी स्थापना की। केरल देश के अन्य भगवानों के दर्शनादिक करके समुद्र पर जाते हुए श्रीरामचंद्र के विरचित सेतु के मूल को चले आये ॥ ३९ ॥

फुल्लाटव्यधिगत दिव्य चापनाथं
श्री दर्भासन विनिविष्ट मर्चयित्वा ।
अद्राक्षीद् रजनिचरेन्द्र नीत सीता-
सन्ताप प्रशमन हेतु मेष सेतुम् ॥ ४० ॥

कुशाओं के आसन पर विराजमान (दर्भशयन) फुल्लाटवी के दिव्य चापनाथ भगवान् के दर्शन किये। बाद राक्षस से हरी हुई सीता के सन्ताप को नष्ट करने के हेतु सेतु को देखा ॥ ४० ॥

स प्राप्तः पुरमथ धन्विनूतनाख्यं
ज्यायांसं सुमतिमुपास्य विष्णुचित्तम् ।
गोदायाः कृतियुगलेन तत्सुतायाः
साकं तत्कृति मवधार्य सन्तुतोष ॥ ४१ ॥

इसके बाद धन्विनूतन (श्रीविल्लिपुत्तूर) नगर में पहुंचकर भक्तवर विष्णुचित्त (पेरियाळवार) के दर्शन किये। वहां विष्णुचित्त सूरि के और गोदा देवी के दोनों प्रबन्धों को सुनकर परम सन्तुष्ट हुए ॥ ४१ ॥

गोपस्त्रीकुलमय गोदयोपदिष्टं
कृष्णांकं प्रणवमिवाचचार जप्यम् ।
स त्रिंशत्परिमितपद्यमार्गशीर्ष-
प्रारब्धोत्सवसमयोचितं प्रबन्धम् ॥ ४२ ॥

स्वयं गोपिका बनी हुई गोदा के उपदिष्ट मार्गशीर्ष मास के उत्सव के योग्य तीस गाथावाले प्रवन्ध का जप किया ॥ ४२ ॥

श्री गोष्ठी नगर धुरीण सुन्दरेश-
श्री नारायण फणिशायि दक्षिणेशान् ।
तत्रत्यं गुरुमपि पूर्ण मर्चयित्वा
सच्छात्रै स्सह मथुरापुरीं प्रपेदे ॥ ४३ ॥

श्री गोष्ठी नगर के अधिपति सुन्दरेश भगवान्, श्री शेषशायी नारायण आदि दक्षिण के भगवानों की अर्चना करके, (गोष्ठी) पूर्ण गुरु का पूजन किया, पीछे सत् छात्रों के साथ मथुरापुरी पहुंचे ॥४३॥

तत्र श्रीसहचरसंगमेश विष्णुं
स्तुत्वा मंगलपरविष्णुचित्तसूक्तैः ।
नत्वा मोहननगरे च कालमेघं
लक्ष्मीशं वनगिरिमूलमासदत्सः ॥ ४४ ॥

वहां मंगलशासन पर विष्णुचित्त के सूक्तों से स्तुति किये हुए लक्ष्मी सहित (कूडलळगर्) विष्णु भगवान् के दर्शन करके, तथा मोहन नगर में कालमेघ भगवान् के दर्शन करके, वन गिरि मूल में पहुंचे ॥ ४५ ॥

तीर्थानां पयसि स नूपुरस्रवन्ती-
मुख्यानां विरचितमज्जनो यतीन्द्रः ।
आरामक्षितिधरपारिजातमारात्
अस्तौषीत्फणितिभरेण सुन्दरेशम् ॥ ४५ ॥

नूपुर गंगानदी आदि तीर्थों के पुनीत पानी में श्री रामानुज महाराज ने स्नान किया, वहां आराम क्षितिधर (तिरुमालिरुंशोलै) के पारिजात सुन्दरेश भगवान् की सुन्दर स्तुतियां की ॥ ४५ ॥

सत्याद्रेस्तिलक मुपास्य सत्यनाथं
सुस्नात श्शुचिनि जले कवेरजायाः ।
श्रीरंगं नगर मगाच्चलत्पताका-
हस्ताग्रैः प्रसभ मिवाह्वयत्प्रमोदात् ॥ ४६ ॥

सत्याद्रि के अधिपति सत्यनाथ भगवान् की उपासना करके कावेरी के पवित्र पानी में स्नान किया। वहां से आप श्रीरंगनगर पहुंचे। उस समय रंग नगर की ध्वजाएं इस प्रकार चल रही थीं मानों नगरी आनन्द के मारे अपने हाथों से इन्हें बार बार बुला रही हो ॥ ४६ ॥

रंगेन्दुः कृतविनतिं यतिं निजाङ्घ्र्योः
अप्राक्षीदिति कुशलोक्त्यनन्तरं तम् ।
किं त्वं मद् विहरण मन्दिराणि भूमौ
धामानि स्फुट मवलोकयांचकर्थ ॥ ४७ ॥

रंगनाथ भगवान् ने अपने चरणों में प्रणाम करते हुए यतिराज से कुशल प्रश्न के बाद पूछा कि क्या तुमने भूमि पर मेरे विहरण के मन्दिर, जो दूसरे दूसरे धाम हैं, उन सबका दर्शन कर लिया ॥ ४७ ॥

तस्योक्तेरथ स तमित्युवाच दृष्टं
त्वद्धामोपवननिभान्यधामबृन्दम् ।
धामेतः परमिह नान्यदीयमीक्षे
जातिस्थः किमलिरपेक्षतेऽन्यपुष्पम् ॥ ४८ ॥

यह सुनकर यतिराज बोले कि जिन धामों को मैंने देखा है, वे सब आपके धाम के उपवन के समान हैं। अब इस धाम से दूसरे धाम को नहीं जायेंगे। क्या चमेली के फूल पर बैठा हुआ भौंरा दूसरे फूल की अपेक्षा रखता है? आपके इस धाम को पानेपर दूसरे किसी धाम की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४८ ॥

इत्युक्त्वा विरचित रंगि कार्यमुद्रा-
निर्वाहः शठरिपुपूर्वसूरि क्लृप्तैः ।
सार्धम् द्रामिड निगमादिभिः प्रबन्धैः
व्याकुर्वन्निगम शिखार्थ मास्त तत्र ॥ ४९ ॥

श्री यतिराज इस प्रकार कहकर भगवान् रंगनाथ के कार्य का निर्वाह करते हुए तथा शठकोप आदि पूर्व सूरियों के कहे हुए द्रामिड शास्त्रों के प्रबन्धों के साथ वेदान्त की व्याख्या करते हुए वहीं विराजे रहे ॥ ४९ ॥

जीवातुं कुमति भुजंग दंशमुह्यद्-
वेदाना मकृत मुमुक्षु भाग धेयम् ।
सद्वैपायनशुकमुख्यभावगर्भं
श्री बोधायन फणिति क्रमेण भाष्यम् ॥ ५० ॥

दुर्मति रूपी सांप के काटने से मोह को प्राप्त हुए वेदों को जिवानेवाले, श्री बोधायन वृत्ति के अनुसार वेदान्त ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का निर्माण किया । यह भाष्य मोक्ष चाहनेवाले प्राणियों का सौभाग्य है एवं व्यास, शुक आदि मुनि के भाव इसमें पूर्णरूप से भरे हुए हैं ॥ ५० ॥

श्रीरंगामृत कविराह रंगि भृत्यः
तच्छिष्यो यतिपति वैभवानुबन्धम् ।
अन्तादि द्रमिडगिरा महाप्रबन्धं
गाथानाममृतमुचां युतं शतेन ॥ ५१ ॥

श्री रंगनाथ के सेवक, श्री रामानुजाचार्य के शिष्य, श्री रंगामृत कवि ने अमृतवर्षिणी सौ गाथाओं से यतिराज वैभव को प्रकाशित करनेवाला 'श्री रामानुज नूत्रंदादि' नाम का एक महाप्रबन्ध लिखा । इसमें पूर्व गाथा के अन्त का वर्ण अगिली गाथा के आदि का वर्ण है । यह द्रामिड भाषा में लिखा गया है ॥ ५२ ॥

अन्तादि शतक मिदं प्रपन्नलोकः
कासार प्रमुख मनीषिभिः कृतानाम् ।
प्रागेव द्रमिड जरद्वचःकृतीनां
प्रारम्भ प्रणववदाततान जप्यम् ॥ ५२ ॥

सरोयोगी से लेकर द्रामिड भाषा के जो प्राचीन कवि हुए हैं, उनके बनाये हुए प्रवन्धों के साथ इस अन्तादि शतक का, वेद के आरम्भ में प्रणव के समान प्रपन्न लोगों ने पाठ किया ॥ ५२ ॥

कूरेश प्रथित वधूल दाशरथ्या-
दि च्छात्र प्रवर मुखेन लक्ष्मणार्यः ।
स्वाख्यातश्रुतिशिखरात्मकप्रबन्धान्
स व्याचीकरदखिलोपकारहेतोः ॥ ५३ ॥

यतिराज श्री रामानुजाचार्य ने कूरेश, वाधूल दाशरथी आदि सुयोग्य शिष्यों द्वारा सबके कल्याण के लिए अपने वनाये वेदान्त के प्रवन्धों का प्रचार कराया ॥ ५३ ॥

सन्त्रातु स्स्वमत विबोधनाज्जनानां
माहात्म्यं समचकथन्नमी यतीन्दोः ।
रंगेशादिमहरयश्च पञ्च रक्षो-
मूकौ द्वौ शठरिपुपूर्वसूरयोऽष्टौ ॥ ५४ ॥

अपने मत को समझाकर संसारी जनों की रक्षा करनेवाले यतिराज श्री रामानुजाचार्य के माहात्म्य को श्री रंगराज, अंजन गिरिराट् (श्री वेंकटाचलपति), वरदराज, सुन्दरराज, कुरंगनाथ, ये पांच भगवान्, ब्रह्मराक्षस, मूक, और श्री शठकोप सूरि, श्रीमन् नाथ योगी, यामुनाचार्य, श्री गोष्ठीपूर्ण, श्री महापूर्ण इत्यादि आठ आचार्य, इन सबों ने प्रकाशित किया ॥ ५४ ॥

कारुण्याकर यतिवादि वादकाले
सद्युक्तिप्रकथनकर्मणा स रंगी ।
तत्पाद प्रणय जुषां च मानुषाणाम्
उद्दाम द्विविधविभूतिदानतश्च ॥ ५५ ॥

वादी कारुण्याकर यति के साथ शास्त्रार्थ करने के समय स्वयं भगवान् रंगराज ने जितानेवाली अच्छी अच्छी युक्तियां कही थीं, एवं उनके चरणाश्रितों को अपनी दोनों विभूतियों का दान करने से ॥५५॥

श्रीरंगे महितविभूतियुग्मसम्पद्-
दानेनांजन गिरिराट् च शिष्यभावात् ।
कांचीश स्सकलमहीप्रदक्षिणानाम्
आख्याना त्सममिति तत्प्रदक्षिणं च ॥ ५६ ॥

श्रीरंग में ही बड़ी भारी दोनों विभूतियों की सम्पत्ति के दान से यतिराज श्री रामानुजाचार्य का माहात्म्य बढ़ाया था। अंजन गिरि के अधिराज श्रीनिवास भगवान् ने शिष्यभाव ग्रहण करके यतिराज का महत्व बढ़ाया। कांची के अधिपति श्री वरदराज भगवान् ने यह कहकर कि सारी भूमि की प्रदक्षिणा के बराबर श्री रामानुजाचार्य की प्रदक्षिणा है, यतिराज का माहात्म्य कहा ॥ ५६ ॥

गोष्ठ्यां सुन्दरपति राह्वयंस्तदीयान्
अर्चायै प्रथम मनुत्थितोरुपूर्णान् ।
शिष्योऽभूत्स हि भवतां तथा यथाऽहम्
नन्दादेस्तनय इतीदृशोक्तिभंग्या ॥ ५७ ॥

एक दिन सुन्दरबाहु भगवान् ने गोष्ठी में बैठे हुए लोगों को आज्ञा दी कि जो रामानुजीय हों, वे पहिले पूजा करने आवें। उस समय जो महापूर्ण स्वामी के सम्बन्धी बैठे हुए थे, वे इस अभिप्राय से नहीं उठे कि हम तो रामानुज के गुरु महापूर्ण के भाई हैं; इस कारण

रामानुज के गुरु भाई होते हैं। यह आज्ञा हुई है, रामानुजीयों के लिए ही। तब भगवान् ने कहा कि जैसे हम वसुदेव, नन्द आदि के पुत्र हुए हैं, वैसे ही श्री रामानुज भी आप लोगों के शिष्य हुए हैं। ऐसा कह कर श्री रामानुज माहात्म्य बढ़ाया ॥ ५७ ॥

येन त्वं जगदकृथा ममाप्यवश्यं
वश्यं तं मम वेदमंत्रमित्युदीर्य ।
शिष्य स्सन् यतिशशिनो महासनस्थात्
श्रीमंत्रग्रहविधिना कुरंगनाथः ॥ ५८ ॥

श्री कुरंगेश ने रामानुजाचार्य से कहा कि जिस मंत्र से तुमने मेरे संसार को अपने वश में कर लिया है, उस मंत्र को मुझसे अवश्य कहो। ऐसा कह करके महासन पर बैठे हुए श्री रामानुजार्य से सविधि श्रीमंत्र का ग्रहण करते हुए, शिष्य बननेवाले कुरंगनाथ ने श्री रामानुजाचार्य का माहात्म्य बढ़ाया था ॥ ५८ ॥

रक्षः क्ष्मापति तनयाद् गतं तदुक्त्या
न्यक्कुर्वद्गुरुमपि यादवप्रकाशम् ।
दुग्धाब्धेः फणिपति रास लक्ष्मणात्मा
इत्याख्याना त्पुनरधिकांचि नष्टमूकः ॥ ५९ ॥

गुरु यादव प्रकाश का तिरस्कार करते हुए ब्रह्म राक्षस ने कह दिया था कि यह शेषावतार मुझे कह दे कि इस लड़के को छोड़कर चला जा, तो मैं छोड़कर चला जाऊं और उसी तरह श्री रामानुजाचार्य के कहने से ब्रह्म राक्षस ने किया। नष्टमूक ने कांची में कहा कि मैंने क्षीर सागर में लक्ष्मणाचार्य को शेष के रूप में देखा था। इस प्रकार नष्टमूक द्वारा श्री यतिराज का माहात्म्य कहा गया। (जिसका गूंगापना चला जाय उसे नष्टमूक कहते हैं। कांची में एक गूंगा यों कहते बोलने लगा।) ॥ ५९ ॥

धिक् पापान् मदवशगांश्च लोकमुक्तैः
कश्चिन्मे स्ववशगमाचरे ज्जनित्वा ।
नष्ट स्स्यात्कलि गरिमाऽपि तेन लोकाः
वीक्षध्वं ध्रुवमिति भाषणाच्छठारिः ॥ ६० ॥

उन पापियों को धिक्कार है, जो मेरे दिव्य कथनों से मेरे वश न हुए, कोई महात्मा पैदा होकर लोक को मेरे वश करेगा ; जिससे कलियुग की गुरुता नष्ट होगी, देख लेना, निश्चित बात है । ए लोगों! देखो ! यही यतिराज हैं ! यों शठकोप सूरि ने गाया और श्री रामानुजाचार्य के माहात्म्य का वर्णन किया था ॥ ६० ॥

न्यस्तं यज्जलमधि गोष्पदं यदि स्यात्
आस्वाद्यं चटक गणस्य वास्तदेव ।
न्यस्तं चेन्महति जलाशये कृतार्थां
क्ष्मां कुर्यादिति गदनेन नाथयोगी ॥ ६१ ॥

श्री नाथयोगी ने यतिराज का माहात्म्य इन शब्दों में कहा कि गाय के चरण के गड्ढ़े में जल भर दो तो वह चिड़ियों के पीने भर को होता है; पर उसे बड़े भारी तालाव में भर दो तो भूमि को कृतार्थ कर देता है । इसी प्रकार श्री रामानुजार्यजी के दिया ज्ञान अखिल विश्व को कृतार्थ कर देगा ॥ ६१ ॥

सच्छात्रो गुरु रधिकांचि यामुनेयः
दृष्ट्वा तं स्थित मुप यादवप्रकाशम् ।
सिद्धान्तं किमयमयेत नो महात्मा
इत्याभाष्य स्फुरितकटाक्षवीक्षणेन ॥ ६२ ॥

अच्छे शिष्यों के गुरु श्री यामुनेय योगी अनेक सुज्ञ शिष्यों के साथ कांची पहुंचे । वहां पर यादव प्रकाश सन्यासी के पास श्री रामानुजाचार्य को चमकते हुए कटाक्षों से देखकर बोले कि क्या यह महात्मा हमारे सिद्धान्त में आ जायगा ? ॥ ६२ ॥

हित्वा मां गुरु वचनातिगं जननां
मुक्ति स्स्यादिति वदतोऽस्य गूढमर्थम् ।
शिष्यं स्वं सुत मुपपाद्य दर्शनं त्व–
न्नाम्ना स्यादिति भणनेन गोष्ठिपूर्णः ॥ ६३ ॥

गुरु के वचनों का अतिक्रमण करनेवाले मुझ एक को छोड़कर दूसरे अनेक मनुष्यों की मुक्ति हो जाय, ऐसा कहनेवाले श्री रामानुजाचार्य का गूढ भाव समझकर अपने पुत्र को उनका शिष्य बनाकर श्री गोष्ठीपूर्ण सूरि ने श्री रामानुजाचार्य से कहा कि यह दर्शन तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, और इस प्रकार उनके महात्म्य का वर्णन किया ॥ ६३ ॥

स्वच्छात्रं तमुपगतं विलोक्य हृष्टः
मन्वानो निजगुरुमेव यामुनेयम् ।
उत्थाना द्युवतिसखो महार्हपूर्णः
कुर्वाणो निजतनयं च तस्य शिष्यम् ॥ ६४ ॥

अपने ही शिष्य रामानुज को आये हुए देखकर महापूर्ण स्वामीजी उनको अपने गुरु यामुनेय समझकर पत्नी के साथ उठ गए थे और अपने पुत्र को इनका शिष्य बनाया था । इस तरह महापूर्ण ने इनके माहात्म्य का प्रचार किया ॥ ६४ ॥

तस्याभ्युद्गमनपरः प्रसादहस्तः
नापश्यं चतसृषु वीथिकासु कंचित् ।
मत्तोऽल्पं जनमिति संकलप्य शिष्य-
त्वाधाना त्स्वतनुभुवो वृषाद्रिपूर्णः ॥ ६५ ॥

जब रामानुजाचार्य वृषाद्रि (वेंकटाद्रि) पर गये थे, उस समय वृषाद्रिनाथ भगवान् का प्रसाद लेकर श्रीशैलपूर्ण सामने आये थे, और यह कहा था कि मैंने चारों दिशाओं में दृष्टि डालकर देखा, परंतु अपने से नीचे किसी व्यक्ति को देख नहीं पाया; कारण मैं ही आपकी

सेवा में उपस्थित हुआ हूं। पीछे श्रीशैलपूर्ण ने अपने पुत्र को श्री रामानुजाचार्य का शिष्य कराया। इस तरह उन्होंने श्री रामानुजाचार्य का माहात्म्य वर्णन किया ॥ ६५ ॥

श्री मालाधर विबुध श्शठारि सूक्ति-
स्तोमार्थावनसमये नवीन मर्थम् ।
तेनोक्तं गुरुगदितं स गोष्ठिपूर्णात्
श्रुत्वाऽस्मिन् सह तनयेन शिष्यभावात् ॥ ६६ ॥

जिस समय श्री रामानुजाचार्य को शठकोप सूरि के कहे हुए द्रामिड भाषा के शास्त्रों के अर्थों की व्याख्या सुनाते हुए श्री मालाकार स्वामी के लिए श्री रामानुजाचार्य जीं ने ही एक नवीन अर्थ कहा; पर मालाकर स्वामी उसे सुनकर क्रोधित हुए औंर व्याख्या सुनाना वन्द कर दिया; उसी समय गोष्ठीपूर्ण सूरि ने कहा कि हमने गुरु यामुनाचार्य के मुंह से ऐसा भी अर्थ सुना है, तव मालाकार चकित हुए, एवं श्री रामानुजाचार्य जी को गुरुभावाभिज्ञ समझा; तथा अपने पुत्र को भी श्री रामानुजाचार्य जी का शिष्य वनाया ॥ ६६ ॥

श्रीरंगामृत विबुधो यतीन्दुना भूः
संत्राता कलिकलुषार्दितेति वादात् ।
इत्थं ते भुवि सकलातिशायि तेजः-
श्री रामानुजविदुषः प्रचक्षते स्म ॥ ६७ ॥

श्री रंगामृत पंडित ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि यतिराज चन्द्र ने कलिकल्मष पीडित भूमि की रक्षा की; इस तरह वे लोग भूमंडल पर श्री रामानुजाचार्य के तेज को सबसे अधिक वताते थे ॥ ६७ ॥

श्रीरंगाधिपजलधे स्सरःपुरोगैः
कालाभ्रैर्धृत मधिनाथयोगिमेरु ।
उत्सृष्टं गुरुवररामिश्र पद्मा-
क्षोत्साम्यां स्रुतमुरुयामुनेयनद्याम् ॥ ६८ ॥

हित्वा मां गुरु वचनातिगं जननां
मुक्ति स्स्थादिति वदतोऽस्य गूढमर्थम् ।
शिष्यं स्वं सुत मुपपाद्य दर्शनं त्व–
न्नाम्ना स्यादिति भणनेन गोष्ठिपूर्णः ॥ ६३ ॥

गुरु के वचनों का अतिक्रमण करनेवाले मुझ एक को छोड़कर दूसरे अनेक मनुष्यों की मुक्ति हो जाय, ऐसा कहनेवाले श्री रामानुजाचार्य का गूढ भाव समझकर अपने पुत्र को उनका शिष्य बनाकर श्री गोष्ठीपूर्ण सूरि ने श्री रामानुजाचार्य से कहा कि यह दर्शन तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा, और इस प्रकार उनके महात्म्य का वर्णन किया ॥ ६३ ॥

स्वच्छात्रं तमुपगतं विलोक्य हृष्टः
मन्वानो निजगुरुमेव यामुनेयम् ।
उत्थाना द्युवतिसखो महार्हपूर्णः
कुर्वाणो निजतनयं च तस्य शिष्यम् ॥ ६४ ॥

अपने ही शिष्य रामानुज को आये हुए देखकर महापूर्ण स्वामीजी उनको अपने गुरु यामुनेय समझकर पत्नी के साथ उठ गए थे और अपने पुत्र को इनका शिष्य बनाया था। इस तरह महापूर्ण ने इनके माहात्म्य का प्रचार किया ॥ ६४ ॥

तस्याभ्युद्गमनपरः प्रसादहस्तः
नापश्यं चतसृषु वीथिकासु कंचित् ।
मत्तोऽल्पं जनमिति संकल्प्य शिष्य-
त्वाधाना त्स्वतनुभुवो वृषाद्रिपूर्णः ॥ ६५ ॥

जब रामानुजाचार्य वृषाद्रि (वेंकटाद्रि) पर गये थे, उस समय वृषाद्रिनाथ भगवान् का प्रसाद लेकर श्रीशैलपूर्ण सामने आये थे, और यह कहा था कि मैंने चारों दिशाओं में दृष्टि डालकर देखा, परंतु अपने से नीचे किसी व्यक्ति को देख नहीं पाया; कारण मैं ही आपकी

सेवा में उपस्थित हुआ हूं। पीछे श्रीशैलपूर्ण ने अपने पुत्र को श्री रामानुजाचार्य का शिष्य कराया। इस तरह उन्होंने श्री रामानुजाचार्य का माहात्म्य वर्णन किया ॥ ६५ ॥

श्री मालाधर विबुध श्शठारि सूक्ति-
स्तोमार्थावनसमये नवीन मर्थम् ।
तेनोक्तं गुरुगदितं स गोष्ठिपूर्णात्
श्रुत्वाऽस्मिन् सह तनयेन शिष्यभावात् ॥ ६६ ॥

जिस समय श्री रामानुजाचार्य को शठकोप सूरि के कहे हुए द्रामिड भाषा के शास्त्रों के अर्थों की व्याख्या सुनाते हुए श्री मालाकार स्वामी के लिए श्री रामानुजाचार्य जीं ने ही एक नवीन अर्थ कहा; पर मालाकर स्वामी उसे सुनकर क्रोधित हुए औंर व्याख्या सुनाना वन्द कर दिया; उसी समय गोष्ठीपूर्ण सूरि ने कहा कि हमने गुरु यामुनाचार्य के मुंह से ऐसा भी अर्थ सुना है, तव मालाकार चकित हुए, एवं श्री रामानुजाचार्य जी को गुरुभावाभिज्ञ समझा; तथा अपने पुत्र को भी श्री रामानुजाचार्य जी का शिष्य वनाया ॥ ६६ ॥

श्रीरंगामृत विबुधो यतीन्दुना भूः
संत्राता कलिकलुषार्दितेति वादात् ।
इत्थं ते भुवि सकलातिशायि तेजः-
श्री रामानुजविदुषः प्रचक्षते स्म ॥ ६७ ॥

श्री रंगामृत पंडित ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि यतिराज चन्द्र ने कलिकल्मष पीडित भूमि की रक्षा की; इस तरह वे लोग भूमंडल पर श्री रामानुजाचार्य के तेज को सवसे अधिक वताते थे ॥ ६७ ॥

श्रीरंगाधिपजलधे स्सरःपुरोगैः
कालाभ्रैर्धृत मधिनाथयोगिमेरु ।
उत्सृष्टं गुरुवररामभिश्र पद्मा-
क्षोत्साम्यां स्नुतमुरुयामुनेयनद्याम् ॥ ६८ ॥

सरोयोगी आदि कालमेघों ने श्रीरंगनाथ रूपी समुद्र से कारुण्य रूपी जल को लेकर नाथमुनि रूपी पहाड़ पर वर्षा की, वही जल राम मिश्र और पुण्डरीकाक्ष रूपी झरनों द्वारा श्री यामुनाचार्य रूपी नदी में पहुंचा ॥ ६८ ॥

संपृक्तं शुभगुण लक्ष्मणार्यधारा-
बद्धान्त र्भरितमनेकधा प्रवृत्तम् ।
कूरेश प्रथित वधूल दाशरथ्या-
दि च्छात्र भ्रमपरिवाह यन्त्र मार्गे ॥ ६९ ॥

वही जल बहकर श्री रामानुजाचार्य रूपी तटाक में इकट्ठा हुआ, फिर वहां से अनेक धाराओं में कूरेश, वाधूल दाशरथि आदि छात्र रूपी नहरों में बहता हुआ— ॥ ६९ ॥

संसार्युन्नतविषयं प्रसिच्य तस्मिन्
तन्वाना प्रपदन सस्य कन्दलानि ।
कारुण्यामृत मधुनाऽखिलस्य जन्तोः
सन्धत्ते फलमनपायि मुक्तिरूपम् ॥ ७० ॥

संसारी जन रूपी ऊंचे खेतों को सींच कर शरणागति रूपी सस्य को बढ़ाया । इस समय वह प्राणिमात्र के लिये अविनाशी मुक्ति रूप फल दे रहा है ॥ ७० ॥

चोलोऽभू दथ कुलपांसनो नृशंसः
दोषाणामिव कलिजन्मनां समूहः ।
तद्वंशक्षयकरणाय मन्त्रिनीत्या
पाण्डचस्तं व्यतनुत शैवमार्गनिष्ठम् ॥ ७१ ॥

यतिराज रामानुजाचार्य के समय चोल देश का राजा परम क्रूर और कुल का कलंक था । यह ऐसा था मानों कलि के दोष इसके रूप में ही इकट्ठे हो गये हों, पाण्ड्य ने मंत्री की नीति से उसे शैवी बना दिया, कि जल्दी ही इसका वंश मिट जाय ॥ ७१ ॥

दुर्मेधाः परुषपुरोहितानुरोधी
निर्भिद्य त्रिभुवननायकस्य विष्णोः ।
धामैकं सुललित चित्रकूट मुख्यं
पाथोधेः पयसि स पातयांबभूव ॥ ७२ ॥

स्वयं दुर्बुद्धि था ही; फिर कूर स्वभाव के पुरोहित के अनुसार चलता था। इसने पुरोहित के कहने से चित्रकूट नामक एक सुन्दर भगवद् धाम को तुड़वाकर समुद्र में फिकवा दिया था ॥ ७२ ॥

आस्थान्यामखिलविपश्चितां पुरस्तात्
आहूत स्वविषयवासिवैष्णवेभ्यः ।
आदित्सत् परतरमस्ति नो शिवादि-
त्याबद्धाक्षर पद मुच्चकै स्स पत्रम् ॥ ७३ ॥

इसका यह काम था कि अपने देश में वसनेवाले वैष्णवों को इकट्ठा करके उनसे सब विद्वानों के सामने हस्ताक्षर कराता था कि शिव से बड़ा कोई देव नहीं है ॥ ७३ ॥

चोलस्य श्रुतिकटु चेष्टितं यतीन्द्रः
श्रुत्वाऽथ श्रितविमलाम्बर स्स रङ्गात् ।
श्री रङ्गिन्नव तव धाम दर्शनं चे-
त्युक्त्वा प्रास्थित विनिवेश्य कूरनाथम् ॥ ७४ ॥

यतिराज के पास भी यह संदेश पहुंचा; सुनते ही बुरा लगा, झट रंगनाथ भगवान् से प्रार्थना किया। हे रंगनाथ स्वामिन्! आप अपने की और दर्शन की रक्षा करें; और कूरेश को बिठाकर, आप सफेद वस्त्र पहिने हुए श्रीरंग से चले गये ॥ ७४ ॥

निर्यातो यतिपति रागतं ग्रहीतुं
चोलेन प्रहितबलं विलोक्य पश्चात् ।
वन्यक्ष्मापथसिकतावलीः किरद्भिः
स्वच्छात्रै र्द्रुत मभिमन्त्रिता न्यरौत्सीत् ॥ ७५ ॥

जाते हुए यतिराज ने देखा कि चोल महाराज की भेजी हुई फ़ौजें पीछा करती हुई चली आ रही हैं। तब आपने अपने शिष्यों से वनभूमि के रास्ते की अभिमंत्रित रेती को शीघ्र ही फौज के रास्ते में बिखरवाकरके चोल के बहादुरों की गति को रोक दिया ॥ ७५ ॥

मार्गे स प्रतिवसति प्रजा स्ततस्त्याः
रक्षित्वा विरचित भीरुशूद्रमोदम् ।
आलोकैर्निजचरित प्रदर्शनाच्च
श्रीनारायणपुर मासदद् विषण्णः ॥ ७६ ॥

भीरु शूद्र को आनन्द देते हुए तथा मार्ग के प्रत्येक नगर की दर्शनार्थिनी प्रजा की रक्षा अपने पवित्र दृष्टि पात तथा अपने चरित्र के दिखाने के द्वारा करते हुए नारायणपुर पहुंचकर उनमने रहने लगे ॥ ७६ ॥

तत्सैन्यं यतिपतिमन्त्रित प्रकीर्णैः
संरुद्धं पथि सिकताभरैर्निवृत्तम् ।
आनैषीन्नृपसविधं महाहंपूर्णं
श्री रंगात्सह यतिवेष कूरभर्त्रा ॥ ७७ ॥

अभिमंत्रित रेती से चोल के सैनिकों की गति रुक गयी। ये बेचारे पीछा करने का विचार छोड़कर पीछे लौट आये तथा कूरेश और श्री महापूर्ण को पकड़ कर चोल महाराज के पास ले गये ॥ ७७ ॥

पत्रेऽस्मिन् परतरमस्ति नो शिवा-
दित्याधातुं लिपिमधिगोष्ठि विद्वदग्रे ।
चोलेनानुमत पुरोधसेति पृष्टौ
तौ न्याय्यामिति वदत स्स्म वाचमुच्चैः ॥ ७८ ॥

चोल की सलाह से पुरोहित ने वही कागज रख दिया कि शिव से बड़ा कोई नहीं है, इस पर हस्ताक्षर कर दो। तब ये दोनों जोर के साथ न्याय युक्त वचन कहने लगे ॥ ७८ ॥

अन्याय्यं तदिह र्हारं विना वरीयः
तत्रेत्थं नृपतिनियोगदत्त पत्रे ।
मानार्थं शिव पद माकलय्य तस्मात्
द्रोणं चास्त्यधिकमिति स्फुटाक्षराणि ॥ ७९ ॥

विष्णु भगवान् के सिवा दूसरे को वड़ा कहना ठीक नहीं है । शिवपद को नाप के सैर का अर्थवाला मानकर राजा के कागज पर लिख दिया कि द्रोण इससे वड़ा है ॥ ७९ ॥

तादृक्षां लिपि मवलोक्य तं चतुर्ग्रा-
मण्युक्त्या कपटर्मात च तत्र मत्वा ।
क्रोधान्धस्स नयन मन्धमस्य चक्रे
स्वं द्रष्टु र्ध्रुवमघनिष्कृति विधास्यन् ॥ ८० ॥

राजा ने वह लिपि देखी, जिसमें शिव से द्रोण बड़ा है, यह लिखा हुआ था; जिससे क्रोध के मारे अन्धा हो गया। पीछे चतुर्ग्राम मुखी की सलाह से कूरेश को कपटमति मानकर अन्धा करा दिया । अपने को (राजा को) देखने से जो पाप इन्हें हुआ था, उसका प्रायश्चित मानों स्वयं ने किया ॥ ८० ॥

दासेन व्रजकृतनिष्ठुर प्रहारैः
वीतासुं सदसि महार्हपूर्णसूरिम् ।
कूरेशं तमपि नृपोऽक्षिपत् पुरात्स्वात्
आयुष्यद्रविणहराविव स्वकीयात् ॥ ८१ ॥

राज सभा में ही दास लोगों ने महापूर्ण को इतनी बेदर्दी के साथ मारा कि उनके प्राण वहीं निकल गये । पीछे कूरेश और महापूर्ण को अपने नगर से प्राण और धन के चोरों की तरह निकाल दिया ॥ ८१ ॥

कूरेश स्सह स परान्तकद्विजेन्द्रैः
संस्कृत्योचितविधिना महार्हपूर्णम् ।
श्रीरंगं प्रति गतवानुदन्तमेनं
प्राणैषीद् यतिपतये स्पशेन गुप्तम् ॥ ८२ ॥

कूरेश ने परान्तक द्विजेन्द्रों के साथ उचित विधि से महापूर्ण का अन्त्येष्टि संस्कार करके श्रीरंग को गमन किया; पीछे यह सब समाचार चार के द्वारा गुप चुप यतिराज के पास पहुंचा दिया ॥८२॥

चारोक्तं श्रुतिभिदुरं निशम्य वृत्तं
शोकान्धो यतितिलिको रुषाऽर्घ्य काले ।
दत्तार्घ्योऽधिक मभिवेंकटेन्दु चोल-
स्यारेभे प्रलय कृते विनाऽभिचारम् ॥ ८३ ॥

दूत के कहे हुए कर्णकटु समाचार सुनकर यतिराज शोक के वेग से अन्ध से हो गये, अर्घ देने के समय वेंकटेश भगवान् को अर्घ देकर चोल के नाश के लिए पक्षिराज से अभिचार कराया ॥ ८३ ॥

त्यागेशः पुरजिदुपेन्द्र भक्तमुख्यः
चोलेशान्वयवसुधाधिपत्य मुद्राम् ।
अद्यादामिति कमठालयेऽशरीरं
वाग्भेरीं मुखरयति स्म गोपुराग्रे । ८४ ॥

त्यागेश नामक विष्णु के भक्त महादेव ने श्री कूर्म भगवान् के मंदिर में आकाशवाणी के द्वारा यह उद्घोषित किया कि चोल वंश में जो राजापना था उसको अब मैंने ले लिया ॥ ८४ ॥

श्री रामानुज विबुधार्घ्यं चोदितस्सन्
प्रह्लादोत्सुक नृहरिर्यथा हिरण्यम् ।
विव्याध क्षितिपति मायुधेन कण्ठे
निद्राणं निशि निशितेन वेंकटेशः ॥ ८५ ॥

जैसे प्रह्लाद की रक्षा के लिए उत्साहित हुए नृसिंह भगवान् ने हिरण्य कश्यपु का विनाश कर दिया था, उसी तरह रामानुजाचार्य के अर्घ्य से प्रेरित होकर वेंकटेश भगवान् ने अपने मैने हथियार से रात में सोते हुए राजा को कंठ में मारा ।। ८५ ।।

तद्धेति प्रदलितकण्ठनालरन्ध्रात्
निस्सीमौषधि मनुभेद दुर्निवारात् ।
उत्तस्थौ क्रिमिपटलं यत स्तदासीत्
तस्याप्तं क्रिमिगलनाम पापलक्ष्म ।। ८६ ।।

वेंकटेश भगवान् के अस्त्र की दली हुई कंठ की नली के छेद से ऐसे कीड़े उत्पन्न हुए जो हदके दरजे की दवाई और मंत्रों से किसी भी तरह न मिटाये जा सकें । यहां तक कि इस पाप का प्रत्यक्ष निशान यही हुआ कि राजा को लोग क्रिमिकंठ कहने लग गये ।। ८६ ।।

उद्भूतै र्विसृमर देहविस्र गन्धैः
चोलेशं ज्वलितचिताग्निदग्धगात्रम् ।
स ज्ञात्वा फणिचिति होमतो व्यरंसीत्
तद् व्याहारक परिचारकागमार्थी ।। ८७ ।।

श्री रामानुजाचार्य ने फैलनेवाली देह के कच्चे मांस की उठी हुई गन्ध से जान लिया कि चोल राजा का शरीर जलती हुई चिता पर जलाया जा रहा है । आप होम को समाप्त करके यह समाचार लानेवाले सेवक की प्रतीक्षा करते हुए उस यज्ञ से विरत हो गये ।। ८७ ।।

आयाताद् यतिपति राकलय्य शिष्यात्
चोलेशं वृषगिरिनाथहेतिविद्धम् ।
निष्ठ्यूत क्रिमिपटलाद्गलात्परासुं
प्रीतोऽदान्मनुर्मणिपूर्णपात्रमस्मै ।। ८८ ।।

इतने में एक सुयोग्य शिष्य ने आकर चोल के मरने का समाचार सुनाया कि वेंकटेश के हथियार का वींधा हुआ चोल राजा कंठ की नली के दुर्गंट कीड़ों के मारे मर गया। यह सुनकर यतिराज प्रसन्न हुए और उस शिष्य के द्वयमन्त्र को उपदेश रूप पारितोषिक दिया ॥ ८८ ॥

श्री नारायण पुरि संपदात्मजाख्यं
कल्याणाह्वय सरसीतटे मुकुन्दम् ।
उत्पाद्याकृत सदशोत्तरद्विचत्वा-
रिंशत्किंकरनिकरांचितं यतीन्द्रः ॥ ८९ ॥

श्री नारायणपुरी में कल्याण नामक सुन्दर जलाशय के किनारे संपत्कुमार नामक भगवान् का प्राकट्य करके उन्हें वहीं पर स्थापित किया था और उनके सेवार्थं 52 शिष्यों को स्थापित किया ॥ ८९ ॥

श्री नारायण नगरोषिता यतीन्दोः
प्रस्थानोत्सुकमानसो मुकुन्दभक्ताः ॥
कृत्वाऽर्चाकृतिमुरु शक्ति मर्चयन्तः
निन्यु स्तद् विरहरुजं यथाकथंचित् ॥ ९० ॥

श्री नारायणपुर के रहनेवाले भगवान् के भक्त जाने के लिये अभिलाषा करनेवाले यतिराज की परम शक्तिशालिनी मूर्ति का निर्माण करके उसको पूजते हुए जैसे तैसे यतिराज के विरह दुख को पार किया ॥ ९० ॥

निर्यात स्सपरिजन स्ततोऽञ्जनाद्रेः
मूले श्रीपुरि विनिधाय चोल लुप्तम् ॥
गोविन्दाधिप मथ चित्रकूटनाथं
विष्णूनां खिलभवनान्यतिष्ठिपत्सः ॥ ९१ ॥

श्री यतिराज वहां से चलकर अपने अनुयायियों के साथ अंजन गिरि (श्री वेंकटाचल) के मूल में श्रीपुर (तिरुपति) नगर में चोल के लुप्त किये हुए गोविन्दराज भगवान् और चित्रकूट नाथ (श्री गोविंदराज) को स्थापित करके पीछे अन्य अन्य भगवानों को भी जहां का तहां पधराया ।। ९१ ।।

श्रीरंगं पुन रधिजग्मुषः प्रवाचः
भद्राशासन करणेषु रंगराजः ।
अभ्यर्णे यतितिलकस्य कूरनाथं
दृष्ट्वा तं किमपि वचोऽवदद् दयालुः ।। ९२ ।।

जब श्री रामानुजाचार्य श्रीरंग फिर पहुंच गये और भगवान् का मंगलाशासन करने लगे, उस समय श्री दयालु श्री रंगराज भगवान् ने श्री रामानुजाचार्य के समीप कूरेश स्वामी को खड़ा देखकर कुछ कहा ।। ९२ ।।

कूरेश ! त्वदभिमतं वरं वृणीष्वे-
त्याख्यातः परमपदं ततस्स वव्रे ।
तत्पश्चादिति जगदे हरिस्स रामो
नो वक्ति द्विरिति वदंस्तदाप तस्मात् ।। ९३ ।।

श्री रंगनाथ भगवान् के यों कहने पर कि, 'हे कूरेश ! अपने इष्ट वर माँगो' उन्होंने उनसे परमपद माँगा । भगवान् ने कहा कि वह तो (परमपद तो) बाद में मिलेगा ही । यह सुनकर श्री कूरेश ने भगवान् को अपने (रामावतार के) इस वचन की याद दिलाकर कि "रामो द्विर्नाभिभाषते" (माने श्री राम दो बोली नहीं बोलेगा, माने अपनी बात को नहीं पलटेगा) उनसे वह वर पा ही लिया । [अर्थात् श्री कूरेश स्वामीजी ने भगवान् से कहा कि 'प्रभो ! आप तो प्रसिद्ध सत्यवादी हैं; अतः मुझे वर देने का वचन देकर फिर उसका इनकार नहीं कर सकते । यह सुनकर भगवान् ने अवशात् उन्हें परमपद दे दिया] ।। ९३ ।।

रङ्गेशः परमपदोपलब्धिचिह्नं
दत्वाऽन्नं बहुमतिवस्तु कूरभर्त्रे ।
तत्सूनुं स्वसुतमथान्निशाम्बुपानात्
सश्रीकः श्रुतिगुरुभट्ट नामधेयम् ।। ९४ ।।

श्री रंगनाथ भगवान् ने श्री कूरेशस्वामीजी को परमपद प्राप्ति के चिह्न महाप्रसाद आदि बहुमान देकर स्वयं लक्ष्मीजी के साथ उनके पुत्र श्री पराशर भट्ट को, तीर्थप्राशन पूर्वक अपने पुत्र बनाया। (श्री पराशर भट्ट को भगवान् ने लक्ष्मीजी के साथ सविधि अपने दत्तक पुत्र बनाया) ।। ९४ ।।

इत्थं प्राप्ते सपदि परमव्योम शिष्याग्रगण्ये
कूराधीशे निगमशिखरव्याक्रियालम्पटत्वम् ।
शिष्यस्तोमे श्रुतिगुरुमुखे रङ्गिकार्येण साकं
विन्यस्योच्चैः परमपदमथारोढुमैच्छद्यतीन्द्रः ।। ९५ ।।

इस प्रकार शिष्य श्रेष्ठ श्री कूरेश स्वामीजी के तुरंत परमपद जाने पर, यतिराज श्री रामानुजाचार्य स्वामीजी ने वेदांतार्थ प्रचार तथा श्री रंगनाथ भगवान् के सविधि आराधन कार्य को श्री पराशर भट्टादि शिष्यों के अधीन रखकर (माने उन्हें धर्म प्रचार तथा भगवदाराधन कार्य को ठीक ठीक सम्हालने की आज्ञा देकर) स्वयं परमपद जाना चाहा ।। ९५ ।।

कासारादिम दिव्यसूरिकृतसत्सोपानबद्धान्वय
श्रीमन्त्रोभय पार्श्वदण्डघटितां श्री भाष्यकीलस्थिराम् ।
निश्रेणीं निखिलो जनश्च परमव्योमस्थली प्रापिकां
स्वस्वाचार्यनिरूपिताध्ववशतः प्राप्याधिरोहेत् सदा ।।

"सभी लोग अपने अपने आचार्य के प्रदर्शित मार्ग से चलकर परमपद पहूंचानेवाली इस निस्सेणी को चढ जायें, जो श्री सरोयोगी

इत्यादि समस्त आळवारों की कृत सोपान पक्तिवाली है, दोनों पार्श्व में श्रीमंत्र नामक दंडवाली है और श्री भाष्यरूप कीली में सुदृढ स्थापित है।" ॥ ९६ ॥

इत्याशास्य सरश्शठान्तकमुखश्रीदिव्यसूर्याकृती-
रर्चास्स्वस्य च तत्प्रबन्धनिवहैस्सार्धं प्रतिष्ठाप्य सः ।
श्रीरङ्गादिमधामसु स्वयमभूत् श्रीदिव्यसूरिव्रजैः
तैस्साकं परमं पदं जिगमिषू रामानुजाख्यो मुनिः ॥

श्री रामानुजाचार्य स्वामीजी समस्त जनता को पूर्वोक्त आदेश देकर, श्रीरंगादि दिव्य देशों में सरोयोगि, श्री शठकोप सूरि इत्यादि दिव्यसूरियों के विरचित दिव्य प्रवंधों की, उनके श्रीविग्रह के साथ स्थापित करके, साथ अपने श्रीविग्रह की भी स्थापना करके (इस प्रकार अपने अवतारकृत्यों के समाप्त होने से) स्वयं परमपद जाने की तीव्र आशा से युत हों, विराजमान रहे ॥ ९७ ॥

इति श्री काश्यपकुलतिलकस्य रङ्गाधिपारोग्यशालावल्लभस्य
कविवैद्यपुरन्दरनामधेयस्य गरुडवाहनपण्डितस्य कृतौ
दिव्यसूरिचरिते अष्टादशस्सर्गः ।

श्री काश्यपगोत्रज, श्री रंगनाथ भगवान् की आरोग्यशाला के अध्यक्ष
कविवैद्यमहेंद्र बिरुदधारी श्री गरुडवाहन विद्वान के विरचित
दिव्यसूरिचरित का अठारहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

———

ADDENDUM – परिशिष्टम्

(अयं अधिको भागः चेन्नपुरीस्थ प्राच्यहस्तलिपिग्रन्थागारे तालपत्रात्मिकायां R. 12545 संख्याक मातृकायां उपलभ्यते)

एकोनविंशः सर्गः

अथान्तेवासिनां वर्यो वाधूलकुल भूषणः ।
अस्तौ द्वाशरथिश्चित्रवन्धैरेव यतीश्वरम् ॥ १ ॥

विचित्रविभवोद्यन्तं चक्राङ्कित यशःश्रियम् ।
रामानुजं बन्धमुक्ति विनिर्गमहितं भजे ॥ २ ॥

का लोकमोहिता नित्यं किं सम्वन्धिनिमेषिका ।
पत्युः प्रियं कोनुवर्ति ज्येष्ठ को वासवो वतात् ॥ ३ ॥

रामानुजः, वसत जातिः

का प्रार्थ्या का जनैर्वन्द्या केन ज्येष्ठोहि पूज्यते ।
केन वैष्णवसिद्धान्तः स्थापितोऽस्तु स भूतये ॥ ४ ॥

रामानुजं, मनव्यंस्तसमस्तजातिः

कान्ता कटिष्ठमुनयः कथा वाच्या विचक्षणैः ।
वेदान्तः संस्थिरः कस्य धिया तस्यास्तु मङ्गलम् ॥ ५ ॥

रामानुजयतिनः, द्विस्समस्तजातिः

राघवावरजादित्य सम्बोधनपदं कथम् ।
कान्ताचित्यच केनाग्र्यः पूज्यः केना श्रुतिः स्थिरा ॥ ६ ॥

रामानुजेन, द्विव्यस्तसमस्तजातिः

नर्मोक्तिः क्रियते केन केन धूताः कुदृष्टयः ।
का मृग्या किं निषेधोक्तौ पतङ्गेन ततोऽग्रजः ॥ ७ ॥

रामानुजेन, द्विसमस्तव्यस्तजातिः

केष्टा किमव्ययं वार्थे वीरः किं कुरुते रिपून् ।
कश्चिन्त्यो भाष्यकारः को रामानुजयतीश्वरः ॥ ८ ॥

व्यस्तसमस्तान्तर्लापि जातिः

यातीमणयशश्शब्दः केन रामानुजाह्वयः ।
येन निन्दति वा कान्ता वसन्तेन्दुमनोभवान् ॥ ९ ॥

रमणविरहेण, वर्णापहारान्तर्लापि जातिः

मायावी मेघनादश्च पापात्मा केन निर्जितः ।
तादृक्पाषण्डषण्डश्च जितः केन महात्मना ॥ १० ॥

रामानुजेन, एकालापजातिः

वीक्ष्य रामानुजं साक्षाज्जनदोषानुषङ्गिणः ।
पलायन्ते भृशं त्रस्ताः कुतः श्रुत्यन्तगोचराः ॥ ११ ॥

समितितः । ओजस्विजातिः

गुरुशुश्रूषणरतस्सुमित्रानन्दवर्धनः ।
यतीन्द्रत्वमिवाभाति कोवापनपरायणः ॥ १२ ॥

रामानुजः । श्लिष्टोपमालङ्कारजातिः

पद्मालया कासा विष्णौ कुत्रस्था द्रौपदी भृशम् ।
कस्माच्छोकपरीता स्याद्रामानुजयतिः कथम् ॥ १३ ॥

श्रीरङ्गस्थापनरतः । सकौतुकजातिः

को महीं शास्ति तन्मूर्ध्ना का धार्या तस्य कार्थिभिः ।
कृताऽऽजौ तेन को मृग्यो थाक्षरसंह्वयः ॥ १४ ॥

राजा-माला-नुतिः-जयः । आदिवर्णोत्तरबहिर्लापिजातिः

स्वर्गस्थाः के मूर्ति का सामुद्रिकवर्णितम् ।
बाहुमानङ्कयल्लक्ष्मी किं भजेत्कं गतो त्रयीम् ॥ १५ ॥

अमराः-सुषमा-आजानु-पङ्कजम् । अन्त्यवर्णोत्तरबहिर्लोपिजातिः

शाक्यादीन्समयानन्यान् कः स्वनीत्या निराकरोत् ।
वाह्यानुहन्मापि स कथं तदन्यकरः पुनः ॥ १६ ॥
यतिराजः । भग्नोत्तरबहिर्लापिजातिः

कुबेरगुप्ता का विष्णोः पतिका किं भिदापदम् ।
उद्घावह्निच यात्वा नदी वर्णः कः को यतीश्वरः ॥ १७ ॥
रामानुजः, वर्णोत्तर बहिर्लापिजातिः

सम्वोधनं किं सौमित्रेः कः पद्मसुहृदुच्यते ।
कस्मै वृहयते धर्मः कः किं कुर्याद्भुवार्तये ॥ १८ ॥
लक्ष्मणार्यामाकलयोद्यात्सोत्तर बहिर्लापिजातिः

वैवस्वतं कथं प्राहुरिन्द्रजिद्धातिनश्च का ।
प्रलम्वघ्नश्च कं भूपादानं कस्मिमस्म रञ्जकम् ॥ १९ ॥

यामुनेयकृपापूरवाराकर सुधाकरम् ।
किं किं सृजद्धनुः कां श्रावयन्तिच का मुनेः ॥ २० ॥
मुंनिगिरिमर्थिनः । मुरं नीरं शरं गिरं । आद्यन्तवन्धान्तर्लापिजातिः

धवप्रियं का निरोध प्रश्नयोः के पदे वद ।
को ज्येष्ठसेवी नियतमात्मान्वाम्नायवित्तु कः ॥ २१ ॥
शृङ्खला पद्धतिजातिः

को प्राप्यः प्राणिनां कल्पे के वन्द्याः कति वा ग्रहाः ।
दृष्टवा कं लज्जते वश्शृन्दः कमुश द्वदीश्वरम् ॥ २२ ॥
आर्तावतारम् । एकान्तरित शृङ्खलाबन्धजातिः

शाक्यादिनानाराद्धान्त निराकृतिचणाशयः ।
त्र्य्यन्तनिष्णात कृति र्यतिराजस्सदाजय ॥ २३ ॥
इति रोषजातिः

पिभृत् भवोर्मिभृत् भिदुरोरु स्वरूभ्रमम् ।
ब्रह्मवित्सुमनोब्जा को भातुमुत्सवोद्भुवि ? ॥ २४ ॥

ओष्ठ्यजातिः

यस्तु प्रियाकाततपृतेर्दत्वा वर्णद्वयं पुनः ।
षाषण्डषण्डवेतण्ड चण्ड कण्ठीरवस्तु कः ॥ २५ ॥

अन्त्यवर्धमानाक्षरजातिः

कस्त्रिदण्डी जगद्वन्द्यः किं सम्बन्धी पराक्रमः ।
को ज्येष्ठसेवी कः प्रश्ने वर्गा ममध्यमोत्तरः ॥ २६ ॥

रामानुजः । ह्रियमाणाक्षरजातिः

सर्वपदवाक्या सद्भावार्थपरायणा ।
तरुणी किं नहि नहि यतिराजस्य वागियम् ॥ २७ ॥

अपह्नुतिजातिः

सर्वज्ञजनविध्वंसि दोषज्ञोव दण्डधृत् ।
पूर्वसबं परित्यागी द्विधा रामानुजोऽवदत् ॥ २८ ॥

स्तुतिनिन्दाजातिः

गुरुशुश्रूषणविश्रौ जागरूको दिवानिशम् ।
श्रीमान्रामानुजो जीयात् सुमित्राह्लादकारकः ॥ २९ ॥

द्व्यर्थजातिः

विद्युद्दीप्ताम्बरे जिष्णुश्चापदण्डधरोद्धत ।
कारुण्रसदः कालमेघः कं पूजितो भुवि ॥ ३० ॥

रामानुजः । प्रहेलिकाजातिः

धानुष्कैर्बध्यते यं सोषिते कामुके......।
रामानुजेन क्वजाता बन्धून् सदसि नात्यजत् ॥ ३१ ॥

दाशरथिः । दत्ताक्षरजातिः

रामानुज यतीन्द्रस्य कीर्तिं संश्रृण्वतां सताम् ।
मनोज्ञमधुराचारादीक्ष सर्वासु सर्वदा ।। ३२ ।।

अर्थत्रयावञ्चकजातिः

अशेषतोषिणे शेषशेमुषी मोक्षपोषिणी ।
रामानुजार्यधीरस्य महीतापत्रयीशिखाम् ।। ३३ ।।

धीरापत् । कर्तृक्रियावञ्चकजातिः

मारात्रनुमनोवृत्ति कृपावात्सल्य जन्मभूः ।
राजोमयातु भङ्गैषि पायद्रामानुजोऽभवत् ।। ३४ ।।

गूढपादजातिः

सवत प्रभावशारवत्रणसासपुण्यजनवर्धनः ।
भजन्रामानुजःपायात्तामिहोरङ्गवासिनाम् ।। ३५ ।।

बिन्दुमतीजातिः

रङ्गी साशयसम्प्राप्तवता प्रासं यशसा गिरम् ।
भासते जानुमारा सा सा रामानुजतेजसा ।। ३६ ।।

अनुलोम प्रतिलोमजातिः

नानान्वेनुन्ना ममनुमानोन्नमनना मम ।
नमामि मौनिनं मानन्मुनिनामेनमुन्मनाः ।। ३७ ।।

द्व्यक्षरजातिः

तत्ततत्तत्तेति ततातीत तात ततेतिकृत् ।
तान्ततान्तो ततान्तां हृतिन्ते तत्ति तान्ततः ।। ३८ ।।

एकाक्षरजातिः

रामानुजा जानुमारा मारादाऽरदारमाः ।
नुदाधिका काधिदानु जारकाममकारजाः ।। ३९ ।।

सर्वतो गद्यचक्रम्

त्वया रामानुजा सन्ता श्रीरङ्गजनवासिनाम् ।
माया प्रमादजानन्या ना भगवज्जय पददिना ॥ ४० ॥

गोमूत्रिकाबन्धचक्रम्

यामुनेय दयाम्भोधे मुने ते मलमात्रभोः ।
नेतेदिरेशोहमधा यमरेख धशोलद ॥ ४१ ॥

अर्धभ्रमकम्

यतिराजगिरा मग्ना मतिराजरामका ।
कामराजं परायत्ता सोमराजगिरा यथा ॥ ४२ ॥

मुरजबन्धः

रागद्वेषमतो भानुमारक्षित जगत्प्रजम् ।
जम्भारि घोरास आह निम्मधिगोत्रनुतिस्तुवे ॥ ४३ ॥

रामानुजं सुदर्शनबन्धचक्रम्

रामपादरतप्रेमा मायितेनुननोद्वयः ।
निजन्मामयं प्रीय यत्तेस्सोव्यावृतिस्सुरात् ॥ ४४ ॥

पाञ्चजन्यबन्धः

मुषितानि मायामानि मुदगानि निजात्मनि ।
निगमोक्त्या तया पाप निमामवत्सक्तपम् ॥ ४५ ॥

मुनिचप कौमोदकी गदाबन्धः

सद्गुणौकारचापेऽद्य प्रत्याबाण स्पृशत्यरम् ।
रङ्गिसक्तं भजेनान्यसक्तं भर्तारमुद्यमैः ॥ ४६ ॥

शार्ङ्गधनुर्बन्धः

रामानुजं यतिं दृष्ट्वा यः पुरारागतोऽस्थिना ।
क्षिपन्तं तं स्वराद्धान्तवेदान्तोक्तमहागिरा ॥ ४७ ॥

राजन्तं सम...ध्रुरां राजलक्ष्मीं राजमाया वामादत्ता
भगवज्जयवादिना । तन्तन्तमतामुन्नतासुराः ॥ ४८ ॥

नन्दक खड्गबन्धः

मम यशसा यातं ममताशमनोद्यममन्ये त्वा ।
द्यमयाब्धिराट् । खड्गवन्धः ॥
नामानामपि मामास्त्विवत्यनुजाद्यनुजीवितत् ।
नलमायि प्रजश्शान्तश्रौतानुष्ठानकृद्द्विजः । रामानुजः ॥ ४९ ॥

छुरिकाबन्धः

त्रियामया रचिवृत्ति त्रिगुणाजाश्रियोऽर्थदा ।
त्रिद्यात्मन् ते चण्डत्रिदण्डस्ते मतोऽपिच ॥ ५१ ॥

त्रिदण्डबन्धः

रामानुजाचार्यमुने नेतकायं च जुषां सताम् ।
दामोदरं दयोद्योत तव दासोर्मिहृद्गुरुम् ॥ ५२ ॥

काषायवसने मद्योजाचामो मारहृत्स्मृतः ।
सोदर्यदारानुदयो जुषेदं मदंगिरा ॥ ५३ ॥

गूढश्लोकाषायबन्धः

श्रीमान् रामानुजमुनिः श्रीशपादार्पिताशयः ।
नित्योर्ध्वपुण्ड्रविमलः शमश्रीनिवतः पुमान् ॥ ५४ ॥

गूढपादोर्ध्वपुण्ड्रबन्धनम्

राद्धेतं विविधातीत तत्साधननरानतु ।
कायः पततमामेत तत्वमेततमित्यजम् ॥ ५५ ॥

स्वस्तिकबन्धनम्

श्रुतिनीतिगतिज्योतिमितिरीति कृतीप्रति ।
यतिजाति पतिर्भाति रतिभूति हृतिस्थिति ॥ ५६ ॥

दलवर्णादि पद्मबन्धनम्

यामायते यत्तयदीयस्ते यष्टुयतेद्धनम् ।
यमयन्तमनोयच्छेद्यत्सोयति यशोधनम् ।। ५७ ।।

कर्णिकावर्णादि पद्मबन्धनम्

यशसा विमलायाथ मालापहरातियः ।
यतिराज नमोमेधद्यमेमोघ रसाश्रयम् ।। ५८ ।।

त्रिभिप्रतिलोमचक्रम्

शमेमेशशरीरिशब्दाः तारावावश ।
निशब्दाब्दाशशय्याशशलाक्षाशर्शदिद्वश ।। ५९ ।।

विकचसङ्कोच पद्मबन्धम्

रागबाधा तमोनुद्धज्ञानादि निधिमाश्रये ।
यमादिशक्यधीराजद्वेदान्त विजयी भव ।। ६० ।।

उभयवेदान्ति मकुटबन्धनम्

रामा मानुषि नुन्नानुज बन्धुजनात्मजा ।
यमादिनियताचारा यतिमान्यासुखा गतिः ।। ६१ ।।

स्फुरन्मति परिच्छन्त श्रुतिपक्षार्थं भाष्यकृत् ।
पूते मुनीनामाकल्पं तेजसः शुभमस्तु ते ।। ६२ ।।

रामानुजयतिपते उत्तरवाक्यं पङ्क्तिमकुटबन्धनम्

वेदभावमधप्रियभाष्यया वन्द्यवन्दित वैष्णव मानुषः ।
कोकने यमिनां वरवैभवैः यामुनेयस्य माहिनते समः ।। ६३ ।।

हृद्यश्रीरभिनवरङ्गिचरणाम्भोजद्वयको... ।
श्रुत्याभाषितमान्यवागवनयेहामुत्रानिक्याधीः ।।
सच्छिष्यभ्रमनुद्यतीन्द्रचतुरो गंदूधृताङ्गस्सदा ।
दान्तोऽसौ श्रुतिविश्रुतोलसतिमेगीतार्थधीस्सर्वदा ।। ६४ ।।

शतमहाचक्रम् श्रीभाष्यकारको रामानुजमुनिः
उत्तरवाक्यम

इत्थंदाशरथिः स्तुत्वा प्रपित्सुः परमं पदम् ।
रामानुजमुनिं प्राह भक्त्या शिष्यजनावृतम् ॥ ६५ ॥

वेदान्तद्रमिडाम्नाय दर्शनानां प्रवर्तकः ।
उत्पत्स्यन्ते परं केन यमिनां वर वैभवैः ॥ ६५ ॥

यामुनेयस्यमहात्म्यं ... ... ।
नाः के सुरेषु वा ॥ ६६ ॥

इत्युक्तो दाशरथिना तमुवाच यतीश्वरः ।
वर्तमानेषु शिष्येषु भवान् कूरेश्वरात्मजः ॥ ६७ ॥

कुरुकेशश्च मुख्यः स्याद्वेदान्ते द्रमिडागमे ।
कूरेशस्यत्वतेवंश्या नित्यं दर्शनधूर्वहाः ॥ ६८ ॥

वेदार्थव्याससूत्रबोधायनसुवृत्तिमत् ।
भाष्यं मदुक्तं व्याख्यातुं पारम्पर्याः प्रवर्तकः ॥ ६९ ॥

भविष्यन्ति प्रथाभूमौ प्रथमं कुरुकेश्वरः ।
तत्र श्रीविष्णुचित्तार्यः ततो वरददेशिकः ॥ ७० ॥

वादि हंसाम्बुदस्तस्मात्ततः श्रीवेङ्कटदेशिकः ।
कवितार्किकसिंहाख्यः ततः श्रीविष्णुयोगिराट् ॥ ७१ ॥

वाधूलवंशश्रीदेवराजो यो वरदस्ततः ।
तस्माच्छ्रीगोपुराधीश श्रीनिवास्ततः सुधीः ॥ ७२ ॥

तत्सुतो वरदः श्रीमान् तत्तज्जातः ततःपरम् ।
पारम्पर्यादविच्छिन्नं व्याक्रियासुर्जगद्धितम् ॥ ७३ ॥

एतेषां शिष्यसन्तानोपदेशद्वारतो जना. ।
मनीषिणस्सुचरिता भूयासुस्तत्वदर्शिनः ॥ ७४ ॥

जगद्धिताय श्रीशेन चोदितः श्रीपराङ्कुशः ।
यः प्राह द्रामिडाम्नायं नाथयोगिं ततोऽग्रहीत् ॥ ७५ ॥

तत्र श्रीपुण्डरीकाक्षः ततः श्रीरामदेशिकः ।
ततः श्रीयामुनाचार्यस्ततो मालाधरो गुरुः ॥ ७६ ॥

तस्मादहमवाप्तं तद्यूद्यूर्ध्वं कुरुकेश्वरः ।
गोविन्दकुरुकाधीशः ततः कूराधिपस्ततः ॥ ७७ ॥

भट्टाचार्यस्ततावेद चूडयोगीश्वरस्ततः ।
लोकाचार्यस्ततः कृष्णमिश्रौ श्रीवासवस्ततः ॥ ७८ ॥

तस्माच्छ्रीपद्मनाभार्यस्ततो लोकेश्वरस्ततः ।
देवाधिप गुरुस्तस्मात् कुन्तीनगरजन्मभूः ॥ ७९ ॥

श्रीशैलेन्द्रगुरुस्तस्मात् श्रीमान् सौम्यवरो मुनिः ।
तस्मात्सौम्यवराधीशमुनिवर्यान्मदंशजात् ॥ ८० ॥

श्रीमद्वधूलवरद नारायणगुरुश्च सः ।
तत्सूनुः श्रीनिवासश्च पौत्रो रम्यवरो मुनेः ॥ ८१ ॥

अभिरामवरात्तस्मात् श्रीगोपुरपतिर्गुरुः ।
श्रीनिवास सुतस्तस्मात् श्रीमद्वरददेशिकः ॥ ८२ ॥

तत्सूनुः श्रीनिवासश्च श्रीमद्गरुडवाहनः ।
ततः प्राप्य जगद्बोधतनुना तत्वनिर्णये ॥ ८३ ॥

श्रीमान् श्रीरङ्गगरुड वाहाख्यो ग्रहिः ।
सरः प्रभृति सूरीणामवदत्तं सविस्तरम् ॥ ८४ ॥

सर्वलोकोपकाराय काव्यरूपेण वक्ष्यति ।
मदनुग्रहतो वंशस्त्वदीयः परितो भुवि ॥ ८५ ॥

द्राविडाम्नाय वेदान्त भाष्यतत्वोपदेशतः ।
लोकान् कृतार्थयिष्यन्ति कलिदोषवशंवदान् ॥ ८६ ॥

इत्युक्त्वा दाशरथये रङ्गधाम्नो विसर्जितः ।
रामानुजमुनिः प्राप्तुं परमं परमुद्यतः ॥ ८७ ॥

हरिशङ्खगदाद्यंशाः सरोभूतमहाह्वयाः ।
योगिनोदेहलीशाग्रे मुक्तिं गोपपुरे ययुः ॥ ८८ ॥

भक्तिसारश्चक्ररूपी वह्मरन्ध्रो.............. ।
........विष्णोः प्रापपरांगतिम् ॥ ८९ ॥

मधुरेण कवीन्द्रेण पुरुषांशेन संयुतः ।
विष्वक्सेनांश सम्भूतः कुरुकायां पराङ्कुशः ॥ ९० ॥

विद्यावे ... ... विना ।
अग्रेरङ्गचादि विष्णूनां प्रांदे परमं पदम् ॥ ९१ ॥

कुक्कुटाख्यपुरे रङ्गिसेवोत्को वैष्णवप्रियः ।
कौस्तुभांशोमहा ... ... कुलशेखरः ॥ ९२ ॥

शृण्वन् रामायणं गोष्ठ्यां हृता सीतेति रक्षसा ।
तद्वाक्य ए तीर्णाब्धिमहरिवक्ष्यस्य दृश्यत ॥ ९३ ॥

रङ्गेशस्य गुरुर्विष्णुचित्तो ... ... ।
तार्क्ष्यांशो वटधामस्तु मुक्तिं धन्विपुरे पुरा ॥ ९४ ॥

रमांशो निचुलावल्ली गोदा भूम्यंशजापि च ।
निचुलांशा चोलतिलका तिस्रो रङ्गचङ्गसङ्गताः ॥ ९५ ॥

श्रीवल्लभाह्वयन्द्याच पाण्डांशो मधुरापुरे ।
विष्णुचित्तविदात्वतः तत्वविद्दिव मासदत् ॥ ९६ ॥

चोलेन्द्रो निचुलावल्लीजनको निचुलापुरे ।
प्रचण्डांशभवो रङ्गिश्वश्रुरोऽगात्परं पदम् ॥ ९७ ॥.

वनमालांशजो भक्तपादरेणुः परं पदम् ।
श्रीरङ्गेऽगाद्देवदेवा हरिचामरयोषिता ॥ ९८ ॥

शुकांशो लोकसारङ्गमुनिस्कन्धासिकोऽभवत् ।
श्रीवत्सांशप्राण ......सूरिहृदयङ्गमः ॥ ९९ ॥

पामाणक्षेत्र पूर्णाख्यमुकुन्दे क्षणगोचरः ।
शास्मशात्माकलिजिन्मुक्तो ङस्तगतोऽभवत् ॥ १०० ॥

श्रद्धाकुमुदवल्याख्या परकालविबोधिनी ।
दिव्याङ्गनावैद्यचक्रवर्ती पित्रह्णमद्दिवम् ॥ १०१ ॥

विष्णुचित्तप्रिया विष्णुचेद्दिव्या विमलादिवम् ।
गोदाश्चात्मनस्सख्या प्रपोदेनुग्रहाख्यया ॥ १०२ ॥

कृष्णीकृष्णसुभद्रांशो भक्तिसारयदानतम् ।
प्रपेदे परमं धाम हरि ... ति परायणः ॥ १०३ ॥

विष्वक्सेनाद्य भृत्येभमुखांशो नाथयोगिराट् ।
वीरनारायणे मुक्तोऽभवद्योगस्थितो मुदा ॥ १०४ ॥

मुनीश्वरनाम भून्मुन्नस्तत्र तदात्मजः ।
पृश्निगर्भांशसम्भूतो योगाधिष्ठितमानसः ॥ १०५ ॥

जयत्सेनांशजः श्रीमत्पुण्डरीकेक्षणो बुधः ।
श्रीरङ्गेनाथयोगीन्द्र च्छात्रो मुक्तिमुपागमत् ॥ १०६ ॥

नाथयोगीन्द्रशि ... ... कुरुकाधिपम् ।
गङ्गानगर (गरण) पूरं ते योगेन परमं पदम् ॥ १०७

कुमुदाक्षस्य सम्भूतो राममिश्रः परं पदम् ।
(कुमुदाक्षांशसम्भूतो)
पुण्डरीकाक्षसच्छिष्यो रङ्गक्षेत्रे समाददन् ॥ १०८ ॥
पौत्रो नाथमुनेः श्रीमान्यामुनेयो [महामनाः] ।

———

श्रीदिव्यसूरिचरितस्थश्लोकानां मातृकावर्णक्रमेणानुक्रमणी

———

शुद्धिपत्रिका

अशुद्धिः	शुद्धिः	श्लोकः	पृष्ठम्
रागादिदोषरिक्तनां	रागादिदोषरिक्तानां	१०	३
मुकुन्दवाच्यत्वमगाद्यन	मुकुन्दवाच्यत्वमगाद्येन	१७	५
कत्पयाम्यहम्	कल्पयाम्यहम्	८२	१९
अज्ञापिता	आज्ञापिता	२९	३०
भोगशायितम्	भोगशायिनम्	३४	४९
प्रतिवीधि	प्रतिवीथि	५०	५३
कश्रित्	कश्चित्	५२	६८
अनग्रह	अनुग्रह	५५	६८
मघुरसुघी	मधुरसुधी	८९	७६
अस्त्यद्भूता	अस्त्यद्भुता	१	७७
कुञ्जरेद्राः	कुञ्जरेन्द्राः	७	७८
संक्रन्तं	संक्रान्तं	४१	१०५
व्रभूव	वभूव	६८	११३
नगरीयः	नगरीतः	७४	१३४
स्फोत	स्फीत	६१	१५२
प्रतिभावराजतां	प्रतिमावराजतां	५४	१६९
योगनिद्रया	योगमुद्रया	३०	१७६
पूच्छति	पृच्छति	७०	१८४
निघृण	निर्घृण	२५	१९३
पाञ्जन्य	पाञ्चजन्य	३३	१९५
मिहत्य	भिहत्य	३९	१९६
मनाभुवः	मनोभुवः	५०	१९९
तद्भ्रूलता	तद्भ्रूलता	२७	२१०
अभिवाच्छसि	अभिवाञ्छसि	९१	२३०
वह्न	वह्ने	१९	२४४
विधूतखण्डेन	विधूतखड्गेन	९४	२६२
इदमामन्त्युपरि	इदमामनन्त्युपरि	४१	२७९

अशुद्धिः	शुद्धिः	श्लोकः	पुटम्
नगर्री	नगरीं	५२	२८१
मेहमणौ	गेहमणौ	७७	२८७
मकुटाक्रृति	मुकुटाकृतिं	९६	२९१
अवरोधेः	अवरोधैः	५	२९५
मरुद्वधा	मरुद्वृधा	३२	३०१
झडिति	झटिति	३८	३०२
बिलंघि	विलन्वि	५०	३०५
अम्बुजानां	अम्बुदानां	६४	३०९
विक्लबेव	विक्लवेव	८८	३१५
रचिर्ता	रचित	११४	३२१
अथर	अधर	१२५	३२४
द्विजेष्वीश्वर	द्विजेष्वीश्वर	५	३३२
अयेश्वराख्यो	अथेश्वराख्यो	८	३३२
तत्मननं	तन्मननं	२०	३३५
प्राणनाम	प्रणनाम	२८	३३७
अयेश्वरात्	अथेश्वरात्	४४	३४०
निर्वापण	निर्यापण	४९	३४२
अर्धं	अर्धम्	५५	३४३
नादिक्ष	नादिक्ष	६९	३४७
सोऽ चरमस्यर्थं	सोऽर्थं चरमस्य	७८	३४९
महत्मा	महात्मा	७९	३४९
ते शेवर्धि	तं शेवधिं	७९	३४९
प्रमाण्य	प्रामाण्य	८३	३५०
पश्चान्निभृतं	पश्चान्निभृतं	८८	३५१
दयाद्रैः	दयार्द्रैः	१५	३५९
उद्दाभं	उद्दामं	३१	३६४
नुतिमणिजं	श्रुतिमणिजं	३६	३६५
यतिवदि	यतिवादि	५५	४०१
विघिना	विधिना	५८	४०२
संकलघ्य	संकलय्य	६५	४०४
पवमाक्षोत्साम्यां	पद्माक्षोत्साभ्यां	६८	४०५